बिहारी की सतसई

लेखक
पं. पद्मसिंह शर्मा

ज्ञानमण्डल
काशी

विहारीकी सतसई

*　　*　　*

तंत्री-नाद कवित्तरस सरसराग रतिरंग
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग
—विहारी।

*　　*　　*

पण्डित पद्मसिंहशर्म्मा

विहारीकी सतसई

पहला भाग

जिसमें भाष्यकी भूमिकारूप तुलनात्मक आलोचना सतसईका सौष्ठव और सतसई-संहार सम्मिलित हैं।

लेखक

पण्डित पद्मसिंहशर्म्मा

* * *

तंत्री-नाद कवित्त-रस सरस राग रतिरंग
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग

—विहारी।

* * *

प्रकाशक

पहला संस्करण } ज्ञानमण्डल काशी { मूल्य २)

१९७५

समर्पणम्

श्रीमत्सु तातपादेषु स्वर्यातेषु समर्प्यते
पद्म-पुष्पाञ्जलिस्तेन प्रीयन्तां पितृदेवताः

समर्पक

पद्मसिंहशर्मा

विषयसूची

१५७ पृष्ठपर शीर्षकमें "विहारीका विरह-वर्णन"की जगह "सतसईका सौष्ठव" भूलसे छप गया है, इसी तरह २२१ तथा २२३ पृष्ठपर 'दोषपरिहार"के स्थानमें 'विहारीका कवित्व और पाण्डित्य' छप गया है। पाठक ठीक करलें।

नोट—(इस पुस्तकमें दोहाङ्क क्रम आज़मशाही क्रमके अनुसार है जिस क्रमपर लल्लूलालजीकी टीका है)

विहारीकी सतसई

वक्तव्य

आज कलके कुछ वैज्ञानिक विद्वानोंका विचार है कि "'कविताका समय गया, वर्तमान युग विज्ञानका और सभ्यताका युग है, सभ्यता कविताकी विघातक है, कवितामें और मैजिक लैन्टर्नमें बहुत कुछ सादृश्य है, जिस प्रकार मैजिक लैन्टर्नका तमाशा अधिक अँधेरेमें ही अच्छा प्रतीत होता है, इसी प्रकार कविताका चमत्कार भी अविद्यान्धकारमें ही खूब चमकता है। कविता एक 'जादू' है, जादूका असर अशिक्षितोंपर ही होता है।" सुशिक्षित और सुसभ्य 'विद्वच्चक्रचूडामणि' महाशयोंका कविताके विषयमें ऐसा ही सिद्धान्त सुननेमें आता है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !"

भगवान् कृष्णका यह वाक्य कविताकी दशापर इस समय पूरी तरह चरितार्थ हो रहा है, अन्यान्य कर्मकलाप तो ज्ञानाग्निकी लपटकी भेंट होनेसे ज्यों त्यों बचा भी है, पर कविता-कर्म विज्ञानाग्निकी प्रचण्ड ज्वालामालामें पड़कर सचमुच ही भस्मसात् हो गया है, विज्ञान-प्रभाकरके प्रखर प्रकाशपुञ्जमें

कवितान्धकार एकदम विलीन हो गया है, इसलिए इस समय उल्लिखित कृष्णवाक्य इस प्रकार पढ़ा जाय तो समुचित होगा—

"ज्ञानाग्निः कविकर्माणि भस्मसात् कुरुते ध्रुवम् ।"

ऐसी दशामें इस विज्ञानयुगमें कविताकी चर्चा चलाना, वैज्ञानिक हृदयोंपर कविताकी छाप बैठाना पत्थरमें जोंक लगाने, शिरीषपुष्पकी नोकसे वज्रमणिमें छेद करनेकी चेष्टा करना है। कविताका युग बीत गया, कविता हो चुकी, अब उसकी चर्चा करना गड़े मुरदे उखाड़ना, बीती बातको रोना है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि हालीने कविताके हालपर आँसू बहाते हुए निराशाजनक स्वरमें कहा है--

"शाइरी मरचुकी अब ज़िन्दा न होगी यारो !
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज़ ।"

यह एक पक्षका कथन है। दूसरा पक्ष कहता है कि नहीं ऐसा नहीं है, कविता कभी मर नहीं सकती, वह अमर है, जबतक मनुष्यके शरीर-यन्त्रमें हृदयका पुर्ज़ा जुड़ा है, उसे स्निग्ध करने, कठोरताके मोरचेसे (ज़ंगसे) बचाने, मृदु मसृणगतिसे चलाते रहनेके लिये कविता-स्नेह नितान्त प्रयोजनीय है, अवश्य अपेक्षित है। जिस दिन मनुष्यसमाज सर्वथा हृदय-हीन हो जायगा, उस दिन कविताकी ज़रूरत भी न रहेगी। मनुष्यताके दो प्रधान अङ्ग हैं, एक मस्तिष्क, दूसरा हृदय विज्ञान मस्तिष्क है तो कविता हृदय, दोनोंके कार्यक्षेत्र—अधिकारसीमा पृथक् पृथक् हैं, मस्तिष्कका पौदा विज्ञानके खादसे बढ़ता और पलता है, हृदयकी कली कविताके प्रकाशसे खिलती है, मस्तिष्कका ढोल विज्ञानके डंकेसे बोलता है, और हृदयकी तन्त्री कविताके तारसे गूँजती है, विज्ञान ग्रीष्म कालका प्रचण्ड बवंडर है और कविता वसन्तकी मलय समीरणका ठंडा झोंका,

विज्ञान प्रचण्डरश्मि दिवाकरका प्रखर प्रकाश है, कविता सुधाकरकी दुःखसन्तापहारिणी शीतल ज्योत्स्ना ।

जब विज्ञानका बाज़ार नहीं लगा था तब भी कविताकी हाट खुली थी, इस विश्वप्रपञ्चका निर्माता स्वयं 'महाकवि' है, 'विज्ञान' नामसे एकाध बार उसका परिचय दिया गया है तो 'कवि' कहकर उसे बार बार पुकारा गया है, किसीने क्या खूब कहा है—

"स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा ।
*ब्रूते तु तावत्कविरित्यभीक्ष्णं
काष्ठा परा सा कविता ततो नः ॥"

दुर्विदग्ध वैज्ञानिकमानीके सिवा कोई सच्चा वैज्ञानिक कविताविरोधी नहीं हो सकता ।

कविताकी उपयोगिताका अपलाप किसी प्रकार सम्भव नहीं है । कविता एक ऐसा चलता जादू है जो सिरपर चढ़-कर बोलता है ।

बहुतसे महापुरुष कविताकी उपयोगिताका स्वीकार तो किसी प्रकार करते हैं, पर शृङ्गार रस उनके निर्मल नेत्रोंमें कुछ खार सा या तेज़ तेज़ाब सा खटकता है, वह शृङ्गारकी रसीली लताको विषैली समझकर कविता-वाटिकासे एकदम जड़से उखाड़ फेंकनेपर तुले खड़े हैं, उनकी शुभ सम्मतिमें शृङ्गार ही सब अनर्थोंकी जड़ है शृङ्गार रसके 'अश्लील' काव्योंने ही संसारमें अनाचार और दुराचारका प्रचार किया है, शृङ्गारके

---

* "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"-"कविं पुराणमनुशासितारम्" इत्यादि शतशः श्रुतियां उच्चैःस्वरसे ईश्वरको 'कवि' कहकर पुकार रही हैं ।

साहित्यका संसारसे यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचारका संचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर संसारके सदाचारी और ब्रह्मचारी बननेमें कुछ भी देर न लगे!

कई महानुभाव तो भारतवर्षकी इस वर्तमान अधोगतिके 'श्रेयका सेहरा' भी शृङ्गारके सिरपर ही बाँधते हैं! उनकी समझमें शृङ्गार रसहीकी मूसलाधार अतिवृष्टिने देशको डुबोकर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है, इस विचारके लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदान्तके विचार-उपनिषदोंमें वर्णित अध्यात्म भावोंके प्रचारने ही देशको अकर्मण्य, पुंस्त्वविहीन और जातिको हीन दीन बनाकर वर्त्तमान दशामें पहुँचाया है! फिर वर्तमान शिक्षाप्रणालीके विरोधियोंकी भी कुछ कमी नहीं है, वह इस शिक्षाको ही सब अनर्थोंकी जननी जानकर धिक्कार रहे हैं, यदि यह पिछले मत ठीक हैं, तो पहला भी ठीक हो सकता है, जब अन्तिमरस (शान्त) संसारकी अशान्तिका कारण हो सकता है तो आदिम (शृङ्गार) भी अनर्थका मूल सही। पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी अपनी जगह सब ठीक हैं—

"गुलहाय्-रंगा रंगसे है ज़ीनते-चमन।
ऐ 'ज़ौक़' इस जहांको है ज़ेब इख़्तलाफ़से॥"

पदार्थ-वैचित्र्यके साथ रुचिवैचित्र्य भी सदासे है और सदा रहेगा। यह विवाद कुछ आजका नहीं, बहुत पुराना है, पहले यहां शृङ्गाररस-प्राधान्य-वादियोंका एक पक्ष था, उसका मत था कि शृङ्गार ही एक रस है, वीर, अद्भुत आदिमें रसकी प्रसिद्धि गतानुगतिकताकी अन्धपरम्परासे योंही होगयी है, इस मतके समर्थनमें सुप्रसिद्ध भोजदेवने

"शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधरने *अपनी "एकावली"के रसप्रकरणमें इस प्रकार किया है—

"राजा तु शृङ्गारमेकमेव 'शृङ्गारप्रकाशे' रसमुररीचकार यथा-

"वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः॥
शृङ्गार-वीर-करुणा-द्भुत-हास्य-रौद्र—
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्त-नाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयन्तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥"

* * *

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था, जो शृङ्गारको एकदम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल शृङ्गारकाही नहीं, शृङ्गार-वर्णनके कारण काव्यरचनाहीका विरोधी था ! उसकी आज्ञा थी—

"*असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्।*"

* * *

अर्थात् असभ्य-अश्लील अर्थका प्रतिपादक होनेके कारण काव्यका उपदेश, काव्यरचना, नहीं करना चाहिए।

इसके उत्तरमें काव्यमीमांसाके आचार्य कविकुलशेखर 'राजशेखर' कहते हैं कि-

---

* विद्याधरका समय १४वीं शताब्दी है, इनकी 'एकावली' पर मल्लि-नाथने टीका की है, मल्लिनाथने 'राजा तु' की व्याख्यामें लिखा है "भोज-राजमतमाह राजा त्विति।"

"*प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः ।*"

* * *

अर्थात् प्रक्रमप्राप्त ऐसे विषय-विशेषका वर्णन अपरिहार्य है, वह होनाही चाहिए, वह काव्यका एक अङ्ग है, प्रकरणमें पड़ी बात कैसे छोड़ी जा सकती है ? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करनेके लिये विवश है। शृङ्गारकी सामग्री तत्सम्बन्धी नाना प्रकारके दृश्य जब जगत्में प्रचुर परिमाणमें सर्वत्र प्रस्तुत हैं, तब कवि उनकी ओरसे आंखें कैसे बन्द करलें ? तद्विषयक वर्णन क्यों न करें ? फिर कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराधके अपराधी हों, यह बात भी तो नहीं, राजशेखर कहते हैं—

"*तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते*"

* * *

इस प्रकारका वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो, श्रुतियोंमें और शास्त्रोंमें भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियां और शास्त्रवचन उद्धृत करके राजशेखरने अपने उक्त मतकी पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनोंके आगे कवियोंके "अश्लील" वर्णन भी लज्जासे मुँह छिपाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो कवियोंपर असभ्यता या अश्लीलताके प्रचारका दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है, कवियोंने अश्लीलताको स्वयं दोष मानकर उससे बचे रहनेका उपदेश दिया है, काव्य-दोषोंमें अश्लीलता एक मुख्य दोष माना गया है, फिर कवि अश्लीलताका उपदेश देनेके लिये काव्यरचना करें यह कैसे माना जा सकता है !

शृङ्गाररसके काव्योंमें परकीयादिका प्रसङ्ग कुरुचिका उत्पादक होनेसे नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंशमें ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनोंसे कविका अभिप्राय समाजको नीतिभ्रष्ट और कुरुचिसम्पन्न बनानेसे नहीं होता, ऐसे प्रसङ्ग पढ़कर धूर्त विटोंकी गूढ लीलाओंके दाव-घातसे परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषयमें सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसङ्गवर्णनका प्रयोजन है। काव्यालंकारके निर्माता रुद्रटने भी यही बात दूसरे ढंगसे कही है—

"नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥"

* * *

रुचिभेद और अवस्थाभेदसे काव्योंके कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियोंको अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्यकी अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती, अधिकारिभेदकी व्यवस्था सब जगह समान है, काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है, कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त संन्यासी भी काव्यके ऐसे प्रसङ्गोंको अवश्य पढ़ें! ऐसे पुरुष काव्यके अधिकारी नहीं हैं। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज़ इनके लिये अच्छी नहीं है वह औरोंके लिये भी अच्छी न हो, इनकी रुचिको सबकी रुचिका आदर्श मानकर संसारका काम कैसे चल सकता है!

काव्योंके विषयकी आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और

गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जबतक चटपटी भाषाका चटखारा सहृदय समाजसे नहीं छूटता जिसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है—सहृदयताके साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तबतक काव्योंका प्रचार रुक नहीं सकता, बड़े बड़े सुरुचि-संचारक प्रचारकों और धार्मिक उपदेशकोंतकको देखा गया है कि श्रोताओंपर अपनी वक्तृताका रंग जमानेके लिये उन्हें भी काव्योंकी लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियोंका बीच बीचमें सहारा लेना ही पड़ता है, अच्छी भाषा पढ़ने सुननेका लोगोंका 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकों-के काव्यविरोध-विषयक प्रयत्नोंको अधिकांशमें निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्योंके पढ़नेवाले अवश्य ही कुरुचिसम्पन्न लोग होते हैं, शृङ्गार रसकी चाशनी चखनेकी स्वाभाविक रुचि ही काव्योंकी ओर पाठकोंको नहीं खींचती, भाषाके माधुर्यकी चाट भी कुछ कम नहीं होती!

चाहे अपने मतसे इसे देशका 'दुर्भाग्य' ही समझिए कि हमारे कवियोंने प्रकाशके देवतासे अन्धकारका काम क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषाका 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषयके वर्णनमें क्यों कर गये? पर जो कर गये सो कर गये, जो होगया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाजकी रुचि ही कुछ वैसी थी. और अब दुबारा ऐसे कवि यहां पैदा होनेसे रहे जो वर्तमान सभ्य समाजकी सुरुचिके अनुसार सामयिक विषयों-का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषामें वर्णन करके मुर्दादिलोंमें जान डाल जायँ, सोते हुओंको जगा जायँ और जागतोंको किसी काममें लगा

जायँ! हमारी भाषाकी बहार बीत गयी, अब कभी ख़त्म न होनेवाली 'ख़िज़ां' के दिन हैं, भाषाके रसिक भौंरे कान देकर सुनें और आंख खोलकर देखें कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सु बीत बहार।
अब अलि! रही गुलाबमें अपत कटीली डार॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषामें नीरस कर्णकटु काव्योंकी आज दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचिका संचार हो चुका! यह सहृदय समाजके हृदयोंमें घर कर चुकी! यह सूखी टहनी साहित्यक्षेत्रमें बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊपनके साथ भाषामें सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीरमें प्राचीन साहित्यके रसका संचार होना अत्यावश्यक है। विषयकी दृष्टिसे न सही भाषाके महत्त्वकी दृष्टिसे भी देखिए तो शृङ्गाररसके प्राचीन काव्योंकी उपयोगिता कुछ कम नहीं है, यदि अपनी भाषाको अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिकासे-जिसे हज़ारों चतुर मालियोंने सैकड़ों वर्षतक दिलके खूनसे सींचा है, सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। कांटोंके डरसे रसिक भौंरा पुष्पोंका प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरन्दके लिये मधुमक्षिकाओंको इस चमनमें आना ही होगा, यदि वह इधरसे मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्यालमें स्वच्छ आकाश-पुष्पोंकी तलाशमें भटकेंगी तो मधुकी एक बूंदसे भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाजकी 'सुरुचि' जब भाषाविज्ञानके लिये उसी प्रकारका विदेशी साहित्य पढ़नेकी आज्ञा खुशीसे दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्यसे उसे ऐसा द्वेष क्यों है? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्यकी रक्षा करे—

"घरसे बैर अपरसे नाता। ऐसी बहू मत देहु विधाता॥"

विहारीकी कविता शृङ्गारमयी कविता है, यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदिके दोहोंका भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रंगमें भी विहारीने जो कुछ कहा है, वह परिमाणमें थोड़ा होनेपर भी भावगाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणोंमें सबसे बढ़ा चढ़ा है, ऐसे वर्णनोंको पढ़ सुनकर बड़े बड़े नीतिधुरन्धर, भक्तशिरोमणि और वीतराग महात्मातक झूमते देखे गये हैं, फिर भी विहारीकी सतसईका मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमें दूसरे रसोंकी चाशनी " मज़ा मुँहका बदलनेके लिये " है। जिस प्रकार संस्कृतकाव्य 'अमरुकशतक' और 'शृङ्गारतिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारोंने भक्ति और वैराग्यकी तिलक छाप लगाकर उन्हें अपने मतकी दीक्षा दे डाली है, इसी प्रकार किसी किसी प्रखरबुद्धि टीकाकारने विहारीसतसईपर भी अपना रंग जमानेकी चेष्टा की है, किसीने उसमेंसे वैद्यकके नुसख़े निकालनेका प्रयत्न किया है, किसीने गहरे अध्यात्म भावोंकी उद्भावना की है ! अस्तु, विहारीसतसई जैसी कुछ है, सहृदय कवितामर्मज्ञोंके सामने है। वह न आध्यात्मिक भावोंके रूपमें परिणत हो सकती है, न सामयिकताके साँचेमें ही ढाली जा सकती है।

विहारीकी कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही गहरी-गूढ़ और गम्भीर है, उसकी चमत्कृति और मनोहरताका प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समयने समाजकी रुचि बदल दी, पर वर्तमान समयके सुरुचिसम्पन्न कविताप्रेमियोंका अनुराग उसपर आजभी वैसा ही बना है, पहले पुराने ख्यालके 'खूसट' उसपर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनीके परवाने भी वैसे ही सौजानसे फ़िदा हैं। उसकी गम्भीरताका अनुमान इसीसे किया जासकता है कि समय

समयपर अनेक कवि विद्वानोंने उसपर पद्यमें, गद्यमें संस्कृत और हिन्दीमें टीका तिलक किये, पर उसकी गम्भीरता अभी वैसी ही बनी है, उसके जौहर पूरी तरह खुलनेमें नहीं आते, गहराईकी थाह नहीं मिलती। पहली टीकाओंसे पाठकोंकी तृप्ति न हुई, नयी टीकाएँ बनीं, फिर भी चाह बनी है कि और बनें।

सतसई और उसके टीकाकारोंको लक्ष्यमें रखकर ही मानो कविने पर्यायसे यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा विहारीकी कविता-कामिनीके अलौकिक लावण्यभरित भाव-सौन्दर्यको यथार्थतया अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं हो सका, सब खाली ख़ाके खींचकर ही रह गये।

जब यह दशा है—साहित्य जगत्के परम प्रवीण प्राचीन चित्रकारोंकी चतुरता जब ठीक चित्र उतारनेमें समर्थ न हो सकी, पुराने प्रयत्नोंमें जब पूरी सफलता प्राप्त न हुई, एक आँचकी कसर बराबर बनीहो रही, विहारीके इस अपार और अथाह काव्य-समुद्रका जब बड़े बड़े साहित्य-कर्णधार पार नहीं पासके, उसकी थाह पानेमें जब महाप्राण गोताखोरों का दम फूल गया, तब कोई शतछिद्र डोंगी उसके पार पहुँच सकेगी, कोई अल्पप्राण उसके तलतक पैठ सकेगा, यह आशा अवश्य दुराशामात्र है। पूर्णसरस्वतीके शब्दोंमें कहना पड़ता है—

"निधौ रसानां निलये गुणाना-
मलंकृतीनामुदधावगाधे।
काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे
या व्याचिकीर्षा मम तां नतोस्मि॥"

रसोंके निधि, गुणोंके भण्डार, अलंकारोंके अगाध समुद्र, अद्भुत और नवीन अर्थरत्नोंकी खान, कवीन्द्रके काव्यपर जो मेरी यह व्याचिकीर्षा—व्याख्या करनेकी इच्छा है, उसे नमस्कार है!

काव्यमर्मज्ञोंके आश्चर्य प्रकट करनेसे पहले, अपनी इस ढिठाईपर हमें स्वयं आश्चर्य है, इससे पहले कि कोई हमारे इस दुष्प्रयत्नपर हँसे, हम स्वयं इसपर हँसते हैं।

अपनी अयोग्यताको देखते हुए हमें कभी इस अशक्य कार्यमें हाथ डालनेकी हिम्मत न होती, पर कुछ कारणोंने इस अनधिकारचेष्टाके लिये बलात् विवश कर दिया।

संवत् १९६७ में लेखकको सतसईकी एक टीकापर समालोचना लिखनी पड़ी, जो "सतसईसंहार" शीर्षक लेखमालाके रूपमें सालभरतक प्रयागकी सरस्वतीमें प्रकाशित होती रही, उसे पढ़कर सतसईकी ओर कविताप्रेमियोंका ध्यान कुछ ऐसा आकृष्ट हुआ कि उसके यथेष्ट प्रचारके लिये एक नये ढंगकी टीकाकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी, "जो बोले सो दरवाज़ा खोले" के अनुसार अनेक सहृदय सुहृत् सज्जनोंने आग्रहपूर्ण आदेश देकर प्रणयानुरोध करके—बढ़ावा देकर—दिल बढ़ाकर उभारना शुरू कर दिया, टीका लिखनेका दुर्वहभार भी उसी गरीब समालोचनालेखकके ऊपर पटकना उचित समझा गया, यारलोगोंने उसे ज़बरदस्ती "ठोंक पीटकर वैद्यराज बनानेकी" ठान ली। वह इस काममें जितना ही अपनी अयोग्यता अक्षमता प्रकट करता गया, उतना ही ऊपरसे यारलोगोंके तेज़ तक़ाज़ोंका कोड़ा पड़ता गया, छुटकारेकी और सूरत न देखकर उसे इस आज्ञाके आगे सिर झुकाने—टीकाकारोंके सवारोंमें नाम लिखानेके लिये आख़िर मजबूर होना ही पड़ा।

प्राचीन टीकाकारोंने इस समुद्रको अच्छी तरह यथाशक्ति यथासम्भव मथ डाला है, नये टीकाकारोंके लिये अपनी समझमें कुछ छोड़ नहीं गये हैं, प्राचीन टीकाओंको देखते हुए तो यही मालूम होता है कि इस खानके सब रत्न निकाले जा चुके हैं, अब कुछ हाथ पल्ले न पड़ेगा, पर सरस्वतीका भण्डार कुछ ऐसा अलौकिक और अक्षय है कि नीलकण्ठ दीक्षितके कथनानुसार उसमें कभी कमी नहीं है—

"पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोशमवैमि रिक्तम् ।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥"

यह सब कुछ सही सही, पर पहले वहांतक पहुँच हो तब न?

प्राचीन टीकाओंके आधारपर—उनकी शैलीपर या उनसे सहायता लेकर जो कुछ लिखा गया है, उसमें भूलकी कम सम्भावना है भूलें ज़रूर हुई होंगी पर वह सबके साझेकी होंगी, इसलिये "पंचों मिल कीजै काज, हारे जीते न आवे लाज" और "मर्गे-अम्बोह जशने दारद" का ध्यान करके कुछ सन्तोष है। पर

"तुलनात्मक समालोचना"

के तौरपर जो कुछ लिखा गया है उसकी यथार्थतामें सन्देहका पूरा अवकाश है क्योंकि यह मार्ग लेखकको स्वयं ढंढ भालकर निर्माण करना पड़ा है, इसपर किसी "चन्द्रिका" या 'प्रकाश' ने प्रकाश नहीं डाला, इसमें किसी प्राचीन या नवीन टीकासे रत्ती भर या इन्च बराबर सहायता उसे नहीं मिली। इसकी भूलोंका उत्तरदायित्व केवल उसीपर है। आजकलका सुशिक्षित समाज प्राचीन टीकाओंसे कुछ इसलिये भी सन्तुष्ट नहीं

है कि उनमें तुलनात्मक समालोचनासे कहीं भी काम नहीं लिया गया, वर्तमान शिक्षित समाजकी सन्तुष्टि केवल शब्दार्थ-व्याख्या, अलंकार-निर्देश और शङ्कासमाधानसे नहीं होती, उनकी इस रुचिका विचार करके ही इस नवीन और दुर्गम मार्गमें चलनेका दुःसाहस किया गया है।

अंग्रेजी साहित्यमें सुना है तुलनात्मक समालोचनाको बहुत महत्त्व दिया जाता है, इस विषयपर उसमें बड़े बड़े गौरवपूर्ण आदर्श ग्रन्थ लिखे गये हैं, संस्कृत साहित्यमें भी इस रीतिका प्राचीन आचार्योंने अपने खास ढंगपर अच्छा परिष्कार किया है। उर्दू साहित्यमें मौलाना 'आज़ाद' अपने 'आबे-हयात' और 'सखुनदाने-फ़ारिस' में और 'हाली' दीवाने-हालीके मुक़द्दमे, 'हयाते-सादी' और "यादगारे-ग़ालिब"में इस रास्तेकी दागबेल डाल गये हैं, और अब वहां यह रास्ता चल पड़ा है, पर हमारी हिन्दीमें यह मार्ग अभी नहीं खुला, हिन्दीसाहित्यमें जहांतक मालूम है इस शैलीपर अभीतक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया, हिन्दीमें भी यह रीति प्रचलित होनी चाहिए, इसकी आवश्यकता है, यही समझ कर इस विषम मार्गमें चलनेकी चेष्टा की गयी है, इसमें कहांतक सफलता हुई है, इसका निर्णय नीरक्षीरविवेकी विद्वान् कर सकेंगे, नये अपरिष्कृत टेढ़े मार्गपर चलनेमें नवाभ्यासी पथिकको पद पदपर भटकनेका भय रहता है, ठोकरें लगती हैं—

"हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः"

श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
सं० १९७५ वि०
ज्ञानमण्डल काशी।

विनीत—
पद्मसिंहशर्म्मा।

धन्यवाद

नये मार्गपर निराली चालसे चलनेवाली यह "मालगाड़ी" कुछ दूर चलकर रुकी खड़ी थी, आगे बढ़नेमें अनेक विघ्न-बाधाओंके रोड़े बाधक थे—स्टीम कम हो गयी थी, लाइन-क्लियर नहीं मिलता था, ड्राइवर ऊँघते ऊँघते सोने लगा था, उधर साहित्यकी मंडीमें व्यापारी बेचैनीसे बैठे बाट जोह रहे थे, ग्राहक उत्सुकतासे छटपटा रहे थे—गाड़ीको बेहद लेट होती देख राह देखनेवाले निराश हो बिल्टी लिए उलटे लौटने लगे थे, कि अचानक घंटी बजी 'गाड़ी छोड़ा' की आवाज़ सुनाई दी–पैटमैनने पुकारा—'मालगाड़ी आवत है बाबू !

काशीके सुप्रसिद्ध धनकुबेर, ज्ञानमण्डलके सञ्चालक मातृ-भाषानुरक्त उदारचरित देशभक्त श्रीयुत बाबू शिवप्रसादजी गुप्त तथा विख्यात वैज्ञानिक विद्वान् सहृदय काव्यमर्मज्ञ प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीमान् अध्यापक रामदासजी गौड़ एम. ए. का सतसईप्रेमियोंको कृतज्ञ होना चाहिए, इन्हीं महानुभावोंके अनल्प अनुग्रह और अदम्य उत्साहसे यह संस्करण इस समय इस रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

प्राचीन हस्तलिखित दुर्लभ टीकाएँ इन सज्जनोंकी उदारता-पूर्ण कृपासे प्राप्त हुई हैं, जिससे पुस्तक लिखनेमें अमूल्य सहायता मिली है, इसलिये ये विशेषरूपसे धन्यवादार्ह हैं—

पण्डित ज्वालादत्तजी शर्मा–	अनवरचन्द्रिका
कविवर बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त—	रसचन्द्रिका
विद्वद्वर प० गिरिधरजी शर्मा–	प्रतापचन्द्रिका
पण्डितप्रवर श्रीहरिनाथजी शास्त्री–	अमरचन्द्रिका तथा गद्यसंस्कृतटीका

परम श्रद्धास्पद कविराज पण्डित नाथूरामजी शंकरशर्मा (शंकर) तथा सुहृद्वर विद्यावाचस्पति श्रीपण्डित शालग्रामजी शास्त्री साहित्याचार्यसे जो अनेकसंशयोच्छेदी सत्परामर्श प्राप्त हुआ है उसके लिये लेखक इन माननीय महानुभावोंका अत्यन्त उपकृत और कृतज्ञ है।

इनके अतिरिक्त समय समयपर जो सज्जन सहानुभूतिपूर्ण प्रोत्साहन द्वारा पुस्तक लिखनेके लिये प्रेरणा करते रहे हैं वे भी इस प्रसङ्गमें कृतज्ञतापूर्वक स्मरणीय और धन्यवादार्ह हैं, उनमेंसे ये विशेषतया उल्लेखयोग्य हैं—

श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी (सरस्वतीसम्पादक)
" प्रोफेसर देवीप्रसादजी शुक्ल बी. ए.
" पण्डित अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी (भारतमित्र सम्पादक)
" पण्डित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी
" पण्डित सकलनारायण काव्यव्याकरणसांख्यादितीर्थ
" पाण्डेय जगन्नाथप्रसादजी काव्यतीर्थ, एम. ए. बी. एल.
" प्रोफेसर बदरीनाथवर्मा एम. ए. काव्यतीर्थ
" प्रोफेसर राधाकृष्ण झा एम. ए.
" पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी एम. ए.
" पण्डित जनार्दन भट्टजी एम. ए.
" प्रोफेसर सम्पूर्णानन्द बी. एस. सी.
" प्रोफेसर बनारसीदास चतुर्वेदी
" प्रोफेसर पूर्णसिंहजी (इम्पीरियल फ़ारेस्ट कैमिस्ट)
" पण्डित बाबूरावजी पराड़कर
" सेठ ज्वालाप्रसादजी (कलकत्ता)
" बाबू शिवप्रसादजी सर्राफ
" पण्डित नारायण प्रसादजी बेताब

श्रीयुत पण्डितप्रवर श्रीभीमसेनजी शर्मा (आगरानिवासी)
,, पण्डित रुद्रदत्तजी (सम्पादकाचार्य)
,, कवितार्किक पं० नृसिंहदेवजी शास्त्री
,, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री (शारदासम्पादक)
,, पण्डित लक्ष्मणनारायणजी गर्दे (नवनीतसम्पादक)
,, वैद्यराज पण्डित रामचन्द्रजी शर्मा
,, वैद्यराज श्रीकल्याणसिंहजी
,, पण्डित रलारामजी शर्मा (ब्रह्म)
,, पण्डित दिलीपदत्तजी शर्मा उपाध्याय
,, पण्डित सुन्दरलालजी शर्मा (महाप्रभु)
,, पण्डित रघुनाथजी व्याकरणाचार्य
,, स्वर्गीय पं० रामस्वरूपजी ठेकेदार (अहार)
,, चौधरी भगवन्तसिंहजी (नहटौर)
,, भाई रिसाल सिंहजी (नायकनगला)
,, मुन्शी मक्खन सिंहजी
,, चि० रामनाथ शर्मा

इत्यादि

"अन्ये चापि महाभागाः सहाया ग्रन्थनिर्मितौ ।
ये ते सर्वे प्रसीदन्तु नामतो न स्मृता इह ॥"

* * * *

इस पुस्तकके लिखनेमें सतसईकी जिन टीकाओंसे तथा अन्य ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, लेखक हृदयसे उनका उपकार मानता और कृतज्ञता प्रकाशित करता है—

सतसईकी टीकाएँ

१—लल्लूलाल कृत—लालचन्द्रिका
२—हरिकवि प्रणीत—हरिप्रकाश
३—अनवर चन्द्रिका (हस्तलिखित)
४—प्रतापचन्द्रिका (,,)
५—रसचन्द्रिका (,,)
६—अमरचन्द्रिका (,,)
७—गद्यसंस्कृत टीका (,,)
८—कृष्ण कविकृत टीका
९—पं० अम्बिकादत्तव्यासविरचित—बिहारी बिहार
१०—पं० परमानन्द-प्रणीत—शृङ्गारसप्तशती (संस्कृत)
११—पं० प्रभुदयालु पाण्डेकी टीका
१२—वि० वा० पं० ज्वालाप्रसादमिश्ररचित भावार्थप्रकाशिका
१३—कवि सवितानारायण कृत गुजराती अनुवाद

अन्य-ग्रन्थ

१४—प्राकृत-गाथा-सप्तशती (सातवाहन)
१५—आर्या-सप्तशती (गोवर्धनाचार्य)
१६—अमरुकशतक (अमरुक)
१७—ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनाचार्य)
१८—काव्यमीमांसा (राजशेखर)
१९—काव्यप्रकाश (मम्मटाचार्य)
२०—साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
२१—कुवलयानन्द (अप्पयदीक्षित)
२२—एकावलि (विद्याधर)
२३—सुभाषितावलि (वल्लभदेव)

उर्दू

२४—आबे-हयात २५—सखुनदाने-फ़ारिस	} आज़ाद
२६—दीवाने-हाली २७—यादगारे-ग़ालिब २८—हयाते-सादी	} हाली

हिन्दी

२९—विक्रम-सतसई	(विक्रमसाह)
३०—श्रृंगार (राम) सतसई	(रामसहायदास)
३१—भाषा-भूषण	(राजा जसवन्त सिंह)
३२—जगद्विनोद	(पद्माकर)
३३—कवि-प्रिया ३४—रसिक-प्रिया	} केशवदास)
३५—श्रृंगार-निर्णय ३६—काव्य-निर्णय	} भिखारीदास)
३७—सुन्दर-श्रृंगार	(सुन्दर-कवि)
३८—सुधानिधि	(तोषनिधि)

इत्यादि इत्यादि ।
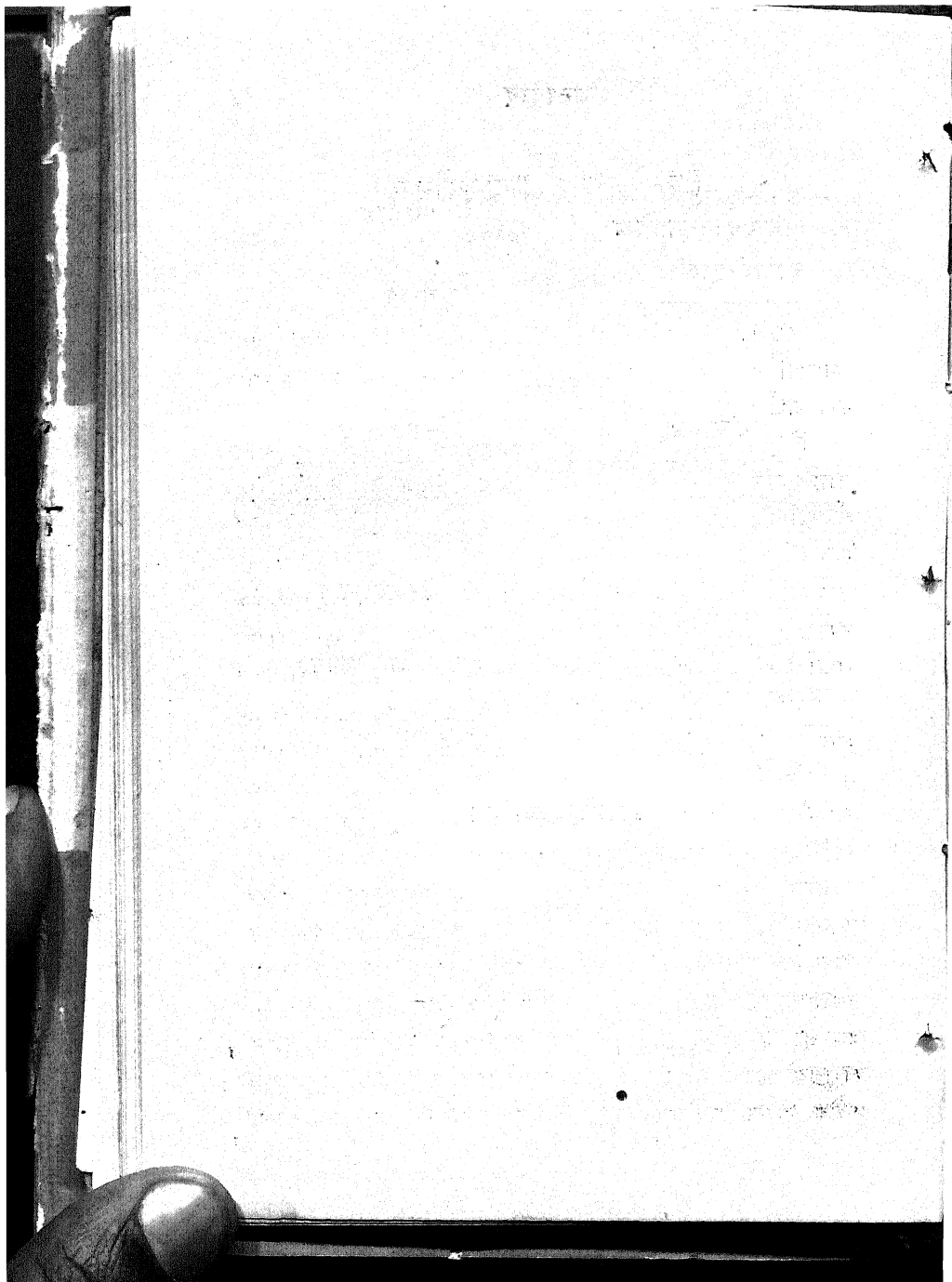
तुलनात्मक समालोचना

सतसईका उद्भव

'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृतके 'सप्तशती' और 'सप्तशतिका' शब्दोंके रूपान्तर हैं, जो "सात सौ पद्योंका संग्रह" इस अर्थमें कुछ योगरूढसे हो गये हैं।

विहारीसे पूर्व दो सप्तशती प्रसिद्ध थीं, एक प्राकृतमें सातवाहन-संगृहीत "गाथासप्तशती" और दूसरी संस्कृतमें गोवर्धनाचार्य-प्रणीत "आर्यासप्तशती"। यद्यपि श्रीमार्कण्डेय"-पुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' भी एक सुप्रसिद्ध सप्तशती है, पर नामसादृश्यके अतिरिक्त अन्य विषयमें समालोच्य सतसईसे उससे कुछ भी साम्य नहीं है, इसलिये इस प्रसङ्गमें उसकी चर्चा चलाना अनावश्यक है। गाथासप्तशती और आर्यासप्तशती ये दोनों ही अपने अपने रूपमें निराली और अद्वितीय हैं। सदासे सहृदयोंके हृदयका हार रही हैं। इनमें "गाथासप्तशती"-ने विवेचक विद्वानोंसे अत्यधिक आदर पाया है। उसकी आधीसे अधिक गाथाएँ साहित्यके आकर ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य्य श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्य्यने अपने "ध्वन्यालोक" में, वाग्देवतावतार श्रीमम्मटाचार्य्यने "काव्यप्रकाश" में, और श्रीभोजदेवने "सरस्वतीकण्ठाभरण" में, गाथासप्तशतीकी अनेक गाथाएँ ध्वनि और व्यञ्जनाके उत्कृष्ट उदाहरणोंमें उद्धृत करके गाथाओंकी सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित कर दी है। ये प्राकृत गाथाएँ वास्तवमें प्राचीन साहित्य-समुद्रके अनर्घ रत्न हैं। इन प्राचीन प्राकृत रत्नोंके मुकाबलेमें अनेक संस्कृतरत्नोंको रचना समय समयपर हुई, पर इनकी

चमक दमकके सामने उनकी ज्योति नहीं जमी। "प्राकृत" भावोंको प्रकट करनेके लिए प्राकृत भाषा ही कुछ समुचित साधन है। "आर्यासप्तशती" के कर्त्ता गोवर्द्धनाचार्य्यने इस बातको स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

"वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्।"
(आ० स० ५२)

अर्थात् वाणीका कुछ स्वभाव है कि वह प्राकृत काव्यमें ही सरसताको प्राप्त होती है, और मैं उसे बलात्कारसे संस्कृत बना रहा हूँ—उलटी गंगा बहा रहा हूँ, इसलिए यदि वैसी (प्राकृतके समान) स्वाभाविक सरसता इसमें न आसके तो क्षन्तव्य है। बलात्कारमें रस कहाँ?

इस प्रकार खुले शब्दोंमें प्राकृतकी प्रशंसा करनेवाले गोवर्द्धनाचार्य कोई साधारण कवि न थे, जगत्प्रसिद्ध गीतिकाव्य "गीतगोविन्द" के निर्माता जयदेवने उनके विषयमें कहा है—

"शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य-
गोवर्द्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः"

अर्थात् शृङ्गाररसप्रधान उत्कृष्ट कविता करनेमें आचार्य्य गोवर्द्धनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं सुना गया—उनके समान शृङ्गाररसकी रचनामें निपुण कवि और कोई नहीं है। गोवर्द्धनाचार्य्यने स्वयं भी अपनी रचनाकी जी खोलकर प्रशंसा की है, जो रचनासौन्दर्यको देखे कुछ अनुचित नहीं है—

"मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्द्धनस्यार्याः॥" (आ० स० ५१)

"गाथासप्तशती" के अनुकरणमें गोवर्द्धनाचार्य्यसे पहले (और उनके पश्चात् भी) कुछ संस्कृत कवियोंने आर्याछन्दमें इस

ढंगकी काव्यरचना की थी, जिसकी ओर गोवर्द्धनाचार्यने कई जगह इशारा किया है। पर "आर्यासप्तशती" के सामने उनमें से एक न ठहर सकी।

गोवर्धनाचार्यके समान शृङ्गारी कवियोंमें एक "अमरुक" कवि और हैं, जिनका "शतक" हजारोंमें एक है, जिसकी अपूर्वतापर मुग्ध होकर साहित्यपरीक्षकोंने "अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते" कह दिया है अर्थात् अमरुक कविका एक एक श्लोक एक एक ग्रन्थके समान गम्भीर भावोंसे भरा है।

जिस शैलीपर प्राकृत "गाथासप्तशती" "अमरुकशतक" और "आर्यासप्तशती" की रचना हुई है, उसे साहित्यकी परिभाषामें "मुक्तक" कहते हैं। "ध्वन्यालोक"के तृतीय उद्योतमें काव्यके भेद गिनाते हुए श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्य्यने "मुक्तकं संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्।" कह कर मुक्तकके भाषा-भेदसे तीन भेद किये हैं—अर्थात् संस्कृतनिबद्ध, प्राकृत-निबद्ध, और अपभ्रंशनिबद्ध।

"मुक्तक" पदकी व्याख्या श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य्यने इस प्रकार की है—

"मुक्तमन्येन नालिङ्गितं, तस्य संज्ञायां कन्।"
"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते
तदेव मुक्तकम्॥"

अर्थात् अगले पिछले पद्योंसे जिसका सम्बन्ध न हो, अपने विषयको प्रकट करनेमें अकेला ही समर्थ हो, ऐसे पद्यको "मुक्तक" कहते हैं। जिस अकेले ही पद्यमें विभाव, अनुभाव आदिसे परिपुष्ट इतना रस भरा हो कि उसके स्वादसे पाठक तृप्त हो जाय, सहृदयताकी तृप्तिके लिए उसे अगली पिछली कथाका सहारा न ढूँढ़ना पड़े, ऐसे अनूठे पद्यका नाम

"मुक्तक" है। इसीका नाम "उद्भट" भी है, हिन्दीमें इसे फुटकर कविता कहते हैं। इसी प्रकारके पद्य जिसमें संगृहीत हों उसे "कोष" कहते हैं। "मुक्तक" की रचना कविताशक्ति-की पराकाष्ठा है, महाकाव्य, खण्डकाव्य या आख्यायिका आदिमें यदि कथानकका क्रम अच्छी तरह बैठ गया तो बात निभ जाती है, कथानककी मनोहरता पाठकका ध्यान कविता-के गुणदोषपर प्रायः नहीं पड़ने देती। कथा-काव्यमें हज़ार में दस बीस पद्य भी मार्केके निकल आये तो बहुत हैं। कथा-नककी सुन्दर संघटना, वर्णनशैलीकी मनोहरता और सरलता आदिके कारण "कुल मिलाकर" काव्यके अच्छेपनका प्रमाणपत्र मिल जाता है। परन्तु "मुक्तक" की रचनामें कविको "गागरमें सागर" भरना पड़ता है। एक ही पद्यमें अनेक भावोंका समावेश और रसका सन्निवेश करके लोको-त्तर चमत्कार प्रकट करना पड़ता है। ऐसा करना साधारण कविका काम नहीं है। इसके लिए कविका सिद्धसरस्वतीक और वश्यवाक् होना आवश्यक है। मुक्तककी रचनामें रसकी अक्षुण्णतापर कविको पूरा ध्यान रखना पड़ता है और यही कविताका प्राण है। जैसा कि मुक्तकके सम्बन्धमें आनन्द-वर्धनाचार्य्य लिखते हैं—

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्य-न्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।"

अर्थात् एक ग्रन्थमें जिस रसस्थापनाका पूरा प्रबन्ध कविको करना पड़ता है वही बात कविको एक मुक्तकमें लाकर रखनी पड़ती है। जिस प्रकार अमरुक कविके "मुक्तक" शृंगार रसका प्रवाह बहानेके कारण प्रबन्धको (ग्रन्थ-

की) समता प्राप्त करनेमें प्रसिद्ध हैं। "मुक्तक" में अलौकिकता लानेके लिए कविको अभिधासे बहुत कम और ध्वनि व्यञ्जनासे अधिक काम लेना पड़ता है, यही उसके चमत्कारका मुख्य हेतु है। इस प्रकारके रसध्वनिपूर्ण काव्यके निर्माता ही वास्तवमें 'महाकवि' पदके समुचित अधिकारी हैं। फिर उनकी रचना परिमाणमें कितनी ही परिमित क्यों न हो।

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

(ध्वन्यालोक-१।४)

अर्थात् महाकवियोंकी वाणीमें अभिधीयमान—वाच्य अर्थसे अतिरिक्त, "प्रतीयमान"— अर्थ एक ऐसी चमत्कारक वस्तु है-जो कुछ इस प्रकार चमकती है जिस प्रकार अङ्गनाके अङ्गमें हस्त पादादि प्रसिद्ध अवयवोंके अतिरिक्त लावण्य। इस कारिकाके "महाकवीनाम्" पद की व्याख्या करते हुए श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य्य लिखते हैं—

"प्रतीयमानानुप्राणित-काव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीतिभावः।"

अर्थात् प्रतीयमान अर्थसे युक्त काव्य-निर्माणकी जिनमें शक्ति है, वही 'महाकवि' कहलानेके अधिकारी हैं।

इस निर्णयके अनुसार 'महाकवि' कहलानेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यदर्पणादिमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त 'महाकाव्य' का कोई बड़ा पोथा बनावे तभी 'महाकवि' कहलावे। राजशेखरने तो इस प्रकारके रसस्वतन्त्र कविको महाकविसे भी बड़ी 'कविराज' की पदवी दी है। यथा—

"यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।"

हमारे विहारी, जगत्के उन्हीं कतिपय कविराजोंमें हैं।

विहारीके सम्बन्धमें लेख लिखते हुए अबतक जो कुछ यह ऊपर लिखा गया सो सरसरी तौरसे अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होगा, पर ऐसा नहीं है; इसकी यहाँ आवश्यकता थी। हमें अभी आगे चलकर "गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" और "अमरुकशतक"से ख़ासतौरपर विहारी-सतसईकी तुलना करनी है, यदि इस तुलनामें विहारी पूरे उतर जायँ अर्थात् विहारीकी कविता इनकी बराबरीकी या कहीं इनसे बढ़ी चढ़ी सिद्ध होजाय, इनके मुक़ाबलेमें उसका पलड़ा कहीं झुक जाय तो जो बात सिद्ध होगी उसे क्या अभिधावृत्तिसे कहनेकी आवश्यकता होगी! मैं डरता हूँ कि "देववाणी वाले" देवतालोग मुझे "भाखा" का अनुचित पक्षपाती' छोटा मुँह; बड़ी बात कहनेवाला, "विभीषण" आदि पवित्र पदवियोंका पात्र बना कर शाप और अभिशापकी वर्षा न करने लगें। पेशगी दुहाई है 'सहृदयताकी'!! मेरा ऐसा अभिप्राय स्वप्नमें भी नहीं है, मैं अपने परमाराध्य प्रातःस्मरणीय संस्कृत कवियोंकी निन्दा करने नहीं चला हूँ, उनमें मेरी अविचल भक्ति है, अशिथिल श्रद्धा है। मेरे स्वाध्यायसमयका अधिक भाग संस्कृत-साहित्यके अनुशीलनानुरागमें ही व्यतीत हुआ है। अधिक समय नहीं बीता है तबतक हिन्दी कविताके विषयमें मेरी धारणा भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषाकी कवितामें भी ऐसा मनोमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था। इस चिरसञ्चित अज्ञानान्धकारको विहारीके कविता-प्रकाशने

अचानक आकर विच्छिन्न कर दिया। मैंने विहारीके काव्यको बड़े ध्यान और अवधानसे पढ़ा, पढ़ा क्या उसने बलात् ऐसा करनेके लिये विवश कर दिया। अनेक बार पढ़ा, तुलनात्मक दृष्टिसे देखा, उसकी तुलना संस्कृत, प्राकृत और उर्दू, फ़ारसीकी कवितासे की। अनुशीलनके इस संघर्षमें विहारीका रंग और भी पक्का होता गया। वह हृदय-मन्दिरमें संस्कृत कवियोंके बराबर आसन जमा कर बैठ गया। अपने इन परिवर्त्तित विचारोंकी सूचना मैंने अपने कई संस्कृतज्ञ विद्वान् मित्रोंको दी, विहारीकी कविता सुनाकर जानना चाहा कि ऐसा समझना कहीं मेरा मतिभ्रम तो नहीं है? विहारीने कहीं मदाख़लत-बेजासे तो यह मेरे दिलपर क़ब्ज़ा नहीं कर लिया है? मुझे सुनकर सन्तोष हुआ कि नहीं ऐसा नहीं है, मैंने ग़लती नहीं की है, ऐसा होना स्वाभाविक है, नितान्त न्याय्य है। विहारीने दिलमें जो जगह की है वह उसका क़ुदरती हक़ है। इसमें जौ बराबर भी ज़्यादती नहीं हुई है।

ऐसी दशामें महाशय, यदि मैं विहारीके विषयमें कुछ कहने लगा हूँ तो सच समझिए केवल इसी विचारसे कि ऐसे अवसरपर चुप रहना सहृदयताके हृदयमें चुभनेवाला असह्य शल्य है, अक्षम्य अपराध है। कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षकी आज्ञा है—

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।"

पहले समयमें संस्कृतज्ञ विद्वानोंने सतसईपर संस्कृतके गद्य और पद्यमें तिलक और अनुवाद करके अपनी गुणग्राहिता प्रकट की है सही, पर इससे संस्कृतज्ञोंमें सतसईका यथेष्ट

प्रचार नहीं हुआ, ऐसे अनुवादों द्वारा कविताका मूलतत्त्व अवगत करना असम्भव है। वास्तवमें कविता अनुवाद करनेकी चीज़ है ही नहीं। अनुवादमें आधेसे अधिक सौष्ठव कविताका नष्ट हो जाता है। रस निकल जाता है, छिलका रह जाता है। एक भाषाकी कविता दूसरी भाषामें आकर कविता नहीं रहती। यह शराब अपने मटकेसे निकली और सिरका हुई, यह राग एक गलेसे दूसरे गलेमें उतरते ही बेसुरा होजाता है। यह प्रतिबिम्ब एक दर्पणसे दूसरेमें आया और परछाईं बनकर रह गया। गोवर्द्धनाचार्य्य जैसे महाकवि जब इसमें अपनी अक्षमता स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करते हैं। तब आधुनिक अनुवादकोंपर क्या आस्था-की जासकती है। संस्कृत भाषाके माधुर्य्यमें किसीको कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषाका माधुर्य्य भी एक निराली चीज़ है, वह 'सितोपला' है तो यह 'द्राक्षा' है। विहारी श्रृङ्गारी कवि, भाषा, ब्रजभाषा, श्रृङ्गाररसकी कविता, (श्रृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) अहो रम्यपरम्परा! इसका आस्वादन कर चुकनेपर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कारवश कहीं अन्यत्र रसास्वादके लिए जाना चाहती है तो सहृदयता, विहारीके शब्दोंमें मचलकर कहती है—

"*जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी! चाखि अँगूर।" इसलिए—

'जो कोऊ रसरीतिको, समझो चाहै सार।
पढ़ै बिहारी-सतसई, कविताको सिंगार॥"

---

* "तो रस राच्यो आन बस, कह्यो कुटिकमति कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर॥"

कविने यह अपनी कविता-कामिनीकी ओर ही बड़े मार्म्मिक ढंगसे इशारा किया प्रतीत होता है!

सतसईके आदर्श ग्रंथ

विहारीकी सतसईके आदर्श—"प्राकृत गाथासप्तशती, "आर्यासप्तशती" और "अमरुकशतक" मुख्यतया ये तीन ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेपर इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि उक्त तीनों ग्रन्थ, सतसईकी रचना करते समय विहारीके लक्ष्यमें थे, इसमें एकसे अधिक प्रमाण हैं। सतसई-के अनेक दोहे उक्त ग्रन्थोंकी सूक्तियोंके आधारपर बने हैं, जैसा कि इस लेखमें उद्धृत अवतरणोंसे सिद्ध होगा। पर विहारी इस मैदानमें अपने इन आदर्श महारथियोंसे किसी मौकेपर एक इन्च भी पीछे नहीं रहे हैं, यही नहीं अनेक स्थलों-पर इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। कहीं कहीं तो इन्हें मन्ज़िलों पीछे छोड़ गये हैं, कहीं उनसे मज़मून छीन लिया है, तो कहीं संस्कार कर दिया है, कहीं काया पलट दी है तो कहीं जान डाल दी है। इस प्रकारके स्थलोंमें ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने बातमें बात पैदा न कर दी हो, अपनी प्रतिभाके प्रकाशसे आदर्श पद्योंके भावोंको अतिशय चमत्कृत करके न दिखा दिया हो। मज़मून चुराया नहीं, छीन लिया है। उन अमरुक आदि महाकवियोंके मुक़ाबले में—जिनका यशोगान ऊपर हो चुका है, उन मज़मूनोंपर क़लम उठाना, जिनपर वे क़लम तोड़ चुके थे और फिर वह कुछ कर दिखाना जो वह भी न कर सके थे, हँसी खेल नहीं है, बड़ी टेढ़ी खीर है। निहायत खट्टे अँगूर हैं। कोई माने न माने मैं तो विहारीकी इसी बातका क़ायल हूँ। किसी सख्त मुक़ाबलेमें ही तो बहादुरीके असली जौहर खुलते हैं।

प्रतिद्वन्द्विताकी परीक्षामें बड़े बड़े शूर वीरोंका पित्ता पानी हो जाता है, उसमें जो बाज़ी ले जाय वही तो बहादुर है।

जिस बातसे यहाँ मैं विहारीकी महिमा सिद्ध करना चाहता हूँ, सम्भव है इसीसे कोई महाशय उनकी लघिमा सिद्ध करने लगें। वे कहेंगे कि अनुवाद करना कोई बहादुरी नहीं है! यह तो नितान्त निन्दनीय बात है। साहित्यपारावारके कर्णधार तो इस करतूतके नामसे घिन करते हैं, वे कहते हैं—

"कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते।"

यह सिद्धान्त शायद सिद्धान्तरूपमें ठीक कहा जा सकता हो, पर कार्यक्षेत्रमें तो, यह चलता नहीं दीखता, औरोंकी कौन कहे संस्कृतकविकुल-गुरुओंतकके काव्योंमें पूर्ववर्त्ती कवियोंकी छाया नहीं, अनुवादतक एक आध स्थानपर नहीं, अनेक स्थानोंपर मिलता है। 'अतिप्रसंग' हो जायगा इसलिए यहाँ इसके उदाहरण नहीं दूँगा, इशारेपर ही बस करता हूँ। इसीलिए तो "छायामपहरति कविः" की रियायत रखदी है।

अर्थापहरणका विचार

श्रीआनन्दवर्धनाचार्य्यने "ध्वन्यालोक" के ४र्थ उद्योतमें और राजशेखरने "काव्यमीमांसा" के १२वें, १३वें अध्यायोंमें इसकी बड़ी ही विशद व्याख्या और मार्मिक मीमांसा की है।

प्राचीन कवियोंने कोई बात नये कवियोंके लिए ऐसी नहीं छोड़ी है जिसे वे वर्णन न कर गये हों। वास्तवमें कोई नयी बात संसारमें होती ही नहीं, वही गिनी चुनी जानी

पहचानी बातें हैं, जिन्हें अपनी अपनी प्रतिभासे नया नया रूप देकर कवि वर्णन करते हैं। पुरानी बातोंमें उक्तिवैचित्र्य से नवीनता लाना ही कविकी कारीगरी है। आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं—

"दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥"

वही पुराने पेड़ हैं, पर वसन्त अपने रससञ्चारसे उन्हें नवीन रूप प्रदान करके नया बना देता है। किसीमें नयी कोंपलें निकाल कर, किसीमें फूल खिलाकर, किसीमें फल लगाकर, किसीमें दृष्टिहारी रूपरंग और किसीमें मनोहारी सुगन्ध भर-कर विकासक वसन्त पुराने वृक्षोंको नया करके दिखा देता है।

कवि भी प्रकृति-वाटिकाका विकासक वसन्त है। वह प्रकृति-के उन्हीं नीरस रूखे सूखे ठूंठ रूखोंमें अपनी प्रतिभाशक्तिसे अलौकिक रसका संचार करके कुछसे कुछ कर दिखाता है। कवि-वसन्त किसी पुराने कविताद्रुममें रसध्वनिके मधुरफल, किसीमें अलङ्कार-ध्वनिके मनोहर पुष्प और किसीमें वस्तु-ध्वनिके सुन्दर रूपरंगका सन्निवेश करके सूखेसे हरा और निर्जीवसे सजीव बना देता है। किसीको शब्दशक्तिके और किसीको अर्थशक्तिके सहारे ऊपर उठा देता है। किसीको अर्थालङ्कारके चमत्कारसे और किसीको शब्दालङ्कारके वैचित्र्य-से आँखोंमें खुबने और चित्तमें चुभनेवाला कर दिखाता है।

"संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।"

अर्थात् "सौ स्याने एक मत" के अनुसार अन्य सादृश्यसे सर्वथा बचे रहना कविके लिये अशक्य है। एक अनूठी बात जो एक कविको सूझती है वह उसी प्रकार दूसरे कविको भी सूझ सकती है। इसलिये कभी कभी दो

कवियोंके भाव आपसमें टकरा जाते हैं। कभी ऐसा होता है कि किसी पूर्व कविका कोई वर्णन पिछले कविको पसन्द आगया पर कुछ कसर कोर भी उसे उसमें मालूम पड़ी, इसलिये उसीमें संस्कार करके 'इसलाह' देकर उसे नये ढंगसे वर्णन कर दिया। कभी ऐसा होता है कि किन्हीं प्राचीन सूक्तियोंका मनन करते करते उनका भाव कविके हृदयमें इस प्रकार बस जाता है कि परकीयत्वकी प्रतीति तक जाती रहती है, कवि जब कविता करने बैठता है तो बेमालूम तौरपर वही वासनान्तर्विलीन भाव लेखनीसे अनायास टपक पड़ते हैं। इस प्रकार "सादृश्य" के अनेक कारण हो सकते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने सादृश्यके ये तीन भेद—१ प्रतिबिम्बवत्, २ आलेख्यवत् और ३ तुल्यदेहिवत्, बतलाये हैं। इनमेंसे पहले दोको परिहरणीय और अन्तिमको उपादेय ठहराया है। राजशेखरने इन्हींका १-प्रतिबिम्बकल्प, २-आलेख्यप्रख्य, ३-तुल्यदेहितुल्य नामसे उल्लेख करके एक चौथा भेद "परपुरप्रवेशप्रतिम" नामक और बढ़ा दिया है, और सादृश्यनिबन्धनके इन चार भेदों द्वारा बत्तीस प्रकारके "अर्थाहरणोपाय" बतलाये हैं (इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः) इनके उदाहरण दिये हैं। 'हरणोपायों' का तारतम्य दिखलाते हुए किसीको उपादेय और किसीको हेय बतला कर अन्तमें उदारतासे फैसला दिया है—

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥"
"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ॥"

अर्थात् कवि और वणिक्—व्यापारीजन परार्थापहरण-

पराङ्मुख प्रायः नहीं होते। इनमें जो दूसरेकी चीजको इस ढंगसे छिपानेकी योग्यता रखता है कि चोरी ज़ाहिर न होने दे और लोकनिन्दासे बचा रहे, वही बड़ा साहूकार और वही महाकवि है। शब्दार्थमें कुछ निराली नूतनता पैदा करके जो प्राचीन भावको चमत्कृत बना देता है वही महाकवि है। यही सिद्धान्त आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने स्थिर किया है—

"यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥"

(ध्वन्यालोक ४।१६)

अर्थात् जिस कवितामें सहृदय भावकको यह सूझ पड़े कि हाँ इसमें कुछ नूतन चमत्कार है, फिर उसमें पूर्वकविकी छाया भी क्यों न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं। ऐसी कविताका निर्माता 'सुकवि' अपनी बन्ध-छायासे पुराने भावको नूतन रूप देनेके कारण निन्दनीय नहीं समझा जा सकता।

"कवितासादृश्य"के सम्बन्धमें यह सिद्धान्त (आर्डर) है उन आचार्यका जिनके अन्तिम फ़ैसलेकी अपील साहित्य-समाजमें नहीं है। इतनेपर भी यदि दुराग्रहवश कोई नये पुराने विचारके सज्जन "कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते" का राग अलापे जायँ और हमारे कवि-नायककी कवितापर मक्खी बनकर भिनभिनानेका साहस करना चाहें तो इसका इलाज हम सहृदयोंपर छोड़ते हैं। फिर एक विहारी ही क्यों हिन्दीका कोई कविभी अछूता नहीं छूटेगा, कविता-आकाशके "सूर्य्य" और "चन्द्रमा" को गहन लग

जायगा। "तारे" भी खद्योतकी तरह निष्प्रभ हो टिमटिमाते दीख पड़ेंगे—

"अंधेर छा जायगा जहाँमें अगर यही रोशनी रहेगी।"

जिस कवित्तपर रीझकर राजा रघुनाथरावने पद्माकरको लाखों रुपया दे डाला था, वह कवित्त क्या था? इस पुराने संस्कृत पद्यका—जो भोजकी प्रशंसामें किसी कविने कहा था—अनुवाद है—

"निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥"

परन्तु पद्माकरने—

"याही डर गिरिजा गजाननको गोय रही।
गिरिते गरेते निज गोदते उतारे ना॥"

कवित्तके इस पिछले पदसे पहले संस्कृत पद्यको दबा दिया है। "रक्षत्यद्य पुनः पुनः" को पुनः पुनः पढ़ने पर भी चित्तमें वह चमत्कार नहीं आता जो "गिरिते गरेते निज गोदते उतारे ना" को एक बार पढ़नेसे आजाता है। सादृश्य क्या स्पष्ट अनुवाद होने पर भी इसमें वह नवीनतायुक्त चमत्कार है जिसकी ओर आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने ऊपर इशारा किया है। ऐसे "सादृश्य"को कौन बुरा कहेगा? फिर बिहारीके यहाँ जो सादृश्य है वह तो नितान्त सादृश्यरहित है।

× × ×

सतसईके दोहे

"सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर।
देखतमें छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥"

जिन भावोंको अभिव्यक्त करनेके लिए प्राकृत कवियोंने गाथाछन्द, गोवर्द्धनाचार्य्यने आर्याछन्द और अमरुकने शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े बड़े छन्द पसन्द किये, उसी कामके लिए विहारीलालने दोहा जैसा छोटा छन्द चुना। विहारी की मुश्किलपसन्द तबीयत का इससे भी कुछ पता चलता है। लम्बे चौड़े छन्दमें कविको छलांगें भरनेकी स्वच्छन्दता रहती है। रस, अलङ्कार, ध्वनि और रीति आदिको यथास्थान बैठानेका यथेष्ट स्थान रहता है। पर दोहेकी छोटीसी डिबियामें इन सबको इकट्ठा करके भरना और उस दशामें भी इन सबका स्वरूप अक्षुण्ण रखना, सचमुच बड़े भारी 'करतबी' जादूगरका काम है।

दोहेकी प्रशंसामें रहीमकी यह उक्ति विहारीके दोहों पर ही ठीक घटती है—

"दीरघ दोहा अर्थके, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, समिटि कूदि कढ़ि जाहिं ॥"

छोटीसी संकुचित कुण्डलीके घेरेमें जिस तरह मोटा ताज़ा करतबी नट हाथ पाँव समेट, शरीरको तोलकर साफ़ जाता है, इसी तरह ज़रासे दोहेकी कुण्डलीमें होकर अपने सब अवयवों समेत इतने गौरवशाली अर्थका सही सलामत बिना उलझे निकल जाना, जितना कौतूहलोत्पादक है, उतनाही कठिन भी है। बड़े परिश्रमसे वर्षोंके अभ्याससे नटको

यह कुण्डलीकी कला सिद्ध होती है। दोहेमें कमाल पैदा करनेकी कला उससे भी कहीं कठिन है। कुल ४८ मात्राके ज़रासे छन्दमें इस खूबीसे इतना 'मैटर' भर निकालना, सच-मुच जादू है जादू!

विहारीके दोहों पर समय समय पर बड़े बड़े बाकमाल लोगोंने "कुण्डलियाँ" और "कवित्त" गढ़नेका प्रयत्न किया है। पर किसीकी भी कला ठीक नहीं बैठी। ज़रासे दोहेमें जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँसे निकलतेही इतना फैला कि कुण्डलियों और कवित्तोंके बड़े मैदानमें नहीं समा सका। मानो गंगाका समृद्धवेग प्रवाह है जो शिवजीकी लटोंसे निकल कर फिर किसीके काबूमें नहीं आता। इन्जीनि-यर लाख कारस्तानी कर हारें पर भागीरथीके प्रवाहको किसी बड़ेसे बड़े गढ़ेमें भरकर रोक रखना, सामर्थ्यसे बाह-रकी बात है—हो नहीं सकती, ऐसा हो नहीं सकता।

* * *

विवेचना-विनोद

दोहोंमें कविता और कवियोंने भी की है। विहारीसे पहले भी और उसके पश्चात् भी दोहा, कवियोंके "कविता-खेल चौगान"का मैदान रहा है। पर विहारी की छायाको भी कोई खिलाड़ी नहीं पहुँच सका। विहारीसे पहले हिन्दीमें 'तुलसीसतसई' और 'रहिमनसतसई' बन चुकी थीं और पीछे तो सतसइयों का ताँताही बँध गया। बड़े बड़े कवि खम ठोककर इस मैदानमें उतरे, पर सब खाली डंड पेलकर और कोरी छाती कूटकर ही रहगये। इनमेंसे परवर्त्ती

कवियोंकी सतसइयोंमेंसे किसी किसी की प्रशंसामें कई 'उत्तमवक्ता' महानुभावोंने कह डाला है—"यह विहारीकी सतसईके समान है—" किसीने तो यहाँ तक कहनेका साहस किया है कि "..........और............दोहे तो ऐसे बढ़िया रचे हैं कि यदि वे विहारीके दोहोंमें मिला दिये जायँ तो विहारीके दोहे याद न रखनेवाला उन्हें शायद पृथक् न करसके।"

* * *

विवेचक कहलानेवालोंके मुँहसे ऐसी विवेचनाहीन बात सुनकर "विवेचना" बेचारी पनाह माँगती है। विहारीके दोहोंमें दोहे मिला दिये जायँ और वह न पहचान लिये जायँ! और पहचाने भी जायँ तो शर्त यह हो कि पहचाननेवालेको विहारीके दोहे कंठस्थ हों! अँगूरकी पिटारीमें शकरपारे मिला दिये जायँ और वह न पहचाने जायँ और पहचाने भी जायँ तो उस दशामें कि अँगूरोंके ऊपर अँगूरके नामकी चिट लगी हो! अँगूरोंकी संख्या कण्ठस्थ याद हो! पर इस बातकी तो "शायद" जरूरत नहीं होती, चक्षुष्मान् तो दूरसे देखकर ही बता सकता है कि ये अँगूर हैं, ये शकरपारे हैं। प्रज्ञाचक्षु भी छूकर नहीं तो चखकर पहचान सकता है।

कविताकी विवेचनामें ऐसा विनोद करना विवेचना बेचारीको बदनाम करना है। जिस विवेचकको भाषा-विज्ञानका कुछभी ज्ञान है, जिसने भिन्न भिन्न कवियोंकी कविता तुलनात्मक दृष्टिसे देखी है, जो कविताकी नब्ज़ पहचानता है, उसके छिपे इशारोंको समझता है, जो रीतिके मार्गमें आँख खोलकर थोड़ी दूरभी चला है, जिसने ध्वनिकी आवाज़

दिलके कानोंसे सुनी है और रसका स्वाद सहृदयताकी जिह्वासे चखा है। इस प्रकार जो "भावक" कविताका "कैमिस्ट" (रसायनशास्त्री) है, उसे विहारीके दोहे कण्ठस्थ हों या न हों—हाँ, उसने उन्हें 'भावकता'की दृष्टिसे देखा भर हो,—वह सैकड़ोंमें नहीं लाखोंमें पुकार उठेगा कि यह विहारी हैं, ये कोई और लोग हैं।

विहारीके अनुकरणमें जो सतसई बनी हैं, उनमें 'चन्दनसतसई' तो हमारे देखनेमें आयी नहीं, पर उसके नमूनेके जो दो एक दोहे देखनेमें आये हैं, उनसेही स्थालीपुलाकन्यायसे उसके रंग ढंगका कुछ अनुमान किया जा सकता है। बाकी "राम सतसई" (शृङ्गारसतसई) और "विक्रमसतसई" हमने देखी हैं और हम दिखावेंगे कि विहारीसतसईके मुक़ाबलेमें ये कैसी कुछ हैं।

इन सतसइयोंके अतिरिक्त रसनिधि-कृत एक "रतन-हज़ारा" और है जो विहारीके मुकाबलेमें ३ सौकी संख्यामें अधिक है, और मोलमें तो नहीं पर तोलमें वेशक भारी है। उसकी बानगी भी देखिएगा।

"हमने सबका कलाम देखा है
है अदब शर्त मुँह न खुलवायें।
इनको उस नुक्तादांसे क्या निसबत
ख़ाकको आसमांसे क्या निसबत ॥"

सतसईका सौष्ठव

१—गाथासप्तशती और विहारीसतसई

सतसईका सौष्ठव दिखानेके लिये हम पहले 'गाथा-सप्तशती' और "आर्यासप्तशती" के पद्योंसे विहारीके दोहों-का मुकाबला करते हैं। इससे यह सिद्ध होनेके अतिरिक्त कि विहारीने अपनी सतसईकी रचना इन्हीं ग्रन्थोंको देखकर की है, यह भी सिद्ध होगा कि सादृश्य-रचनामें भी इन्होंने क्या कुछ विलक्षण करामात दिखायी है।

इस प्रकारके अनेक पद्य 'सतसई-संहार' और 'विहारी-का विरहवर्णन' नामक प्रकरणोंमें भी प्रसंगवश उद्धृत हुए हैं। और भी बहुत हैं जो सतसईके भाष्यमें यथास्थान रक्खे गये हैं, यहाँ हम कतिपय अत्यन्त सादृश्यशाली पद्योंका ही उल्लेख करेंगे।

तुलनाके लिए सबसे पूर्व उसी दोहेके आदर्श पद्योंको लेते हैं, जो सतसईकी रचनाका मूल कारण बतलाया जाता है—

दोहा—*"नाहिं पराग नाहिं मधुर मधु नाहिं विकास इहिं काल।*
अली कलीहीतें बँध्यो आगे कौन हवाल ॥६३०॥

* * *

गाथा—"जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥५।४४॥
(यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥)

* * *

आर्या—"पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥२६७॥

* * *

पद्य—"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥"

(विकटनितम्बा)

* * *

प्राकृत-गाथाकार, अविकसित अवस्थामें ही मालती-कलिकाको मर्दन करनेवाले भौंरेके 'नदीदेपन' अधीरता या असमयज्ञतापर चुटकी लेकर उसे लज्जित करना चाहता है।

आर्याकार (गोवर्धनाचार्य) मालतीकलिका-मर्दनकारी भ्रमरको छोड़कर बकुल-कलिकाको कदर्थित करनेवाले भौंरेके पास पहुँचकर दूर खड़े उपदेश दे रहे हैं कि यों नहीं यों रस-पान करो, नहीं तो कुछ पल्ले न पड़ेगा।

श्रीमती विकटनितम्बा देवीका भ्रमरोपालम्भ इन दोनोंसे निराला है, साफ और विस्तृत है। वह भ्रमरको दूसरी जगह खिले चमनमें पेट भर कर जी बहलानेका उपदेश दे रहीं और नवमल्लिकाकी बाला कलिकापर दयाभाव दिखला रही हैं। गाथाकारके परिहासोपदेशमें तटस्थताका भाव झलक रहा है। गोवर्धनाचार्यकी शिक्षामें गुरुगम्भीरता है। विकट-नितम्बाके उपालम्भमें दौत्यभावकी ध्वनि है।

इन सबकी अपेक्षा अपने भौंरेके लिये विहारीकी हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है, न इसमें तटस्थताकी झलक है, न रसपानका प्रकारोपदेश है। न एक

अनखिली कलीको छोड़कर खिली क्यारियोंमें खुल खेलनेकी छुट्टी है। वाह!

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिँ काल।
अली कलीहीतें बँध्यौ आगे कौन हवाल॥"

विषयासक्त मित्रके भावी अनर्थकी चिन्तासे व्याकुल सुहृज्जनकी चिन्तोक्तिका क्या ही सुन्दर चित्र है। कहनेवालेकी एकान्त हितैषिता, परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्रके उद्धारकी गम्भीर चिन्ताके भाव इससे अच्छे ढंगपर किसी प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते।

इस दोहेका सुननेवालेपर प्रभाव एक ऐतिहासिक घटनासे सिद्ध है।

गाथाकारके उपहासका उसके भौंरेपर क्या प्रभाव पड़ा, उसने कलिकाका पिण्ड छोड़ा या नहीं, आर्याकारके उपदेशपर भौंरेने आचरण किया या सुनी अनसुनी करके रसका नाश ही कर दिया। सो तो कुछ मालूम नहीं, पर विहारीके दोहेने अपने मदान्ध भौंरे पर जो अद्भुत चमत्कार दिखलाया, वह जगत्प्रसिद्ध है। जो काम राजनीतिधुरन्धर बड़े बड़े मन्त्रियोंका मन्त्र न कर सका, वह विहारीने इस दोहेके जादूसे कर दिखाया। राजा मिर्जा जयसिंहको अन्तःपुरकी अनखिली कलीके बन्धनसे छुड़ाकर फिर सिंहासनपर सबके सामने लाकर आसीन कर दिया। कविताके असाधारण प्रभावका इससे अच्छा उदाहरण और क्या होगा!

एक नहीं अपनेसे पहले तीन महाकवियों द्वारा वर्णित अर्थमें इस प्रकार एक चमत्कारयुक्त नूतनता, एक निराला बांकपन पैदा कर देना विहारीहीका काम है, और यह

इसीका प्रताप है कि उल्लिखित आदर्श पद्योंके मुकाबलेमें इस दोहेने कहीं अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है।

× × ×

दोहा-तीज परब सौतिन सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर ॥२३३॥

* * *

गाथा—हल्लफलह्राणपसाहिआणँ छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम् ॥१।७८॥
(उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥)

* * *

उत्सवके अवसरपर जब उसकी दूसरी सपत्नियां न्हा धोकर और सजधज कर अपने रूपको निखार कर और सौन्दर्यको चमका कर अपनी मनोहरताका सिक्का बैठानेके लिये पूरे प्रयत्नसे तत्पर थीं, गाथाकी नायिकाने स्नानके अनादरसे अपने सौभाग्यकी (सिर्फ) सूचना दी।

पर सपत्नियोंपर उसके इस सौभाग्यगर्वकी सूचनाका क्या प्रभाव पड़ा, सो किसीको मालूम नहीं हुआ। सम्भव है उन्होंने स्नानके अनादरका कारण उसकी शारीरिक अस्वस्थता, आलस्य, फूहड़पन या मान-कोपको समझ कर इसपर ध्यान भी न दिया हो। अथवा और उलटी प्रसन्न हुई हों। या नायिकाने इसलिये ही स्नानकी उपेक्षा की हो कि उसे इस मुकाबलेकी परीक्षामें सफलताकी आशा ही न हो, इत्यादि अनेक कारण इस स्नानानादरके समझे जा सकते हैं।

चाहे कुछ भी हो, पर यह स्नान न करनेकी बात कुछ

अच्छी नहीं हुई, ऐसा भी क्या सौभाग्यगर्व, जो इस दशा-विशेषमें अवश्यकर्तव्य कर्म (स्नान)का भी अनादर करा दे, यह स्पष्ट ही अनौचित्य है। परन्तु विहारीके "सबै मर-गजे मुँह करी वहै मरगजे चीर" में कुछ और चमत्कार आगया है। बात वही है, वर्णन एक ही प्रसंगका है 'क्षणवा-सरे'=तीजपरब—"स्नानप्रसाधितानाम्"="सजे भूषन बसन सरीर"—"सपत्नीनाम्"="सौतिन"—ये सब एक हैं। भाषामात्र-का भेद है। पर 'मरगजे चीरने' दोहेको चमका दिया है। मरगजे चीरने सचमुचही कमाल किया है, वहां सौभाग्यगर्विताके मरगजे चीरने (रति-मर्दित वस्त्रने) सपत्नियोंके मुंह मरगजे (मलिन) कर दिये, और यहां दोहेके मरगजे पदने "गाथ मरगजे मुंह करी यहै मरगजे चीर'।

सपत्नियोंके मलिन मुंह होनेमें विवर्णता अनुभावसे ईर्ष्या सञ्चारी व्यङ्ग्यका चमत्कार है. और कवितामें अलक्ष्यसंक्रम व्यङ्ग्य ध्वनिका जोर है। वर्णनवैचित्रीके अतिरिक्त असंगति. विभावना, तुल्ययोगिता, आवृत्तिदीपक और लाटानुप्रा-सकी भरमार है। अलंकारोंकी क्या खूब बहार है!

× × ×

दोहा—"अज्यौं न आये सहज रंग बिरहदूबरे गात।
अबही कहा चलाइयत ललन चलनकी बात॥(१३०)

* * *

गाथा—'अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्तिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा॥
(३। ७३)

(अव्वो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य ।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ।)

* * *

गाथाका भाव है कि वाह तुम भी कोई अजीब हो, फिर तुम्हें जानेकी सूझी; यह क्या ग़ज़ब करने लगे हो, अभी तो बेणी बांधनेसे—(प्रवासविरहमें पतिव्रताके धर्मानुरोधके कारण)—गुलझट पड़े केश भी सुलझ कर सीधे नहीं हो पाये।

निसन्देह गाथा अपने ढंगमें बहुत ही उत्कृष्ट है, गाथाकारने किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश नहीं छोड़ी, "अद्यापि न भवन्ति सरलास्तरङ्गिणश्चिकुराः" बात बहुत ही साफ और सीधी है, पर तोभी चमत्कारसे खाली नहीं, इसका बांकपन चित्तमें चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।

पर विहारीलाल भी तो एकही "काइयाँ"* ठहरे! वह कब चूकनेवाले हैं. पहलू बदल कर मज़मूनको साफ ले ही तो उड़े!

"अज्यौं न आये सहज रंग बिरहदूबरे गात"

वाह उस्ताद क्या कहने हैं! क्या सफाई खेली है, काया ही पलट दी! कोई पहचान सकता है! वहां (गाथामें) केवल गुलझट पड़े केश ही थे यहां "बिरहदूबरे गात" हैं। केशोंमें सरलता आनेकी अपेक्षा "दूबरेगातमें" सहज रंग का वापस आना कहीं अधिक वाञ्छनीय और महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जा सकता है। फिर 'अबही कहा चलाइयत ललन

---

* गुस्ताख़ी माफ हो, विहारीलालको और कई विचित्र उपाधियोंके साथ "काइयाँपन" की उपाधि मिश्रबन्धुवोंके "फुल बैंच" से मिली है। आर्डर हुआ है—"काइयांपनमें यह कवि शायद सबसे बढ़ा हुआ है।" (मिश्रबन्धुविनोद, १म, भाग, विहारीकाल, पृ० १३१)

चलनकी बात"में कितना माधुर्य है। छेकानुप्रास कितना अच्छा है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखरजीके सामने यदि यह गाथा और दोहा रखे जाते तो न जाने इस "अपहरण" का वह कोई नया नाम रखते, या अपने कल्पित अपहरणभेदोंमें कहीं इसे खपाते। हम समझते हैं "तुल्यदेहितुल्य' का यह उत्तम उदाहरण हो सकता है, जो ध्वनिकारके मतसे सर्वथा उपादेय है।

× × ×

दोहा—अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछु जिहिं बस होत सुजान ॥३७१॥

* * *

गाथा—अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति ॥ (५।७०)
(अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति)

* * *

गाथाका भाव है—और सुन्दरियोंके चेहरोंपर भी घनी पलकोंवाली, श्वेत श्याम रंगकी, बड़ी बड़ी आंखें हैं, तोभी देखना नहीं जानतीं (इतनी कसर है!) गाथाकारने नेत्रोंका "नखसिख" लिखनेमें कोई कसर छोड़ी नहीं, 'पक्ष्मल" "धवल. 'कृष्ण' 'दीर्घ' सब कुछ है, फिर सुन्दरियोंके सहारे उनमें और भी बल आ गया है। इतने पर भी देखना न जानें तो दुर्भाग्य उनका। यहां "द्रष्टुं न जानन्ति" की असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ध्वनिने गाथाके चमत्कारपर कुछ भारी सा पर्दा

डाल दिया है। देखना नहीं जानतीं, क्यों ? कोई विचित्र बीमारी तो नहीं है ? कहीं चित्रलिखित आंखें तो नहीं हैं ?

पर वाहजी विहारीलाल ! धन्य तुम्हारी प्रतिभा !

"यह प्रतिभा औरै कछु जिहिं बस होत सुजान।"

बात वही है, पर देखिए तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्दवेधी' नावकका तीर मारा है। लुटाही दिया ! एक *"अनियारे"पनने धवल, कृष्ण, पद्मल, सबको एक अनीकी नोकमें बींध कर एक ओर रख दिया ! और वाहरे "चितवन" तुम्हारी चितवनकी ताब भला कौन ला सकता है ! फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुन्दरी) वशीकरणका ख़ज़ाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और "सुजान" तो फिर कविताकी जान ही ठहरा इस एक पदपर तो एड़ीसे चोटीतक सारी गाथा ही कुर्बान है।

"वह चितवन और कछु जिहिं बस होत सुजान।"

लोहेकी यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी ! भावुक सहृदयोंके वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोटसे पड़े तड़पते होंगे !

यह दोहा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' या समासोक्तिके रूपमें कविकी कवितापर भी पूर्णतया संघटित होता है, और आश्चर्य नहीं—औचित्य चाहता है कि ऐसा हो—यह कविने अपनी कविता-की ओर इशारा किया है। अनेक सतसइयोंको सामने रखकर विहारीसतसई देखनेपर इस "व्यतिरेक" और "भेदकाति-शयोक्ति" की हृदयङ्गम यथार्थता समझमें आ सकती है।

× × ×

* अनियारा-नोकीला-अनीदार।

दोहा—"यौं दल मलियत निर्दई दई कुसुम से गात ।
कर धर देखौ धरधरा अजौं न उरको जात ॥" २२८

* * *

गाथा—' सहइ सहइ त्ति तह तेण रमिश्रा सुरअदुव्विअद्धेण ।
पम्माअसिरीसाइं व जह सें जाआइँ अङ्गाइं ॥" १।५६ ॥
(सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥)

* * *

कवित्त—"सुखदै सखीन बीच दैकै सौहैं खायकै
खवाइ कछू खाय बस कीनो बरबसु है।
कोमल मृणालिकासी मल्लिकाकी मालिकासी
बालिका जु डारी मींड़ मानस कै पसु है ।
जानै ना बिभात भयो "केसव" सुनै को बात
देखो आनि गात जात भयो कैधों असु है ।
चित्रसी जु राखी वह चित्रिणी विचित्रगति,
देखौधौं न ये रसिक यामें कौन रसु है ॥
(केशवदास-रसिकप्रिया)

* * *

ये तीनों पद्य—१ प्राकृत गाथा, २ केशवदासजीका कवित्त और ३-विहारीलालजीका यह दोहा, एक ही दुर्घटनाकी मुख्तलिफ़ रिपोर्टें हैं ।

गाथामें 'दुर्विदग्ध' और 'शिरीष' ये दो पद ज़रा जानदार हैं, मामूलीसी मज़ाक़िया फटकार है ।

कवित्तमें मामला बहुत बढ़ा चढ़ा कर बयान किया गया है। मीठी फटकारसे गाली गलौजतक 'दुर्विदग्ध' से 'पशु'

तककी नौबत पहुँच गयी है। "जात भयो कैधों असु है" यह प्राणघातक आक्रमणके अपराधका स्पष्ट आरोप है। मामला बहुत ही संगीन हो गया है, सुन कर भय लगता है। "देखौ धौं नये रसिक यामें कौन रसु है" बेशक, इसमें सचमुच रस नहीं है। हँसीमें हत्या हो गयी, मज़ा किरकिरा हो गया, रस भङ्ग हो गया।

विहारीलालने इन दोनोंसे निराले ढंगपर इस घटनाका उल्लेख किया है। न इसमें गाथाके तुल्य राह चलते तटस्थ-की सी रिपोर्टका रंग है, न कवित्तके समान तेज़मिज़ाज और बद्ज़बान दारोगा पुलिसकी सी धमकियोंका ढंग। सुनिए कितनी प्रेमपूर्ण मधुर भर्त्सना है—

"यौं दल मलियत निर्दई दई कुसुम से गात"

"दुर्विदग्ध" और "पशु" इन दोनोंकी अपेक्षा दोहेके 'निर्दई' पदमें जो औचित्य है, वह सहृदयोंसे छिपा नहीं है। कवित्तके "देखौ आनि गात जात भयो कैधों असु है" में हृदय-को कँपादेनेवाली कितनी भयानकता है। और दोहेके—

"करधर देखो धरधरा अजों न उरको जात" में कितनी विदग्धता भरी है। कुछ ठिकाना है।

इस प्रकार विहारीलालजी इस मैदानमें गाथाकार और केशवदास दोनोंसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। क्या अच्छा 'संस्कार' किया है, मज़मून छीन लिया है।

× × ×

दोहा—*"बामबाहु फरकत मिलै जो हरि जीवनमूरि ।*
तौ तोहीसों भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥" १४२॥

* * *

गाथा—"फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ॥२।३७॥
(स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम्।
सम्मील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये)

* * *

आर्या—"प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम्॥२४७॥

* * *

श्लोक—"येनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसंगा
मीनाहतिस्फुटिततामरसोपमेन।
अन्यं निमील्य नयनं मुदितैव राधा
वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम्॥

(पद्यावली, हरकवि)

पुरुषके दहिने और स्त्रीके बायें अंगका फरकना शकुन-शास्त्रमें शुभसूचक माना गया है। इस तत्त्वपर गाथाकी वियोगिनी अपनी फरकती हुई बाईं आँखसे कहती है कि तेरे फरकनेकी शुभसूचनापर यदि मेरा प्रिय आज आ गया, तो दहिनी आंखको मूंदकर बहुत देरतक मैं तुझसे ही उसे देखूँगी। खुशख़बरी लानेवालेको इनाम देनेका रिवाज है। सो प्रियके आगमनकी शुभसूचना देनेवाली आंखको इससे अच्छा इनाम और क्या हो सकता है कि प्रियके दर्शनका पहला आनन्द वही पेटभर कर लूटे, और उसकी सपत्नी—दूसरी आंख—उससे वञ्चित रहे। सचमुच बड़ा ही औचित्यपूर्ण पुरस्कार है, बहुत बढ़िया इनाम है।

जिस इनामके देनेका यहां गाथामें, वादा किया गया है, वही इनाम पद्यावलीके उल्लिखित पद्यमें दिलाया गया है।

श्रीकृष्णके आनेपर राधाजीने दहिनी आंखको मूँदकर उसी बाईंसे—जिसने फरक कर उनके आनेकी पहले कभी सूचना दी थी—उन्हें देखा है। यहां (पद्यावलीके पद्यमें) पहले शुभ-सूचनाके अवसरपर पुरस्कारप्रदानकी प्रतिज्ञा नहीं की गयी थी, शायद राधाजीको अपनी आंखकी शुभ सूचनाके परिणामकी सत्यतापर कुछ सन्देह रहा हो !

विहारीने वैसेही पुरस्कारप्रदानकी घोषणा "वामबाहु" के लिये करायी है, क्योंकि यहां शुभ सूचना उसीने दी है। यहां भी पुरस्कार बहुत उचित है। जैसा जिसका काम उसे वैसाही इनाम। आंखने प्रियदर्शन-प्राप्तिकी सूचना दी थी, उसे वैसा ही इनाम देने कहा गया। वामबाहु प्रियसमागमकी शुभसूचना दे रही है, सो इसके लिये इनाम भी वैसाही बढ़िया तजवीज़ा गया है—

"तौ तोहीसौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि।"

कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर परिपाक है। इन शब्दोंमें जितना जादू भरा है, उतना और कहीं है ? और "जो हरि जीवनमूरि" ने तो बस जान ही डालदी है, इस एक पदपर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलीका पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान करदेने लायक हैं।

हां, इस झमेलेमें गोवर्धनाचार्यजी तो रह ही गये। उनकी भी जरा सुन लीजिए। वह कुछ और ढंगसे इस बातको कहते हैं। उन्होंने इस भावको "कारकदीपक" के प्रकाशसे चमकाया है। और पेशगी इनाम दिला देनेकी उदारता दिखलायी है। कहते हैं प्रियसंगमके लिये फरकती हुई वाम-बाहुको वियोगिनी प्रणाम करती है, आदरकी दृष्टिसे देखती है, चूमती है और हर्षपुलकित अंगोंसे उसे आलिंगन

करती है। इस वियोगिनीको अपनी वामबाहुके फरकनेकी सत्यतापर इतना विश्वास है कि प्रियके आगमनसे पूर्वही—शुभसूचनाकी प्राप्तिपर ही—प्रियनिवेदक बाहुको अनेक प्रकारके पुरस्कार देने लगी। आर्याकार गोवर्धनाचार्यने इतनी विशेषता पैदा करके गाथाके मज़मूनको अपनाया है।

विहारीलालने आर्याकारके इस विशेषतायुक्त भावकी अपने दूसरे दोहेमें मानो 'इसलाह' करदी है—पर्यायसे इस बातको प्रकट कर दिया है—कि नवीनता ही लानी है तो फिर इस प्रकार ला सकते हैं—

"मृगनैनी दृगकी फरक उर उछाह तन फूल।
विनही पिय आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल॥"

आर्याकी वियोगिनीको अपनी वामबाहुके फरकनेकी फलदायकतापर इतनी आस्था थी कि वह प्रियके आनेसे पहले ही पुरस्कार देने लगी। और यहां दशा ही दूसरी है।

मृगनयनी प्रियके आगमनकी प्रतीक्षामें तन्मय बनी बैठी है। बाईं आंखका ज़रा इशारा होते ही उसने ध्यानकी आंख से देखा कि वह सामने आ ही तो रहे हैं। हृदयकी इस उमंगमें, संभ्रमकी इस हड़बड़ीमें आंखको इनाम देना क्या, देनेका वादा करना तक भूल गयी। भूल क्या गयी, हृदयकी बढ़ी हुई उमंगने उसे इतना अवकाश ही नहीं दिया। वह झटपट प्रियसे मिलनेकी तैयारी करने लगी। दुकूल बदलने लगी। कितनी तन्मयता है, कितनी उमंग है, कितना "उरउछाह" है! ऐसे ही मौक़ेके लिये यह कहा गया है—

"सुनके आमद उनकी अज़खुदरफ़्ता हो जाते हैं हम।
पेशवा लेनेको जाना कोई हमसे सीख जाय॥" (ज़ौक़)

* * *

तोषनिधिने भी एक संस्कृत पद्यके आधारपर इसी प्रसंग-का वर्णन किया है। दशा-विशेषमें कव्वेका बोलना भी प्रियके आगमनका शुभसूचक शकुन समझा जाता है। कोई 'आगमिष्यत्पतिका,' प्रिय आगमनकी शुभसूचना देनेवाले काकसे कहती है—

कवित्त—"पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोनेसे मढ़ाई दैहों
करपर लाइ पर रुचिसो सुधरिहों,
कहै कवि तोष छिन अटक न लैहों कबों
कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरिहौं।
ए रे कारे काग! तेरे सगुन संजोग आज
मेरे पति आवैं तो वचनतें न टरिहौं,
करती करार तौन पहिले करौंगी सब
अपने पियाको फिरि पीछे अंक भरिहौं॥"

* * *

इसमें भी इनाम देनेका इक़रार अच्छे ढंगसे किया है—पैंजनी—(जैसी प्रायः पालतू कबूतरोंके पांवमें शौक़ीन लोग पहनाते हैं)—गढ़ाना, चोंचको सोनेसे मढ़ाना, हाथपर बैठाकर परों (पंखों) का सँवारना, सोनेके कटोरेमें दूध भर कर अटारीपर रखना, एक कव्वेके लिये बढ़ियासे बढ़िया इनाम है। कवित्तका पिछला चरण—इकरार-नामेकी आख़री शर्त—बड़ी ही ज़बरदस्त है। बहुत ही मधुर भाव है।

(२) आर्यासप्तशती और विहारीसतसई

आर्यासप्तशती और विहारीसतसईमें अनेक स्थलोंपर अत्यन्त सादृश्य पाया जाता है। जो इत्तफ़ाक़िया नहीं कहा

जा सकता, प्रत्युत जान बूझकर मज़मूनोंकी टक्कर लड़ाई गयी जान पड़ती है। इसके भी कुछ नमूने देखिए—

दोहा—"छ्वै छिगुनी पहुँचो गिलत आति दीनता दिखाय।
बलिवामनकौ ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय॥२२५॥

* * *

आर्या—"निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमङ्गुलिदाने भुजं गिलसि॥३३९॥

* * *

आर्याका भाव है—आधी नज़रसे कहीं तुम्हें उसने देख भर लिया है, इतनेपर ही तुम उसके हृदयतकपर क़ब्ज़ा करना चाहते हो? सुभग! यह ठीक नहीं है। उंगलि पकड़ कर पहुँचा पकड़ते हो।

यही भाव दोहेमें भी है, पर बहुत ऊँचा तुला और इससे कहीं बढ़ा चढ़ा। "अंगुलिदाने भुजं गिलसि" और "छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत"—बराबरकी महावरेबन्दी है। पर दोहेमें महावरा खूब चुस्त बँधा है। आर्यामें सिर्फ यही "अंगुलिदाने भुजं गिलसि" पद चमत्कृत है, और ऐसा मालूम होता है इसे बांधनेको ही ऊपरकी चारदिवारी कविने खींची है। विहारी-लाल इस भावको दोहेमें ले उड़े हैं। 'वामन जीकी कृपासे दोहा आकाशमें जा पहुँचा है और 'आर्या' बेचारी 'बलि' बनकर पातालमें पहुँच गयी है।* दोहेमें "अति दीनता दिखाय" पद भी बड़ा ही चमत्कारक है। इसने वामनजीकी करतूतको और अच्छी तरह चमका दिया है। आर्याके नायक नायिका कोई साधारण व्यक्ति हैं, इसलिये वहां 'अंगुलिदाने भुजं गिलसि' में कोई असाधारण चमत्कार नहीं आने पाया।

पर विहारीने साक्षात् वामनावतार श्रीकृष्णके सम्बन्धमें "बलिवामनको ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हें पत्याय" कहकर कितना अनुरूप दृष्टान्त दिया है, कितनी पतेकी बात कही है। इसमें कितना असाधारण चमत्कार आ गया है। यदि आज कहीं जयदेवजी महाराज मिलते तो उन्हें यह कविता सुनाकर पूछते कि कहिए कैसी रही, आप अपने इस दावेको अब वापस लीजिए कि—

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य-
गोवर्धनस्पर्द्धी कोपि न विश्रुतः॥"

और अधिक नहीं तो इतना ही कह दीजिए—

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोपि विराजतेऽत्र भुवने हिन्द्यां विहारी कविः॥"

× × ×

कृष्णकविकी टीकामें इस दोहेपर "सेनापति"का एक लम्बा चौड़ा कवित्त लिखा है। उसे भी ज़रा सुन लीजिए, और देखिए सेनापतिजीने कवित्तके इतने बड़े मैदानमें क्या बहादुरी दिखलायी है. इतनी बड़ी मोर्चेबन्दीमें भी मज़मूनको इस खूबसूरतीसे न घेर पाये विहारीने छोटेसे नावकके तीरसे जो काम कर दिखाया, सेनापतिसे इतनी भारी तोपसे भी वह न हुआ—

कवित्त—"झूठ काजको बनाय मिसही सो घर आय
"सेनापति" स्याम बतियानि उघ (च) रत हैं,
आयकै समीप कर हँसी सुसयानही सो
हँसि हँसि बातनहि बांहको धरत हैं।
मैं तो सब रावरेकी बात जियमेंकी जानि

जाके परपंच येते हमसो करत हैं,
कहाँ ऐसी चतुराई पढ़ी आप यदुराई
अंगुरी पकरि पहुँचेको पकरत हैं ॥"

× × ×

दोहा—स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचार।
बाज! पराये पानिपर तू पंछीहि न मार ॥" ६३६

* * *

आर्या—"आयासः परहिंसा वैतंस्रिकसारमेय! तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरङ्ग एषोधुनैवान्यैः ॥"१००

* * *

आर्याका अभिप्राय है—ओ शिकारीके कुत्ते! इस शिकारमें परिश्रम और परायी हिंसा, सिर्फ यही तेरे हिस्सेमें है। इस हरिणको—जिसे तू मार रहा है—अभी तुझे दूर हटाकर और लोग बांट लेंगे, फिर तू व्यर्थ क्यों दूसरेको मारकर पापका भागी बनता है।

दुष्ट स्वामीके इशारेपर अनर्थ करनेवाले सेवकको अन्योक्ति द्वारा उपदेश है, और सचमुच बड़ा सुन्दर उपदेश है। श्ववृत्तिपरायण सेवकको कुत्ते—(चाकर कूकर एक सम) की अन्योक्तिसे उपदेश देना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। आर्यामें सारमेय शब्द भी विशेष अभिप्रायगर्भित है—(सप्तशतीके टीकाकार अनन्त पण्डितने आश्चर्य है इस पदकी व्याख्यामें "व्यज्यते" 'ध्वन्यते' कुछ भी न लिखा! केवल "सारमेय कुक्कुर" कहकर ही छोड़ दिया है!)—कुत्तेको सारमेय शब्दसे सम्बोधन करनेमें यहां विशेष भाव है। "सारमेय" का अर्थ है सरमा (देवशुनी)—की सन्तान, (सरमाया

अपत्यं सारमेयः, वैनतेय इतिवत्) इस प्रकार यह कुरंग-घातक कुक्कुरकी कुलीनताकी ओर इशारा है। अर्थात् सरमा देवशुनीकी सन्तान होकर तू ऐसे अनर्थ और अविवेकका काम करता है, धिक्कार है तुझे। किसीको किसी बुरे कामसे हटानेके लिये उसकी कुलीनताकी दुहाई देना, पुरुषाओंके नामपर अपील करना बहुत प्रभावोत्पादक प्रकार है। इस अन्योक्तिका प्रतीयमान अर्थ है कोई अनर्थकारी कुलीन सेवक। इस प्रकार यह आर्या एक अच्छी उत्कृष्ट कविता है।

अब इसके मुकाबलेमें अपने विहारीका भी रंग देखिए। यहां भी यह साफ़ मज़मून ले उड़े हैं।

कुत्ता आख़िर परमुखापेक्षी कुत्ताही है। टुकड़ेके लालचसे उससे चाहे जो कुछ करा लो—शिकार पकड़वालो या भेड़ोंकी रखवाली करालो—वह स्वामीका द्वार छोड़कर कहां जाय! इसलिये उसका यह अनर्थ कार्य इतना आश्चर्यजनक नहीं, प्रत्युत क्षन्तव्य हो सकता है।

परन्तु व्योमैकान्तविहारी स्वच्छन्दचारी 'बाज' विहंगका पराये 'पाणि' (हाथ) पर बैठकर पंछी मारना, अत्यन्त अविवेकपूर्ण, आश्चर्यजनक और नितान्त निन्दनीय कर्म है। इसलिये बाज़को इससे ज़रूरही बाज़ रहना चाहिए।

"सारमेय" शब्दके समान यहां भी "विहंग" पद साभिप्राय है—(विहायसा गच्छतीति विहंगः)—जिसकी गति अनन्त आकाशमें है, जो सब जगह घूम फिरकर पेट भर सकता है, वह इस प्रकार दूसरेका वशवर्ती बनकर अनर्थ करे, इससे बुरी बात और क्या होगी।

आर्याकी अन्योक्तिका लक्ष्य कुलीन सेवक है, तो दोहे की अन्योक्तिका लक्ष्य कोई सर्वत्रगति, पर अनर्थकारी गुणवान्

मुसाहब है। फिर उपदेश भी कितने मधुर शब्दोंमें कितने अच्छे ढंगसे दिया है—

"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचार"

सो अब सहृदय विद्वान् विचार देखें, दोहा आर्यासे बढ़ गया है या नहीं ? कुत्ते और बाज़में भूमि और आकाशका अन्तर है कि नहीं !!

× × ×

दोहा—नेक उते उठ बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।

छुटी जात नहँदी छनक महँदी सूखन देहु ॥ ३५७

* * *

आर्या—"सुभग व्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं वयस्यापि।

उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किञ्चिदपगच्छ ॥"६६०॥

* * *

आर्याकी सखी सुभग सजनसे कह रही है कि ज़ोर ज़ोरसे जल्दी जल्दी पंखा झलते झलते, इस सखीके हाथ भी रह गये, सात्त्विक प्रस्वेदसे नायिका पसीना पसीना हो रही है, इससे सखीका 'उद्वर्त्तन (उबटन मलना) समाप्त होनेमें नहीं आता, कुछ हटकर बैठो। तुम्हारे सामीप्यसे सात्त्विक स्वेदके रूपमें प्रेमका प्रवाह बह रहा है, ज़रा हटके बैठो तो पसीना सूखे, तब उबटन मला जा सके ।

यही प्रसंग दोहेमें बँधा है, पर वहां 'उद्वर्त्तन' नहीं हो रहा, महँदी लग रही है, वह भी नाखूनोंपर, सो सात्त्विक पसीनेसे छुटी जाती है, सूखने नहीं पाती। इसलिये कहा जा रहा है कि "नेक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेह ?" लोकोक्ति क्या खूब है। क्यों मकानके पीछे पड़े हो ? तुमने तो मकानको

ऐसा पकड़ा है, कि छोड़ते ही नहीं,—"किञ्चिदपगच्छ" और "नेक उतै उठ बैठिये"का मतलब एक है, पर दोहेमें महावरेका ज़ोर ज़्यादह है। इसके अतिरिक्ति आर्याका भाव कुछ उद्वेगजनक है। सखीसमूहमें—एक तो यह कह रही है, एक पंखा झल रही है, दो एक उद्वर्तनमें लगी होंगी—फिर उद्वर्तनके समयमें भी नायकका वहीं ढई मारकर डटे रहना अत्यन्त अनुचित और परम स्त्रैणताका द्योतक है। इसपर भी "किञ्चिदपगच्छ" ही कहा जा रहा है। इस गुस्ताख़ी पर मकान छोड़ कर एकदम बाहर जानेका स्ट्रिक्ट आर्डर नहीं दिया जाता !

इधर दोहेमें 'महँदी' ने 'उद्वर्तन' का अनौचित्य दूर कर दिया। दोनोंमें बहुत अन्तर होगया। इस प्रसंगमें सखीसमाजकी सत्ताका पता भी नहीं चलता। "नेक उतै उठ बैठिये कहा रहे गहि गेह" इस उक्तिमें कितना माधुर्य है। विब्वोकहावयुक्त प्रेमकी मधुर भर्त्सनाका कैसा सजीव चित्र है !

यदि काकु और विपरीत लक्षणाके बलसे इसे दूसरी ओर लेजायँ तो भी एक चमत्कार है, जो आर्यामें नहीं है। फिर अनुप्रासोंके आधिक्यने दोहेको कितना श्रुतिमधुर बना दिया है। आर्यामें भी अनुप्रास है सही, पर इतना और ऐसा कहाँ !

× × ×

दोहा-मोरचन्द्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखबी पायनि पर लुठति, सुनियत राधा मान ॥६२८

* * *

आर्या-मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः ॥ ४३१ ॥

* * *

शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले !
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुमृजा॥ ५७८॥

* * *

दोनों आर्याएं एक ही भावकी हैं, उक्तिवैचित्र्यका भेद है। पहलीमें, श्रीकृष्णकी मौलिमाला बनी हुई तुलसीसे कोई कह रही है कि तुलसी ! तू कृष्णके सिरपर चढ़नेके कारण, राधाके सौभाग्यकी तुलना न कर, तेरी यह सारी सुगन्धमहिमा राधाके चरणोंको सुगन्धित करनेके लिये है। मानिनी राधाके चरणोंपर सिर रख कर कृष्ण जब उसे मनावेंगे तब तेरी यह सिर चढ़नेकी सारी शेख़ी किरकिरी हो जायगी।

दूसरीमें, शिवशिरस्थ चन्द्र-कलाको यही बात कोई कह रही है कि यह समझ कर कि मैं शिवजीके सिरपर सवार हूं सिरचढ़ी हूं—मत फूल, इसका फल यह होगा कि तुझे चण्डी-के (पार्वतीके) चरणोंकी रेणु साफ़ करनी पड़ेगी।

विहारीलालने इन्हीं दोनों आर्याओंकी छायापर अपने दोहेकी रचना की है। गोपवेश विष्णु (श्रीकृष्ण) के सम्बन्ध-में "मोरचन्द्रिका" ही कुछ सुहावनी प्रतीत होती है। राधा कृष्णके समय तुलसीकी पुरानी कथामें इतना स्वारस्य और औचित्य नहीं है, जितना इस 'मोरचन्द्रिका' में चमत्कार है। इसके प्रतापसे विहारीलाल 'अपहरण' के अपराधसे साफ़ बच गये। बात ही कुछ और हो गयी, नक्शा ही बदल गया।

आर्याएं बेचारी सप्तशतीकी गुफासे बाहर न निकलीं, और विहारीका यह दोहा सब जगह लोगोंकी ज़बानपर चढ़ा चक्कर लगा रहा है ! "यशःपुण्यैरवाप्यते।

× × ×

दोहा—फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाजकी लाव ।
अंग अंग छवि झौरमें भयो भौंरकी नाव ॥ २८१ ॥

*　　　*　　　*

आर्या—भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव ।
आवर्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥ ४२२ ॥

*　　　*　　　*

आर्याकारने स्नेह-जलमें धँसी हुई नायिकाको भँवरमें फँसी हुई नौका ठहराया है, जो विनयको—प्रतीयमान सखी आदिके प्रयत्नको—दूर करके, किसीके समझाने बुझानेकी परवा न करके, हिर फिरके वहीं स्नेह-जलमें स्थित है ।

उक्ति अपूर्व है, पर रूपक पूरी तरह बँधा नहीं, यद्यपि "स्नेहे पयसि' है, 'भ्रामं भ्रामं' है, 'विनयमपनीय' भी है। पर वह बात नहीं, जो दोहे में है । 'विनयमपनीय' की जगह विहारीलालने 'टुटी लाजकी लाव' बनाकर रूपकका रूप अधिक स्पष्ट कर दिया है। आर्यामें आवर्त्त 'अर्थोपात्त' है, प्रकृतमें भँवर स्थानीय कोई चीज़ नहीं कही गयी। दोहेके रूपकमें "अंग अंग छबि भौंर" बहुत चमत्कृत और चक्कर-दार भँवर आ पड़ा है। लाजकी मज़बूत लाव भी टूट गयी। अब उसमेंसे चित्त रूप नौकाका निकलना नितान्त कठिन है, असम्भव है। और फिर इस नावके (चित्तके) नाविकका स्पष्ट उल्लेख न करके कविने और भी कमाल किया है। चाहे 'अनया' समझिए, या 'अनेन । अथवा—"अस्याः" या "अस्य" ।

आर्यामें नायिकाको नौका बनाया है, और दोहेमें चित्त-को नाव ठहराया है, चित्तको नाव "कहना एक प्रकारसे औ-

चित्यपूर्ण है। उर्दूके कवियोंने भी किश्तिए-दिलके मज़मून बांधे हैं—

"किश्तिए-दिल की इलाही बहरे-हस्तीमें हो खैर।
नाखुदा मिलते हैं लेकिन बाखुदा मिलता नहीं॥"

(अकबर)

× × ×

दोहा—सबही तन समुहाति छन चलत सबन दै पीठ।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठ॥५६॥

* * *

आर्या—"एकैकशो युवजनं विलङ्घमानाद्घनिकरमिव बाला।
विश्राम्यति सुभग त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव॥१४४॥

* * *

"निहितान्निहितानुज्झति नियतं मम पार्थिवानपि प्रेम।
भ्रामं भ्रामं तिष्ठति तत्रैव कुलालचक्रमिव॥ २१८॥

* * *

एक ही बातके लिये गोवर्धनाचार्यजीको दो जगह हैरान होना पड़ा है, तोभी पूर्णरूपसे अर्थसिद्धि नहीं हुई, और विहारीलालने अपने एक ही तीरमें निशाना मार लिया है।

पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाया डुलाया जाय, वह हिर फिरके वहीं आकर ठहरता है। इस बातको गोवर्धनाचार्यने दो प्रकारसे निरूपण किया है, एक अंगुलि और 'मेरु' की उपमासे, दूसरे कुलालचक्रके दृष्टान्तसे। पहली आर्याका भाव है—सुभग! वह बाला एक एक युवकको लाँघती (छोड़ती) हुई तुझपर ही आकर ठहरती है। जैसे जप करते समय, उंगली मालाके सब दानों-से उतरती हुई सुमेरु-(मालाके बड़े दाने)-पर जाकर रुक जाती है। "मेरोरुल्लंघनं न कार्यमिति जापकसम्प्रदायः"—

जप करते समय सुमेरुके दानेका उल्लंघन न करना चाहिए, अर्थात् उससे आगे उंगली न बढ़ानी चाहिए, वहीं रोक देनी चाहिए, ऐसा जापक भक्तोंका नियम है।

दूसरी आर्याका भाव है कि कुम्हारके चाककी तरह मेरा प्रेम ऊपर लादे हुए पार्थिवोंको—(मिट्टीके घड़े आदि बरतनोंको पक्षमें राजाओंको)—भी पटक कर घूमघाम कर वहीं आकर ठहरता है।

इसी भावको प्रकट करनेके लिये विहारीलालने ऊपरके दोहेमें "किबलेनुमा" की नयी और फड़कती हुई अत्यन्त अनुरूप उपमासे निराला चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

जापक-सम्प्रदायको न जानने या न माननेवाली कोई उँगली, मेरु मणिका उल्लंघन चाहे कर जाय, पर किबलेनुमाकी चिड़िया, या सुई, अपनी कशिशकी जगह छोड़कर दूसरी जगह ठहर हीं नहीं सकती। और कुम्हारका चाक तो इसके सामने निरी मिट्टी है ही, वह जहां रख दिया है "तत्रैव तिष्ठति" गतिशून्य लक्ष्यरहित भारी जड़ पदार्थ "तत्रैव न तिष्ठेत् क नु गच्छेत्, इति पृच्छ्यन्तामाचार्यगोवर्द्धनाः !"

"निहितान् निहितानुज्झति" की अपेक्षा "चलत सबन दै पीठ" में बहुत ही औचित्य है।

विहारीकी इस किबलेनुमाकी उपमाको 'रसनिधि' ने भी अपने "रतन हजारा" में रखा है—

"अपनौ सो इन पै जितौ लाज चलावत जोर।
किबलनुमालौं दृग रहैं निरख मीतकी ओर॥"

परन्तु इसमें और उसमें इतना ही फ़रक है, जितना असलमें और नक़लमें होता है।

× × ×

दोहा—"कंज नयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अंगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार ॥६०

* * *

आर्या—"चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥२३१॥

ये दोनों एक ही दृश्यके चित्र हैं। आर्या-चित्रमें कोई किसीसे कहती है कि केश सँवारनेमें गर्दन तिरछी झुकाए, पीठ फेरे हुए भी यह उँगलियोंसे केशोंके बीचमें देखनेका मार्ग बनाकर, देखो, तुम्हें देख रही है।

"चिकुरविसारण"—(केशपरिष्करण) और "ब्यौरति बार", "अङ्गुलिकल्पितकचावकाशा" और "कच अंगुरिन बिच दीठि दै"—"विलोकयति" और "चितवति"—दोनों जगह एक हैं। पर "नन्दकुमारकी" कृपासे विहारीका चित्र अमूल्य हो गया है। सहृदय भावुकोंकी दृष्टि बलात् अपनी ओर खींचता है। दोहेका माधुर्य आर्यासे कहीं बढ़ा चढ़ा है। पढ़नेवालेकी ज़बान और सुननेवालेके कान इसमें साक्षी हैं। कस्तूरीकी गन्ध सौगन्धकी हाजत नहीं रखती।

---

(३)—अमरुकशतक और विहारीसतसई

दोहा—पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरायँ।
अँसुवाँ परि छातिया छनक छनछनाय छपि जायँ ॥४२६॥

* * *

पद्य—"तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि-
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः।

मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे-
र्नूनं छुमच्छुमिति वाष्पकणाः पतन्ति ॥८६॥"

* * *

इस दोहेकी रचनाके समय विहारीकी दृष्टिमें अमरुकका यह "छुमच्छुमिति बाष्पकणाः पतन्ति" "नूनं" घूम रहा था। तथापि दोहा उससे कहीं उत्कृष्ट हो गया है। दोहेमें शब्दचमत्कारके अतिरिक्त अर्थचमत्कारका आधिक्य भी बहुत बढ़ा चढ़ा है। अमरुकके यहां वाष्पकणोंके छुन छुन करके गिरनेका कारण "महाविरहवह्निशिखावलिभिस्तप्ते" पदमें स्पष्ट है, पर विहारीके यहां यह बात छिपी है, इतनी कसर जरूर है। अमरुकके पद्यमें विरहके साथ 'महत्' पद अच्छा नहीं—यह बड़े अनर्थकी सूचना दे रहा है 'महाविरह' पद 'महानिद्रा, 'महायात्रा की तरह 'मृत्युविरह' की अमङ्गलताका सूचक है—परन्तु अमरुककी विरहिणीका नायक महाप्राणताकी कृपासे अभी विद्यमान है, वही तो यह कह रहा है कि 'मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टेः' इतनी खैर है। इसने अमङ्गलताके पांव जमने नहीं दिये, बात आयी गयी हुई। अमरुकके "बाष्पकणाः पतन्ति" से प्रकट है कि बाष्पकण नीचे गिर रहे हैं, छुन छुनाकर छिप नहीं जाते। विहारीके यहां सन्तापाधिक्य बहुतही प्रबल है, वहां आँसू गिर नहीं सकते, छुन छुनाकर वहीं छिप जाते हैं। विहारीने आँसुओंकी उत्पत्ति और पतनका प्रकार बहुत विलक्षणतासे कथन किया है। इसमें एक खास चमत्कार हैं। 'बरुनीनिबढ़' से बरोनियोंकी सघनता और वियोगचिन्तामें अर्धनिमीलन दशाकी प्रतीति होती है—यदि आँखें बिलकुल खुली हों तो पलकें ऊपरको उठी रहनेसे, और बिलकुल बन्द हों तो पलकोंके सिरे नीचेको होनेसे—आंसू

इकट्ठे होकर, बढ़कर नहीं गिर सकते। "नहिं कपोल ठहरायँ"—से कपोलोंकी श्लक्ष्णता—स्निग्धताकी ध्वनि निकलती है। जहां निगाहके *पांव रपटते हैं वहां पानीकी बूंदें कैसे ठहर सकती हैं! "परि छुतिया छुनक छुन छुनाय छुपि जायँ"—में 'छुनक' पदसे आंसुओंकी अधिकता और निरन्तर पतन—(आंसू थोड़े हों तो क्षणभर भी नहीं ठहर सकते)—'छुनछुनाय छुपि जायँ' से वियोग-सन्तापका आधिक्य व्यङ्ग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यङ्ग्य होनेसे यह दोहा ध्वनिकाव्यका उत्तम उदाहरण हैं। और अमरुकका पद्य, बस समझ लीजिए इसके सामने जो कुछ है, सो है।

इस दोहेको पढ़कर महाकवि कालिदासके कुमारसम्भव-का यह पद्य-रत्न—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
बलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥"

और इसपर मल्लिनाथकी व्याख्या, उसका यह वाक्य "अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात्परिकरालंकारः", और इसी पद्यपर चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षितकी अतिमनोहर मीमांसा और उसका यह निष्कर्षवाक्य "एवं च वाच्यातिशयि

---

* निगाहके पांव रपटते हैं—

"क्या कहूँ इस सफ़ाइए-आरिज़को, वहां निगहका क़दम रपटता है" (सौदा)

"रपटत लोचन चिलक देख बलभद्र" (बलभद्र)

"ऐसी सिलसिली ओप सुन्दर कपोलनकी,
खिसल खिसल परै दीठि जिनि परतें।" (सुन्दर)

व्यङ्ग्यमत्रेति ध्वनेरुदाहरणमिदम् ।" याद आ जाते हैं। भेद इतना सा ही है कि एक जगह—कुमारसंभवके उस पद्यमें, 'योगिनो' (तपस्विनी) पार्वतीकी तपश्चर्यादशाका वर्णन है और दोहेमें किसी वियोगिनीकी विरहदशाका चित्र है।

× × ×

दोहा—"मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ रही गरै लपटाय ॥ २१४ ॥

* * *

पद्य—शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥८२॥

* * *

अमरुकका यह पद्य साहित्यपाठियोंमें बहुत प्रसिद्ध है। इसकी * व्याख्या यहां नहीं कीजायगी। केवल इतना

---

* व्याख्या करते संकोच होता है, डर लगता है कि "अर्वाचीन-साहित्यविवेचनाकार' माननीय मित्र श्रीमान् साहित्याचार्य पण्डित शालिग्रामजी शास्त्री, कहीं दुबारा न बरस पड़ें। उनकी आज्ञा है कि इस श्लोककी व्याख्यास्तुति न कीजाय—

"आदर्शो मणिरेव वाथ हृदयं येषां परार्थग्रहे
ये वा भाविनि भारतीयविभवे सर्गप्रतिष्ठापकाः।
येषां चारुचरित्ररक्षणविधौ प्रेक्ष्यं सदा शिक्षकैः
'शून्यं वासगृहं' स्तुवन्ति गुरवो हा हन्त तेषां पुरः ॥"
(अर्वाचीनसाहित्यविवेचना)

इस पद्यका पूर्व प्रकृत गद्यस्थ 'किशोरकाणां' तथा पद्यस्थ 'गुरवः' पद उपलक्षण हैं अन्य श्रोता और वक्ताके भी।

निवेदन ही पर्याप्त होगा कि विहारीका यह दोहा अमरुकके इसी प्रसिद्ध पद्यका "तुल्यदेहितुल्य" प्रतिद्वन्द्वी है। अमरुकने जिस गोपनीय घटनाकी अपने पद्यमें विशद व्याख्या करके रसिकोंको चौंका दिया है, ठीक उसी घटनाका उक्ति-वैचित्र्यसे विहारीने भी वर्णन किया है, और हम समझते हैं खूब किया है। खासकर दोहेका उत्तरार्ध बहुत ही उत्तम हो गया है। उसमें पर्याय-व्यापारोंका बड़ा ही मनोहर शब्दचित्र खिंच गया है। फिर दोहेकी शब्दस्थापना-पर ध्यान दीजिए, कितना गढ़कर—दृढ़तासे सन्धि मिला कर—शब्दोंको बिठलाया है कि ज़रा भी कहीं शिथिलता का नाम नहीं, एक मात्रा भी इधर उधर नहीं हो सकती— "हँस्यौ, खिसानी। गर गह्यौ, रही गरै लपटाय।" अंगूठीपर नगीनेसे जड़ दिये हैं।

× × ×

दोहा—*"पति रतिकी बतियां कहीं सखी लखी मुसकाय।*
कैकै सबै टला टली अली चलीं सुख पाय॥ ३६॥

* * *

पद्य—"त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः॥" ३७

* * *

यहां भी विहारीने अमरुकके "प्रबन्धशतायमान" पद्यसे अपने दोहेकी टक्कर लड़ायी है, "शार्दूलविक्रीडित"का दोहेकी दुनाली बन्दूकसे मुक़ाबला किया है, और खूब किया है,

निशाना मार लिया है। अमरुकके फूलोंकी टोकरीका विहारी-ने अपने दोहेकी शीशीमें किस खूबीसे अतर खींच कर रख दिया है।

पद्यके पूर्वार्धका भाव "पति रतिकी बतियां कहीं" इतनेमें ही आगया है। पद्यमें सखीसमाजके सामने हाथापाईकी काररवाई, सभ्यताकी सीमाका उल्लंघन कर गयी है। विहारीने उसे "रतिकी बतियां" में परिणत करके औचित्यके अन्दर ला दिया है। पद्यके "अलीकवचनोपन्यासं"का सार 'टलाटली' इस वाक्य-बिन्दुमें है। "आलीजनो निर्यातः" को "अली चलीं" समझिए। "सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितः" इस समस्त वाक्यकी बखिया उधेड़ कर "सखी लखी मुसकाय" और "सुखपाय" ये पृथक् पृथक् टुकड़े कर दिये हैं।

अब चाहे इसे छायापहरण समझिए, या "अर्थापहरण" कहिए, या अनुवाद नाम रखिए, जो कुछ भी हो, है अद्भुत लीला। इससे अच्छा और हो नहीं सकता। इसपर पदावलि कितनी श्रुतिमधुर है, अनुप्रासका रूप कितना मनोहर है, कि सुनते और देखते ही बनता है।

× × ×

दोहा——सखी सिखावति मानविधि सैनन बरजति बाल।

हरुये कहि मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥७१३॥

* * *

पद्य—"मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥"

* * *

अमरुकके इस पद्यरत्नने भी साहित्यके जौहरियोंसे बड़ी क़द्र और क़ीमत पायी है, इसकी भी बड़ी धूम है, और सच-मुच है भी इसी योग्य, इसकी प्रशंसामें जो कुछ कहा जाय अनुचित नहीं है। इसका भाव है—नारदमुनिकी चेली कोई सहेली, किसी भोली भाली पतिप्राणा मुग्धाको "मानविधि" का पाठ पढ़ाने बैठी है,—"क्या इसी सिधलेपनसे सारा समय बितानेकी ठानी है? ऐसे कैसे गुज़ारा होगा? देख धैर्यपूर्वक मानको धारण कर, प्रियके साथ इस सरलताको काममें मत ला, जरा टेढ़ी बांकी बनकर रह—"

'मानविधि'के इस विद्रोहपाठको सुनकर बेचारी मुग्धाके होश उड़गये, हृदयेश्वरके साथ ऐसा विद्रोह! विद्रोहशिक्षा-पर व्याख्यान देनेवाला तो प्रेमराज्यमें बच जाता है, पर श्रोतापर विपत्ति आ जाती है, इस डरसे घबरायी हुई मुग्धा कहती है—"ऊँचे मत बोल, मेरे हृदयमें स्थित प्राणेश्वर कहीं न सुन पावें, चुप रह।"

बिहारीका दोहा इसीकी छाया है। पर ध्यान दीजिए तो एक बातमें इससे बढ़ गया है। "सखी सिखावत मानविधि" इस वाक्यमें अमरुकके पद्यके पूर्वार्धका "सख्यैवं प्रतिबोधिता" तक सब भाव आगया है। मानविधिके प्रकारका इस प्रकार विस्तारसे वर्णन न किया जाय तो कुछ हानि नहीं, प्रेमके पचड़ोंसे परिचित रसिक जनोंके लिए यह कोई नयी बात नहीं, उन्हें समझानेको "मानविधि" इतना इशाराही काफ़ी है। पद्यके "मुग्धा" पदके मुकाबलेमें दोहेमें "बाला" पद है ही। "नीचैः शंस" और "हरुये कहि" में भी भाषाभेदके सिवा कोई फ़रक़ नहीं। अब इसके आगे 'बिहारीलाल' का चमत्कार बहुत विलक्षण है।

विहारीलालके दोहेकी 'बाला' अमरुककी 'मुग्धा' की तरह शब्दोंमें यह नहीं कहती कि 'ऊँचे मत बोल, नहीं तो प्राणपति सुनलेंगे।' वह "सैननि बरजति" आंखके इशारेसे निषेध करती है। वह इस प्रपंच प्रसंगमें सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दोंमें मना करते भी डरती है, 'धीरे बोल' यह भी इशारेसे ही समझाती है, सखी द्वारा इस प्रस्तुत प्रसंगमें किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा कण्ठ-द्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरेसे बोलनेका इशारा भी इसलिए नहीं कर रही कि वह चुपकेसे सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित् इस कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बातपर सखीका उपहास न करे! अन्यथा जिसके हृदयमें "सदा विहारीलाल" बस रहे हैं, वह चुपकेसे भी इस विद्रोह षडयन्त्रमें शरीक होनेका कैसे साहस करेगी? यह ज़रा सोचनेकी बात है!

"हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति"

इसकी अपेक्षा "मो हिय बसत सदा विहारीलाल" में कहीं अधिक चमत्कार है। "विहारीलाल" पद यहां बड़ा ध्वनिपूर्ण है—सब जगह विहार करनेका जिनका स्वभाव है, जो पूरे "हरजाई" हैं वह "विहारी" जब प्रेमाधीन हो, अपने स्वभावको छोड़ मेरे हृदयमें सदा बसते हैं—यहीं डेरा डाले हुए हैं—फिर मानको अवकाश कहाँ? धन्य विहारीलाल तुम्हारी लीला!

"ग़रज़ वाइज़की महनत रहगयी सब रायगां होकर"

* * *

शृंगारसतसई (रामसतसई)के रचयिताने भी इस

भावको अपने दोहेमें भरा है, विहारीका अनुकरण किया है, पर वह बांकपन कहाँ !

"हिय लोचनमें भरि रहे सुन्दर नन्दकिसोर ।
चलत सयान न बावरी मान धरौं किहि ठौर ॥"

(४) *विहारी और संस्कृतके अन्य कवि*

संस्कृतके अन्य महाकवियोंके पद्योंकी छाया भी कहीं कहीं सतसईमें पायी जाती है। इसकी भी कुछ बानगी देखिए—

दोहा—"मरिवेको साहस कियौ बढ़ी बिरहकी पीर ।
दाराति है समुहै ससी सरासिज सुरभि समीर" ॥४३४॥

* * *

पद्य—"धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते
मार्गे गात्रं क्षिपति बकुलामोदगर्भस्य वायोः ।
दावप्रेम्णा सरसबिसिनीपत्रमात्रान्तराय-
स्ताम्यन्मूर्त्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ॥"
(भवभूति, मालतीमाधव)

* * *

भवभूतिने माधवकी विरहविह्वलताके इस वर्णनमें एक एक करके प्रायः सब 'उद्दीपन विभावों' को गिना दिया है। अर्थात्—विरहसे अधीर होकर माधव, मृत्युके लिये बौरे हुए आमपर दृष्टि डालता है, कोकिलकी कूकपर कान लगाता है। मौलसिरीकी गन्धसे सुगन्धित वायुके मार्गमें लोटता है। दावाग्निकी बुद्धिसे, भीगे हुए कमलपत्रोंको ऊपर ओढ़ता है, जब इनसे भी काम निकलता नहीं देखता तो विरहिजनोंके घातकोंमें शिरोमणि चन्द्रकिरणोंकी शरणमें जाता है।

विचित्रालंकारका क्या ही उत्तम उदाहरण है, विरहीजनका उपचार भी कितना विचित्र है। चन्द्र आदि पदार्थ, जो सन्ताप-शान्तिके लिये औषध हैं, उनसे ही यहां सन्तापोद्दीपन द्वारा मृत्यु मांगी जाती है।

विहारीके दोहेमें इतनी उद्दीपनसामग्रीका संग्रह नहीं है, इस कारण इसे हीनता न समझिए, इसमें भी एक बात है. भवभूतिके यहां "महाप्राण" माधव (पुरुष) की दशाका वर्णन है, उसकी अभीष्ट सिद्धिके लिये इतने ही घातक उद्दीपनों-की आवश्यकता है. और इधर दोहेमें एक बेचारी विरहिणी अबलाका वर्णन है, उसका काम तमाम करनेको इनमेंसे एक आध घातक भी पर्याप्त है, घातकोंकी सेना दरकार नहीं है। हम समझते हैं यही समझ कर कविने उद्दीपनसामग्रीका अधिक विस्तार नहीं किया।

इस प्रसंगमें उस प्रसिद्ध संस्कृत पद्यके ये वाक्य स्मरण कीजिए तो विरही और विरहिणीकी सहनशीलताका भेद मालूम हो जाय—

"कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव"

× × ×

पद्य—"जानुभ्यामुपविश्य पार्ष्णिनिहितश्रोणिभरा प्रोन्नमद्-
दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यन्नखाङ्कावलिः।
पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तरं
बाला नह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः॥"

* * *

किसी संस्कृत कविका यह उद्भट पद्य जूड़ा बाँधनेकी दशापर बड़ी ही सुन्दर स्वभावोक्ति है, हूबहू नक्शा उतार

दिया है, तस्वीर खींच दी है। एक नुक़्तेका फरक़ नहीं छोड़ा पर इसका जवाब विहारीका यह दोहा हो सकता है—

दोहा——कच समेटि कर भुज उलटि खए सीस पट टारि ।
काकौ मन बांधै न यह जूरौ बांधनिहारि ॥ ४४२ ॥

* * *

दोहेके आकारमें जितनी गुंजायश थी, कामकी कोई बात नहीं छोड़ी, सब परमावश्यक क्रियाविशेषण मौजूद हैं। "बाला नह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः ।" की "किं वा मदीयं" इस परिच्छेदोक्तिमें इतना चमत्कार नहीं, जितना दोहेके इस परिच्छेदशून्य कथनमें है—

'काकौ मन बाँधै न यह जूरौ बाँधनिहार ।"

सहृदयोंका भावक हृदय इसमें साक्षी है। अस्तु, यह तो हो गया, पर विहारीके इस दोहेका जवाब नहीं है—

दोहा——छुटे छुटावैं जगततें सटकारे सुकुमार ।
मन बांधत बेनी बँधे नील छबीले बार ॥४४१॥

* * *

इसका जवाब किसीको याद हो तो बतलावें? क्या कहना है, क्या कही है। ये बाल क्या हैं, काली बला हैं। एक आफ़त हैं, क़यामत हैं। छुटे हुए चैन लेने दें न बँधे हुए !!

केशकलापकी इस लोकोत्तर महिमासे अनभिज्ञ कोई संस्कृत कवि क्या बेतुकी बात कहने बैठे हैं—

"कमलाक्षि ! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभारबन्धने ।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ॥"

* * *

आप कहते हैं कि ज़रा ठहरियो, अभी जूड़ा न बाँधो, मेरी आखें केशपाशके सघन जालमें फँसी हैं, मैं ज़रा उन्हें आहिस्ता आहिस्ता उभार लूँ, वहांसे उन्हें निकाल लूँ। कहीं वह बालोंमें बँधी न रह जायँ।

क्या अच्छी सूझी है, इन हज़रतने यदि विहारीसे केशों-की करामात सुनी होती तो ऐसी फ़िज़ूल आरज़ू कभी न करते। अरे बाबा! आंखें ज्यों ज्यों करके निकाल भी लीं तो क्या हुआ! इस नागनके मुहमेंसे 'मन' तो नहीं निकाल सकोगे!

* * *

उर्दूके बूढ़े कवि मीरहसन भी इस बारेमें सिर्फ़ इतना ही जानते थे—

'लटोंमें कभी दिलको लटका लिया,
कभी साथ बालोंके झटका दिया।"

× × ×

दोहा—तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझे चुकति नहीं बंक बिलोकनि बान ॥४६७॥

* * *

पद्य—' मुग्धे! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः।"

* * *

ऊपरके पद्यमें कहा गया है कि मुग्धे! तुझे यह कैसी अपूर्व धनुर्विद्या आती है, जिससे तू गुणोंसे ही चित्तोंको बींधती है, बाणोंसे नहीं।

पद्यके केवल "गुणैः" पदमें एक ज़रासी करामात है, जिससे यह साहित्यसंसारमें अच्छी प्रसिद्धि पा गया है,

गुण शब्द श्लिष्ट है, गुणका अर्थ है, सौन्दर्य आदि और कमानकी डोरी। अब जरा तुलनात्मक दृष्टिसे देखिए, इसे देखे विहारीका दोहा करामातोंकी खान है कि नहीं।

पद्यके पूर्वार्धका भाव "तिय कित कमनैती पढ़ी" दोहेके इस एक पादमें आ गया है। अब इसके आगे इस प्रश्नकी व्याख्या—कमनैतीकी अपूर्वता—प्रारम्भ होती है। इस कमनैतीमें भौंहकी कमान तो है, पर उसपर, जिह (ज्या) डोरी नहीं है। "बंकविलोकनि बान" बाण हैं, सो तिरछे टेढ़े-(तिरछी नज़र)—यह तो कमनैतिकी सामग्री है—बिना डोरीकी कमान, और टेढ़े बान—और लक्ष्य (निशाना) है अलक्ष्य 'चल चित्त' निमेषमात्रको जिसकी गति नहीं रुकती, संसार भरके चञ्चल पदार्थ जिसके सामने पंगु हैं, खुर्दबीन और दूरबीनसे भी जो दीख नहीं पड़ता, ऐसा चञ्चल चित्त है निशाना। इसपर भी वार ख़ाली नहीं जाता "बेधै चुकत नहीं" दिले-बेक़रार बिंध ही तो जाते हैं। मजाल है निशाना जरा चूक जाय। इसका नाम है विचित्र कमनैती !!

दुष्यन्तके सेनापति इतनेको ही धनुर्धारियोंका उत्कर्ष माने बैठे थे कि भागते दौड़ते जंगली जानवरोंपर निशाना ठीक बैठ गया, और बस !

"उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले"

(अभिज्ञानशाकुन्तल)

वह विहारीकी इस कमनैतीका करतब देखते तो जानते कि उत्कर्ष इसमें है उसमें तो ख़ाक नहीं—

"बड़े मूज़ीको मारा नफ्सअम्मारेको गर मारा,
निहंगो अज़्दहावो शेर नर मारा तो क्या मारा !" (ज़ौक़)

* * *

इस मैदानमें उर्दूके महारथि तीरन्दाजोंके हाथ भी ज़रा देख लीजिए, कैसी समस्यापूर्ति सी कर रहे हैं। एक उस्ताद कहते हैं—

"तिरछी नज़रोंसे न देखो आशिक़े-दिलगीरको,
कैसे तीरन्दाज़ हो सीधा तो करलो तीरको।"

* * *

"आतिश" भी इनकी ताईद करते हुए कहते हैं—

"तिरछी नज़रसे तायरे-दिल हो चुका शिकार,
जब तीर कज पड़ेगा तो देगा निशाना क्या॥"

* * *

तीसरे, तीरे-नज़रके मजरूह फ़र्माते हैं—

"ख़ता करते हैं टेढ़े तीर यह कहनेकी बाते हैं,
वो देखें तिरछी नज़रोंसे ये सीधे दिल पै आते हैं॥"

* * *

बस देख लिया, ये भी टेढ़ी सीधी बहससे आगे न बढ़ सके।

× × ×

दोहा——कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय॥६४८॥

* * *

पद्य—"सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोपि मदप्रदः॥"

* * *

ऊपरका 'उद्भट' श्लोक नहीं कह सकते इस दोहेको देखकर बना है, या दोहा इसे देखकर। यदि यह दोहेको देखकर बना है तो अपनी असलियतसे बहुत दूर जा पड़ा, और यदि

दोहेकी रचना इसे देखकर हुई है तो विहारीने मज़मून छीन लिया है।

श्लोकका भाव है कि जिसके पास बहुतसा सुवर्ण है, उसे मद क्यों न हो। जिस सुवर्णके नामसादृश्यसे धतूरेमें भी मादकता आगयी है, वह स्वयं मादक क्यों न होगा।

श्लोकमें एक तो "बहु" पद व्यर्थ है, भरतीका है। जो पदार्थ मादक है, वह बहुत हो या थोड़ा, मादकता उसके साथ है। यदि बहुत परिमाणमें ही कोई पदार्थ मादकता प्रकट करता है, तो उसमें कुछ चमत्कारयुक्त वैशिष्ट्य नहीं।

दूसरे "सुवर्ण" और "धुस्तूर" पदोंमें साक्षात् इतना नाम-साम्य भी नहीं है. जितना 'कनक'—'कनक' में सादृश्य है। "धत्तूरः कनकाह्वयः" इस कोशवाक्यके बलसे यदि सुवर्णके सब पर्याय, धतूरेके पर्याय यथाकथञ्चित् मानभी लिये जायँ, तथापि लोकमें साम्यप्रसिद्धि केवल 'कनक' शब्दमें है। वैद्यक ग्रन्थोंमें भी धतूरेके लिये 'कनक' शब्द ही प्रायः व्यवहृत है, सुवर्ण या उसके अन्य पर्याय—हिरण्य, तपनीय, अष्टापद, शात-कुम्भ इत्यादि नहीं। प्रयोग और प्रसिद्धिके सामने कोशकी एक नहीं चलती, कोश धरा ही रहता है, जो शब्द जिस अर्थ-में प्रसिद्ध होगया, सो होगया, जो रह गया, सो रह गया।

इसके अतिरिक्त किसी मादक पदार्थके नाम-साम्यसे ही कोई पदार्थ मादक हो जाय, इसमें प्रमाण नहीं। 'आबे-गौहर' में भी 'आब' है, पर उसके छिड़कावसे न धूल दब सकती है न पीनेसे प्यास बुझ सकती है। दोहेमें कनकके पानेमें मादकता बतलायी गयी है, जो अनुभवसिद्ध है। अनेक विष ऐसे हैं जिनके स्पर्शसे और पास रखनेसे मनुष्य बौरा जाता है। दृष्टिविष सर्पके देखनेमें भी घातकता होती

है। इसलिये दोहेमें जो "उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय" कहा है, वह यथार्थ है। श्लोकमें केवल कविकल्पना-का सूक्ष्म चमत्कार है, यथार्थताका अभाव है। दोहेमें दोनों बातें हैं। इस कारण दोहेके "कनक कनकते सौ गुनी" वाक्यमें श्लोककी अपेक्षा अधिक नहीं तो सौ गुनी उत्कृष्टता अवश्य है।

× × ×

दोहा-या भव पारावार को उलँघि पार को जाय।
तियछवि छायाग्राहिनी गहै बीचही आय ॥६८१॥

* * *

पद्य—"संसार! तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

* * *

श्रीभर्तृहरि महाराजकी उल्लिखित श्रुतिमधुर सूक्ति बड़े मार्केकी चीज़ है। इसे सुन कर विरक्त जनोंके शुष्क हृदयोंमें भी सरसताके रक्तका संचार होने लगता है, बिजलीसी दौड़-जाती है, भावशबलताकी प्रबल तरङ्गोंका तूफान उठने लगता है। वे बड़ी आनन्दमुद्रासे आंखें बन्द करके, झूमझूम कर, हर्षातिरेकसे रुक रुक कर, एक एक पदपर विराम करते हुए—

" संसार!—तव—निस्तार-पदवी—न—दवीयसी—अ-न्तरा—दुस्तरा—न—स्यु—र्य दि—रे मदिरेक्षणाः!!!

इस प्रकार पाठ करते करते जब अन्तिम पद ' मदिरे-क्षणा" के पास पहुंचते हैं तो एक साथ बेदम होकर निराशाके अथाह समुद्रमें डूब जाते हैं। उन्हें इस बरफकी पहाड़ीसे टकरा कर अपने वैराग्यरूप निर्भय 'टैटनिक' के भी टुकड़े होते दीखने लगते हैं। इस 'तारपीडोकी तनिक टक्करसे शमदमादि सुदृढ़ साधनोंके बड़े बड़े बेड़े चकनाचूर होते दीख पड़ते हैं।

पर हम समझते हैं इसमें कोई ऐसी घबरानेकी बात नहीं है। भर्तृहरिजीने तो सिर्फ "दुस्तराः—दुःखेन तीर्यन्त इति दुस्तराः—कहा है। "केनाप्युपायेन कथमपि तरीतुमशक्याः" तो नहीं कहा! फिर घबरानेकी कौन बात है? यदि जहाज़ कमज़ोर है, समुद्रमें तूफान आनेका या किसी छिपी चटानसे टकरानेका डर है, या तारपीडोकी टक्करका भय है, तो जाने दो इस जहाज़को, हवाई जहाज़पर बैठकर समुद्रको पार कर जाओ।

स्वामीजी महाराज! छक्के तो विहारीके इस दोहेको सुन कर छूटते हैं, देखिए, ज़रा संभल कर, धैर्य धर कर सुनिए। वाक्यसमाप्तिके पूर्वही कहीं समाधि न लगा जाइए। हाय रे निष्ठुर विहारी! तेरी विभीषिकाने तो किसी तरह भी कहींके न छोड़े, एकदम सारे साधन ही बेकार कर दिये!

तिय-छबि छायाग्राहिनी घरे बीच हीं आय।

हरे हरे! इससे भला कोई कैसे बचने पावेगा! यह तो ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाजोंको भी छाया पकड़ कर—अनायास नीचे खींचकर—निगल जायगी! इस छाया-ग्राहिनी के पंजेसे छूटना तो सिर्फ 'पवनसुत' महायोगी महावीरजीका ही काम था। पर महावीर तो एकही थे, सब कोई तो महावीर नहीं हैं? नहीं हैं तो फिर पड़ो छायाग्राहनीके जालमें। देखा? डरानेवाले भयका ऐसा भयानक रूपक बांधा करते हैं—"तिय छविछायाग्राहिनी—दुस्तरा मदिरेक्षणाः—तियछविछायाग्राहिनी—"

(५) बिहारी और उर्दू कवि

बिहारी और उर्दू कवियोंकी कवितामें भी कहीं कहीं भावसाम्य है। पर वह छायात्मक नहीं। उसे इत्तफ़ाक़िया 'तवारुद' कह सकते हैं। "सौ स्याने एक एक मत" के अनुसार तबीयतें एक नतीजेपर जा पहुची हैं। जान बूझकर या एक दूसरेको देखकर ऐसा नहीं हुआ। जिन उर्दू कवियोंके पद्योंसे बिहारीके दोहोंका मुकाबला किया गया है, वे सब बिहारीके पश्चात्‌वर्ती हैं। पर जहांतक मालूम है उन्होंने भी बिहारीकी कविताको देखकर अपने यह पद्य नहीं लिखे, वे हिन्दी नहीं जानते थे। अचानक मज़मून लड़ गये हैं। अस्तु, इसके भी कुछ नमूने सुन लीजिए—

शेर—"उनके देखेसे जो आजाती है रौनक़ मुँहपर।
वो समझते हैं कि बीमारका हाल अच्छा है।" (ग़ालिब)

*   *   *

अर्थात् अपनी विरहजन्य कृशता या दयनीय दशा, प्रेमी अपने प्रेमपात्रपर किसी प्रकार ज़ाहिर नहीं कर सकता, क्योंकि विरहकी दशामें प्रेमपात्र उसके पास नहीं होता, और जब वह आता है तब हर्षातिरेकसे उसकी दशा बदल जाती है।

इस शेरकी मौलाना हालीने बहुत प्रशंसा की है। 'दीवाने-हालीके मुक़द्दमे" और "यादगारे-ग़ालिब" में इसे उद्धृत करके दिखलाया है कि यह शेर कविकी प्रतिभाशक्तिका सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसके शब्द और अर्थ दोनोंमें समान रूपसे प्रतिभाका प्रकाश झलकता है। इसके साथ एक शेर शेख़सादीका यह लिखा है—

'गुफ्ता बूदम् चु बियाई ग़मे-दिल बा तो बगोयम्,
चे बगोयम् के ग़म अज़ दिल बरवद चूँ तो बिआई।'

* * *

अर्थात् प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे कहता है कि मैं कहता था कि जो तू आवे तो दिलका ग़म तुझसे कहूँ, पर अब क्या कहूँ, क्योंकि जब तू आता है तब दिलसे ग़म ही जाता रहता है। हाली कहते हैं कि इन दोनों शेरोंका अभिप्राय तो यही है कि किसी प्रकार अपना दुःख या सन्ताप प्रेमपात्रपर ज़ाहिर नहीं किया जा सकता। पर सादीके बयानमें यह सन्देह बाक़ी रह जाता है कि सम्भव है, प्रेमपात्र अपने प्रेमीकी ज़ाहिरी बदहाली देखकर समझ जाय कि इसका मन सन्तप्त है। क्योंकि सादीके बयानसे सिर्फ़ यही मालूम होता है कि प्रेम-पात्रके आनेसे ग़म जाता रहता है न यह कि ज़ाहिरी हालत भी बदल जाती है। पर मिर्ज़ा ग़ालिबके बयानमें यह सन्देह भी नहीं रहता। तथापि सादीके शेरको मिर्ज़ाके शेरपर तर्जीह देनी चाहिए, क्योंकि वह इससे पहिला है।

यह तो हुई शैख़सादी और मिर्ज़ा ग़ालिबकी बात। अब देखिए ब्रजभाषाके गोवर्द्धनाचार्य कविराज विहारीलाल इसी विषयको ग़ालिबसे पहले कैसे अच्छे और निराले ढंगसे कह गये हैं—

दोहा—"जौ वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नैकु बिलोकिए चलि औचक चुपचाप" ३०८

* * *

अर्थात् जो आप उस विरहिणीके शरीरकी दशा देखना चाहते हैं तो मैं बलिहारी, ज़रा अचानक और चुपचाप चल कर देखिए। यदि आपके पहुँचनेकी उसे ख़बर होगयी तो

उसकी कृशता और दुर्बलता दूर होकर उसे स्वस्थता प्राप्त होजायगी, फिर उसकी विरहजन्य अवस्थाका ठीक ठीक प्रत्यक्ष अनुभव आपको न होसकेगा, इसलिये मेरी प्रार्थना है कि अचानक और चुपचाप चलकर उसे देखिए, जिससे मेरी बातपर आपको विश्वास हो और उसपर दया आवे।

हमारी रायमें यह दोहा उक्त दोनों शेरोंसे बहुत उत्कृष्ट है। इन शेरोंसे तो यही पाया जाता है कि प्रेमपात्रके पहुँचने या उसे देखनेपर ही प्रेमीकी हालत बदल जाती है। पर दोहेमें 'औचक' 'चुपचाप' शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि यदि अचानक और चुपचाप न चले और किसी प्रकार तुम्हारे चल पड़नेकी ख़बर भी उस तक पहुँच गयी तो तुम्हारे पहुँचनेसे पहिले—इस शुभ संवादके पहुँचतेही—उसकी दशा औरसे और होजायगी, जिससे आप उसे उस दयनीय अवस्थामें न देख सकेंगे जिसमें दिखाना अभीष्ट है।

× × ×

दोहा—"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति॥" २७३

* * *

शेर—"सोहबत तुझे रक़ीबसे मैं अपने घरमें दाग़,
कीधर पतंग, शमअ कहां, अंजमन कुजा।
(सौदा)

* * *

विहारीका यह दोहा "असङ्गति" अलङ्कारका अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। वैसे तो यह असंगतिका उदाहरण है पर इसकी बातें बहुतही सुसंगत हैं। स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट

इस असंगतिकी भावभंगीपर बेतरह लट्टू थे। जब विहारीकी चर्चा चलती थी वह इस दोहेको ज़रूर पढ़ते थे और कई बार पढ़ते थे। उनके "हिन्दीप्रदीप"में न जाने यह कितनी बार उद्धृत हुआ है।

सौदाका यह शेर भी असंगतिके लिहाज़से इस दोहेसे मिलता जुलता है, भावमें भी कुछ साम्य है, पर सौदा इस मैदानमें तीन ही चक्कर लगाकर रह गये हैं। विहारीका एक चक्कर अधिक है, इनके चारों चक्कर एक ही दायरेके अन्दर बड़े चमत्कारजनक हैं। सौदाकी असंगतिमें सहृदयताको पराङ्मुख करनेवाला 'रक़ीब' का 'रसाभास' है, जो उर्दू कविताका स्वाभाविक दोष है, इसमें कविका दोष नहीं, कविताका दोष है, किसीका सही, दोष अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। "सौदा" का यह शेर अपने रंगमें निराला है, इसमें भी वर्णनवैचित्र्यका एक बांकपन है, पर विहारीको नहीं पहुँचता। विहारीके यहां शब्दोंके जोड़ तोड़में महावरोंका तमाशा देखने लायक है, फिर इस तोड़ मरोड़में घटनाकी यथार्थता कितनी अक्षुण्ण है।

जो चीज़ उलझती है, वही टूटती है, फिर जब उसे जोड़ते हैं तो गाँठ भी उसीमें पड़ती है। ऐसा नहीं होता कि उलझे तो देवदत्तका दुपट्टा और टूट जाय यज्ञदत्तकी घड़ीका फ़ीता। फिर जोड़ लगावें हरिदत्तकी अचकनके पर्देमें, और उससे गांठ पड़ जाय विष्णुमित्रके पायजामेमें। पर इस 'असंगति'की बलिहारी है, उलझती आंख है तो टूटता कुटुम्ब है। और फिर इससे प्रीति कहां जाकर जुड़ती है, चतुरके चित्तमें। और उससे गांठ पड़ती है दुर्जनके हृदयमें। कैसी नयी रीति है!

विहारीने असंगतिके और भी मज़मून बांधे हैं जो अपनी

अपनी जगह बहुत अच्छे हैं, पर इससे अच्छा वह भी नहीं बाँध सके, फिर और किसीसे क्या आशा रखी जाय।

× × ×

दोहा—"वाहि लखे लोयन लगै कौन जुवति की जोति।
जाके तनकी छांह ढिग जौन्ह छांह सी होति॥५१८

* * * *

शेर—शमारू कहना उसे "सौदा" है तारीकिए-अक़्ल।
शमाका अक्स उसके आरिज़पर कलफ़ है माहका॥"
(सौदा)

* * *

सौदा कहते हैं कि उसे (यारको) "शमारू" (दीपकके समान चमकते हुए चेहरेवाला) कहना अक़्लका अन्धेर है। उसके कपोलोंपर दीपकका प्रतिबिम्ब ऐसा मालूम होता है जैसे चन्द्रमामें स्याहीका धब्बा। अच्छा यही सही, 'शमारू' न कहिए, आप उसे इस दशामें "माहरू" कह लीजिए। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिये झगड़ा किया जाय, ऐसा तो कहते ही हैं, चन्द्रमुख और चन्द्रमुखी एक प्रसिद्ध बात है। हां, विहारी जो कुछ कहते हैं वह ज़रूर चौंकानेवाली बात है। इन्हें चन्द्रसाम्यपर भी सन्तोष नहीं है, यह कहते हैं—उसके मुखके प्रकाशकी कौन कहे शरीरकी "छाया" के सामने खुद चांदनी भी परछाईंका अन्धेरा बनकर रह जाती है! फिर उसकी ज्योतिके सामने और किसी व्यक्तिका प्रकाश कैसे ठहर सकता है, आँखोंमें क्योंकर समा सकता है। कैसे पसन्द आसकता है। इसका नाम है लोकोत्तर चमत्कार!

× × ×

दोहा—"डर न टरै नींद न परै हरै न कालविपाक ।
छिन छाकै उछकै न फिरि खरौ विषम छविछाक ॥"२७०

* * * *

शेर—मैमें वह बात कहाँ जो तेरे दीदारमें है,
जो गिरा फिर न कभी उसको सँभलते देखा ॥

* * *

इस दोहेकी मस्तीका आलम सबसे निराला है। सौन्दर्य-जन्य प्रेमका नशा बड़ा ही विचित्र है। और नशे डरसे उतर जाते हैं, पर यह किसी डरसे भी नहीं उतरता। और नशोंमें नींद आ जाती है, पर इसमें नींद हमेशाके लिये भाग जाती है। और नशोंका असर कुछ समयके पश्चात् स्वयं उतर जाता है, पर यह जहां एक बार चढ़ा फिर क्षण भरके लिये भी नहीं उतरता। प्रेमके नशेमें और दूसरे नशोंसे यह बड़ा विलक्षण "व्यतिरेक" है।

उर्दूके कविने भी यही बात कही है, पर इस खूबसूरतीसे कहाँ। वह गिर कर ही रह गये हैं, बयानकी मस्तीमें फिर न सँभल सके, और कुछ कहनेका होश ही ग़रीबको नहीं रहा !

× × ×

दोहा—"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन वीर ।
आली बाढ़त विरह ज्यौं पांचाली कौ चीर ॥ १२५ ॥

* * * *

शेर—" जुदाईके ज़मानेकी सजन क्या ज़्यादती कहिए,
कि इस ज़ालिमकी जो हमपर घड़ी गुज़री सो जुग बीता"
(शाह आबरू)

हर आन हमको तुझ बिन एक एक बरस हुई है।
क्या आगया ज़माना ऐ यार रफ़्ता रफ़्ता "।

(मीर तक़ी)

० ० ० ०

जुदाईके ज़मानेमें एक घड़ी जुगके बराबर बीतना, या एक आन (क्षण)का बरस बराबर मालूम होना भी कुछ बात है ज़रूर, पर इन कथनोंमें उतना चमत्कारजनक विस्तार नहीं है, जितना पांचाली (द्रौपदी) के चीर बढ़नेमें है। वर्ष और युगका अन्त होसकता है पर पाञ्चालीके चीरकी समाप्ति असम्भव है। इस "पूर्णोपमा"में इतिहास पूर्णतया साक्षी है।

× × ×

दोहा—"कहत सबै बैंदी दिये आंक दस गुनौ होत ।
तियलिलार बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥४४५॥

* * *

शेर—"खाले-सियाह नाफ़े-मुदव्वर के पास है।
जो हिन्दसा पहले पांच था वह अब पचास है॥"

* * *

अंकगणितके मूल सिद्धान्तको किस मौलिकतासे प्रकट करके बात बढ़ायी है, एक 'बेंदी'से सौन्दर्य-अंकमें कितना अगणित—संख्यातीत—आधिक्य आ गया है।

उर्दू कवि मूल सिद्धान्तसे आगे नहीं बढ़ सका। वह गोल नाभिपर काले तिलका बिन्दु लगाकर, पांच के पचास ही कर सका है। कोई नयी बात नहीं हुई, बच्चे भी जानते हैं कि "पांचके बिन्दा पंचास" होते हैं।

× × ×

दोहा--जो न जुगति पिय मिलनकी धूर मुकति मुँह दीन ।
जौ लहियै संग सजन तौ धरक नरक हू की न ॥५४७॥

*   *   *

शेर—"मुझको दोज़ख़ रश्के-जन्नत है अगर मेरे लिये ।
वहां भी आतिश हो किसीके रुए-आतिशनाक से ॥"

*   *   *   (ज़ौक़)

मित्रका साथ हो तो नरक भी स्वर्ग है। प्रेमके उत्कर्षपर विहारीकी यह उक्ति बड़े मार्केकी है, सख्यभावके भक्ति-मार्गपर भी यह दूरसे बड़ा मनोहर प्रकाश डाल रही है। कितने ज़ोरदार शब्द हैं, प्रेमके आवेशमें मुक्तिके मुँहपर कैसी धूल डाली है! कहते हैं कि यदि वहां प्रियके मिलने-का कोई उपाय नहीं है, तो ऐसी मुक्तिके मुँहपर, परे धूल भी डालो। यदि सजनका संग प्राप्त है तो कोई परवा नहीं, नरक ही सही, जहां प्रियकी प्राप्ति है, वह नरक, नरक नहीं, परम स्वर्ग है।

ज़ौक़ भी इसी बातको अपने ढंगपर कह रहे हैं, वह किसीके रूए-आतिशनाक (अग्निके समान मुख) की लपट-में जल रहे हैं और कह रहे हैं कि दोज़ख़ (नरक) की आग भी यदि इसी आगसे प्रचण्ड हो, वहां भी यही आग दहक रही हो तो मेरे लिये दोज़ख़ भी जन्नत (स्वर्ग) से अच्छी है।

भावसाम्य होनेपर भी ज़ौक़ विहारीको नहीं पहुँचते। विहारीके कहनेका ढंग हृदयहारी और भाव बहुत गम्भीर है।

उर्दूके कवि प्रियमुखाग्निके पतंग बन कर जलनेमें मज़ा समझते हैं, और चन्द्रमुखके चकोर हिन्दी कवि मुखचन्द्रिका-पानमें आनन्द पाते हैं।

×   ×   ×

दोहा—"देखौ जागत वैसियै सांकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि को जाने किहिं बाट॥"३४४॥

* * *

शेर—"खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधर से।"
(ज़ौक़)

* * *

उर्दूके आशिक़ोंका दिल हमेशा ग़मसे बन्द रहता है, ज़ौक़ कहते हैं कि हमारा दिल तो हमेशा बन्द ही रहता है, फिर न जाने तू उसमें किधरसे आजाता है। शेर बेशक बहुत अच्छा है, सीधा और साफ़ है। तोभी बांकपन और जिद्दतसे खाली नहीं। पर बन्द दिल में उसका (उसके ध्यानका) आजाना, जिसकी चिन्तामें वह बन्द है, असम्भव नहीं है, स्वाभाविक है।

दोहेका भाव इससे कहीं चमत्कृत है, कहनेवालेकी तन्मयता, बेखुदी और भोलेपनके भावको किस सुन्दरतासे दिखलाया है। स्वप्नदशाके मिथ्यामिलनकी सत्यप्रतीति कैसे सच्चे रूपमें प्रकट की है कि बस सुनकर तबीयत फड़क जाती है, भावावेशकी सी दशा हो जाती है।

जागकर देखा तो किवाड़ बराबर बन्द हैं, सांकर वैसेही लगी हुई है, इस बन्द मकानमें वह (चित-चोर) किधर हो कर घुस आता है और फिर किस रास्तेसे निकल भागता है, कौन जाने, किससे पूछें!

× × ×

सोरठा—"मैं समझ्यो निरधार, यह जग काचौ काच सौ ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहां ॥६६६॥

* * *

शेर—"जगमें आकर इधर उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा ।" (मीर दर्द)

* * *

मीर दर्द उर्दूके एक पहुँचे हुए सूफ़ी शाइर थे। वह अपने अनुभवकी जो कुछ बात ऊपरके शेरमें कहते हैं, उसमें सचाई ज़रूर है, ज़रूर उन्होंने ऐसा ही देखा होगा। पर और लोग इस बातको कैसे समझें, संसारमें तो ये अनेक पदार्थ दिखलायी दे रहे हैं।

बिहारीने इस तत्त्वको वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद"के आधार-पर काचकी उपमा देकर हृदयङ्गम प्रकारसे समझा दिया है, वह कहते हैं कि हमने अच्छी तरह अन्वयव्यतिरेक द्वारा निर्णय करके समझ लिया है, (तुम भी समझ लो) यह संसार काचके शीशेकी तरह कच्चा-क्षणभङ्गुर है, प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमें वही एक ब्रह्म अपाररूपसे प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है। यह सब उसीका विराट्रूप है जो देख रहे हो। "सांचो कोसो ढारयो तातें सांचो सो निहारयतु" (कृष्णकवि)

× × ×

भूषन-भार सँभारि है क्यौं यह तन सुकुमार ।
सूधे पाँय न धर परत सोभा ही के भार ॥ ५३७

* * *

नाज़ कहता है कि ज़ेवरसे हो तज़ईने-जमाल ।
नाज़की कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो ॥
(अकबर)

* • * *

यों नज़ाकतसे गरां सुर्मा है चश्मे-यारको।
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे-बीमारको।
(नासिख़)

*　　*　　*

गोयन्द कि शब बरसरे-बीमार गरानस्त।
गर सुर्मा बचश्मे-तो गरानस्त अज़ानस्त॥
(नासरअली)

*　　*　　*

नासरअली और नासिख़के शेर बिलकुल मिलते जुलते हैं, आज़ादके शब्दोंमें नासिख़ने फ़ारसीकी मख़लूक़को तनासुख़ देकर उर्दूकी ज़िन्दगी दे दी है। फ़ारसी शेरका अपने शब्दोंमें सिर्फ़ उल्था कर दिया है। फ़ारसीके कवि माशूक़की मस्त आँखको 'चश्मे-बीमार' बांधा करते हैं, यह उनका एक कविसमयसिद्ध सा भाव है। कवि कहता है कि तेरी आंख-पर जो सुर्मा (अंजन) भारी मालूम होता है वह ठीक ही है, बीमारके सिरपर रात भारी गुज़रती ही है। सुर्मेमें और रातमें साम्य है, दोनों स्याह हैं, आंख बीमार है ही। सो कविको यह मज़मून मिल गया। पर इसमें कुछ ऐसा निराला-पन या चमत्कार नहीं है, सब अङ्गोंमें स्वभावसे ही कोमल और इसपर बीमार आंख, सुर्मेके भारको न सह सके तो ताज्जुब क्या है। अकबर साहबने इस मज़मूनमें एक जिद्दत पैदा करके बेशक जान डाल दी है। उन्होंने अपने शेरमें केवल बीमार या तन्दुरुस्त आंखके लिये ही नहीं, सारे शरीरके लिये सुर्मेका भार असह्य ठहराया है। क्या खूब कहा है "नाज़की कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो"—वाह रे नाज़की! तेरी नज़ाकत!

अब ज़रा विहारीकी नाज़ुकख़याली मुलाहज़ा फ़र्माइए, सुर्मेका आख़िर कुछ तो वजूद है, इसकी थोड़ी मिक़दारमें भी कुछ न कुछ भार—गुरुता ज़रूर है, नाज़की, (सौकुमार्य) उसे न सँभाल सके तो आश्चर्यकी बात नहीं,—पर बिहारीकी नायिकाके तनकी सुकुमारतामें हद दर्जेकी नज़ाकत है, जो शोभाके भारसे ही लची जाती है, ज़मीनपर सीधे पांव नहीं पड़ते ! फिर भूषणोंके भार सँभाल सकनेकी तो बात ही क्या है !

मुन्शी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने विहारीके इसी दोहेका क्या अच्छा अनुवाद किया है—

"सँभाले बारे-ज़ेवर क्या तेरा नाज़ुक बदन प्यारी !
कजी रफ़्तारकी कहती है बारे-हुस्न है भारी।"

× × ×

पहिर न भूषन कनकके कहि आवतु इहिं हेत ।
दर्पनके से मोरचा देह दिखाई देत ॥५२६॥

* * *

नहीं मोहताज ज़ेवरका जिसे ख़ूबी ख़ुदा देवे,
कि आख़िर बदनुमा लगता है देखो चांदको गहना ॥

(एक पुराना उर्दू शाइर)

ऊपरके शेरमें उर्दू कविने 'गहना' शब्दके श्लेषके आधार-पर एक बात निकाली है, पर अच्छी तरह बयान नहीं हो सकी, 'मोहताज न होने' और 'बदनुमा लगने'में बहुत फ़रक़ है। विहारीके दोहेमें यह मज़मून बहुत ख़ूबसूरतीके साथ बंधा है। सोनेके भूषण पहननेका निषेध किफ़ायतके ख्यालसे या किसी और विचारसे नहीं किया जाता, बल्कि

सौन्दर्यरक्षाकी दृष्टिसे। दर्पणके समान स्वच्छ शरीरपर भूषण कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे आईनेपर मोरचा, ज़ंग।

आज कलके भूषणविरोधी समाजसुधारक, विहारीके इस दोहेके आधारपर आन्दोलन करें तो उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है! अर्थशास्त्रकी दुहाईका असर भूषणाभिलाषिणी ललनाओंपर नहीं हो सकता, पर कविता-का यह जादू बेशक चल सकता है!

× × ×

दोहा——"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर ॥५३४॥

* * *

शेर—"शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे-यार,
आपही तसवीर उसको देखकर हो जायगा।"
(ज़ौक़)

* * *

"न हो महसूस जो शै किस तरह नक्शेमें ठीक उतरे।
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा॥"
(मसहफ़ी)

* * *

विहारीके उक्त दोहे में और इन शेरोंमें कुछ भावसाम्यकी छटा है। ज़ौक़को तो आशा ही नहीं है कि मुसव्विर यार-की तस्वीर खींच सकेगा, उनका ख़्याल है कि मुसव्विर यार-को देखकर खुद तस्वीर बन जायगा। ज़ौक़के मज़मूनमें महावरेका ज़ोर है, किसी अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक पदार्थ-को देखकर हक्का बक्का हो जानेको—स्तब्ध भावकी स्थिति-को—'तस्वीर बन जाना' या 'बुत बन जाना' बोलते हैं।

चतुर चित्रकार बेवक़ूफ़ साबित हो चुके हैं, उसका कारण, शब्दचित्र द्वारा प्रकट करना भी कुछ वैसी ही बात होती ! कारण कोई बहुत ही गूढ़ है। कितने ही चित्रकारोंके बेवक़ूफ़ बननेमें कारण भी कितने ही हो सकते हैं, उन सबके उल्लेख-की गुंजायश छोटेसे दोहेमें कहां ? एकाधका निर्देश करना, कारणबाहुल्यके महत्त्वको घटाना है, हम समझते हैं यही समझ कर कारणान्वेषणका कार्य कविने दूसरे लोगोंकी समझ बूझपर छोड़ दिया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारोंने अपनी अपनी समझके अनु-सार, चित्र न बन सकनेके भिन्न भिन्न कारण समझाये हैं, इसके कुछ नमूने देखिए—कृष्ण कविने इस दोहेपर अपने कबित्तके तिलकमें कहा है—

"यह नायिकाकी निकाई सखी नायक सो कहती है कि वाहि देखे "सात्त्विक भाव" होत है, यातें चितेरे पर क्योंऊ लिखत बनै नाहीं"—

"......काहू पै न बन्यो वाके चित्रको बनाइबो"—

(१) सात्त्विकभावका आविर्भाव भी चित्र न बन सक-नेका कई प्रकारसे एक कारण हो सकता है—

नायिकाका अलौकिक रूप लावण्य देखकर किसी चित्र-कारको सात्त्विक "स्तम्भ" होगया तो हातही काम नहीं करता। किसीको "प्रस्वेद" होगया तो उसने चित्रकारी-का रंग ही न जमने दिया। किसीको "कम्प" होगया तो चित्ररेखाएँ तिरछी टेढ़ी होकर रह गयीं। किसीको "आंसू" (वाष्प) उमड़ आये तो कुछ सूझता ही नहीं, नज़र ही नहीं जमती। चित्रलेखनमें इस प्रकार सात्त्विक भावके

बाधक होनेका प्रमाण भवभूतिने माधवकी दशामें दिखलाया है। माधव अपनी प्रिया मालतीका चित्र लिखने बैठा है, पर नहीं लिख सकता, बेचारा बड़े 'विषाद'से कहता है—

"वारं वारं तिरयति दृशावुद्गतो वाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहितजडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि॥"

* * *

अर्थात् बार बार उमड़े हुए आंसुओंका प्रवाह आंखोंपर परदा डाले हुए है, मालतीविषयक संकल्पसे शरीरमें जड़ता आकर 'स्तम्भ' हो रहा है, चित्र लिखनेमें इस हातकी यह हालत है कि पसीनेमें तर है, उंगलियां निरन्तर कांप रही हैं। क्या करूँ, कैसे चित्र लिखूँ!

× × ×

(२) हरि कवि चित्र न बन सकनेका कारण "रूपकी अधिकाई" बतलाते हैं—अर्थात् रूप इतना अधिक है कि वह चित्रके सांचेमें किसी प्रकार नहीं समा सकता! यह भी हो सकता है, बड़े आदमी कहते हैं इसलिये इसे भी ठीक समझना चाहिए।

× × ×

(३) शृङ्गारसतसईकारने विहारीके इसी चोटीके दोहेकी छायापर—(अपनी समझसे शायद विहारीका भाव स्पष्ट करनेके लिये!)—जो यह नीचेका दोहा लिखा है, इसमें भी इन चतुर चितेरोंकी चर्चा है, चित्र न खिंच सकनेका एक कारण स्पष्ट कर दिया गया है। इनके कहनेके ढंगसे मालूम

होता है कि चित्र तो खिंचता है, पर उसमें उसकी "बांकी अदा"—(हाव भावकी छटा)—नहीं खिंचती—

दोहा—"सगरब गरब खींचै सदा चतुर चितेरे आय ।
पर वाकी बांकी अदा नेकु न खींची जाय ॥" ४७॥

(शृंगारसतसई)

× × ×

(४)—एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि नायिका वयःसन्धिकी अवस्थामें है—रूप निरन्तर वर्धमानावस्था-में है वह प्रतिक्षण बढ़ रहा है, बराबर बदल रहा है, उसे एक हालतपर क़याम नहीं, चित्रकार, चित्र बनाकर अच्छी तरह दुरुस्त करके, उसे जब असलसे (नायिकासे) मिलाकर देखता है तो बिम्ब और प्रतिबिम्बमें बहुत भेद पाता है, चित्र बनाकर मिलान करनेतकके थोड़े समयमें ही—कुछ मिनटोंमें ही—कुछ से कुछ हालत हो जाती है, नक़शा ही बदल जाता है, चित्रकार बेचारा हक्का बक्का रह जाता है। पद्माकरने यही कहकर ऐसी किसी ब्रजबालाके स्वरूप-वर्ण-नमें (अपनी) असमर्थता प्रकटकी है—

"पल पलमें पलटन लगे जाके अंग अनूप,
ऐसी इक ब्रजबालको कहि नहिं सकत सरूप ।"

* * *

इस मतकी पुष्टि उर्दूके सर्वश्रेष्ठ वर्तमान महाकवि जनाब 'अकबर' भी करते हैं, फ़र्माते हैं—

"लहज़ा लहज़ा है तरक़्क़ी पै तेरा हुस्नोजमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तसवीरके साथ"

× × ×

(५) नायिकाकी नज़ाकत और नातवानी—(सौकुमार्य और विरहदौर्बल्य)—भी चित्र न खिंच सकनेमें कारण हो सकता है। चित्रकार डरता है कि कहीं चित्रके साथ वह (नायिका) भी न खिंच जाय!

"नातवानी मेरी देखी तो मुसव्विरने कहा,
डर है तुम भी कहीं खिंच आवो न तसवीरके साथ"

(अकबर)

× × ×

(६) एक कारण यह भी हो सकता है, यदि सहृदय भावुक इसे पसन्द करें, नायिकाके प्रत्येक अङ्गका रूपमाधुर्य इतना आकर्षक है, कि जिस चित्रकारकी दृष्टि जिस अङ्गपर पहले पड़ी, बस वह वहीं चिपक कर रह गयी, फिर दूसरे अङ्ग-पर जा ही न सकी, और कुछ देख ही न सकी। इस प्रकार सर्वाङ्गके देखनेका अवसर किसी भी चित्रकारको न मिला, सब एक ही एक अङ्ग देखकर रह गये! इस दशामें सर्वाङ्ग चित्र बनता तो कैसे बनता?

यह बात एक पुराने प्राकृत कविकी कल्पना है—

"जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठम्॥"
(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम्। (गा० स० ३।३४)

× × ×

(७) चित्र कैसे बने, अवयवोंकी पृथक् पृथक् प्रतीति तो होती ही नहीं। उसके अलौकिक कान्तिवाले अङ्ग आपसमें इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं—एककी आकृति दूसरेमें

पड़ी इस तरह झलक रही है—कि यह हाथ है, यह मुख है, इत्यादि अवयव-विभागका पता ही नहीं चलता ! कोई चतुर आवे तो, इस समस्याका निर्णय तो करे ! फिर कहे कि चित्र क्यों नहीं बना ।

"अवयवेषु परस्परबिम्बिते-
ष्वतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः ।
अयमयं प्रविभाग इति स्फुटं
जगति निश्चिनुते चतुरोऽपि कः ।"

× × ×

(८) चित्र तो तब बन सके जब श्रीमती 'अङ्गना'का कोई अङ्ग दीख पड़े, वहां तो सौन्दर्यज्योतिके चाकचिक्यमें चित्रकार बेचारेको कुछ सूझता ही नहीं, आँखें ही चौंधिया गयीं । ज्योतिके परदेमें ज्योतिष्मान् पदार्थ छिपा हुआ है, ज्योति दीखती है, पर जिससे वह ज्योति निकल रही है, वह चीज़ नज़रसे ग़ायब है । (मूसाकी तजल्लीका सा नज़ारा है !)

*"सुन्दरी [कीदृशी] सा भवत्येष विवेकः केन जायते ।
प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ।"*

(दण्डी)

× × ×

(९) कोई चित्रकार अपनी निष्फलतापर स्वयं कह रहा है-
"जो नक़ाब उट्ठी मेरी आंखोंपै पर्दा पड़ गया ।
कुछ न सूझा आलम उस पर्दानशींका देखकर ॥"

(मोमिन)

× × ×

(१०) कोई नज़ारेकी ताब न लाकर कह रहा है—

*"*दिला! क्योंकर मैं उस रुख़सारे-रोशन के मुक़ाबिल हूं,*
जिसे ख़ुरशीदे-महशर देखकर कहता है मैं तिल हूं।"

(अकबर)

* * *

इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकनेके हो सकते

---

*किसी चमकीले चेहरेको देखनेके लिये बेचैन अपने दिलसे कोई कहता है कि भई! क्यों मजबूर करता है, मैं उस रुख़सारे-रोशनके—प्रकाशमय मुखके—सामने कैसे जाऊँ, उसपर किस तरह दृष्टि डालूँ? उसपर—जिसे देखकर प्रलयकालका सूर्य कहता है—कि तेरे सामने मैं 'तिल'—कपोलपरका काला तिल—हूँ! परले दर्जेकी अत्युक्ति है। परमार्थ पक्षमें ले जानेपर यह अत्युक्ति यथार्थतामें परिणत होकर और भी हृदयंगम हो जाती है। गीताकी उक्तिसे भी बढ़ जाती है। उस परमज्योतिके सम्मुख प्रलयकालके सहस्रों सूर्य काले तिलसे भी काले हैं।

"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।" (गीता)

नवीन ज्योतिर्विज्ञानसे सिद्ध है कि सूर्य्यका पिण्ड वस्तुतः घोर काला है, जो ज्योतिर्मय प्रचंडतापसे उत्तम वायव्यों और वाष्पोंके बने मेघसे आच्छादित है। ज्योतिका पर्दा पड़ा हुआ है, कहीं कहीं इन्हीं भास्वर बादलोंके फटनेसे गवाक्ष से बन जाते हैं जिन्हें ज्योतिषी सूर्य्यके धब्बे कहते हैं। इन्हीं झरोखोंसे सूर्य्यके वास्तविक पिंडका कभी कभी दर्शन हो जाता है। कोई कोई नन्हा धब्बा वस्तुतः ५,००० मीलसे भी अधिक व्यासका अनुमित हुआ है। इसलिए अकबरकी काले तिलकी उपमा बहुत ही युक्त और संगत है।

हैं। वास्तविक कारण क्या था, सो तो विहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे।

"की है य बन्दिश ज़हने-रसाने, जिसने देखा हो वह जाने।"

(६) विहारी और हिन्दी कवि

विहारीके पूर्ववर्त्ती, समसामयिक और परवर्त्ती हिन्दी कवियोंकी कवितामें और विहारीकी कवितामें भी कहीं कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है, पर ऐसे स्थलोंमें विहारी अपने पूर्ववर्ती कवियोंको प्रायः पीछे छोड़ गये हैं, समसामयिकोंसे आगे रहे हैं, और परवर्त्ती उन्हें नहीं पा सके हैं। इसके भी कुछ नमूने देखिए—

विहारी और केशव

नैकु हँसौंहीं बानि तजि लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंधमें परति चौंधसी दीठि ॥४८३॥

* * *

कवित्त—तैसीये जगति जोति सीस सीस-फूलनकी
चिलकत तिलक तरुनि! तेरे भालको,
तैसीये दसनदुति दमकत 'केसोराय'
तैसोई लसत लाल कण्ठ कण्ठमालको।
तैसीये चमक चारु चिबुक कपोलनकी
झलकत तैसो नाक मोती चलचालको,
हरे हरे हँसि नैक चतुर चपलनैन
चित चकचौंधै मेरे मदन गुपालको ॥

* * *

केशवदासजीने अपने मदनगोपालके चित्तकी चकाचौंधके लिये इतनी चमकीली चीजें एक जगह जमा कर दी हैं कि उनकी मौजूदगीमें चकाचौंध न हो तो ताज्जुब है। सिरपर जगमगाता सीसफूल, माथेपर चमकता तिलक, दाँतोंकी चमक, कण्ठमें लाल रत्नोंका कण्ठा, नाकमें हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोल की दमक, उसपर चपलनैनीका ज़ोर ज़ोरसे हँसना, इतनेपर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो? यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं हुई।

पर विहारीके यहां कमाल है, नायिकाके हँसनेमें जो ज़रा दांतोंका चौका खुलता है तो उसीके प्रकाशसे देखनेवालेकी आंखोंमें ऐसी चकाचौंध छा जाती है, कि मुँह मुश्किलसे नज़र आता है। आंखोंके सामने जब बिजली कौंद जाती है तो सामनेकी चीज़ नज़र नहीं आती! इस अकेली दशनप्रभाके सामने केशवदासकी इधर उधरसे जुटायी हुई सारी चमकीली चीजें मात हैं!

× × ×

दोहा—चिर जीवौ जोरी जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।

को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥२२६॥

* * *

कवित्त—अनगने औठपाय रावरे गने न जाहिं
वेऊ आहि तमकि करैया अतिमान की,
तुम जोई सोई कहो वेऊ जोई सोई सुनैं
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की।
कैसे केसोराय काहि बरजौं मनाऊँ काहि
आपने सयाँ धौं कौन सुनत सयान की,

* केऊ बड़वानलकी ह्वै है सोई अहै बीच
तुम वासुदेव वे हैं बेटी वृषभान की ॥

* * *

केशवदासकी मानापनोदनिपुणा सखी नायक नायिकाके अनगिने औठपायों † और आये दिनके प्रणयकोपसे तंग आ गयी है। नायक जीभका पतला है—मौक़े बेमौक़े कहनी अनकहनी कुछ ही बात, हर किसीके आगे कह बैठता है—उधर नायिका कानकी पतली—कानोंकी कच्ची—है जो किसी पिशुनसे लाग लगावकी बात सुनी उसेही सच मानकर खिच बैठी। ऐसी दशामें सखी बेचारी क्या करे, किसे बरजे और किसे मनावे, दोनों अपनी बुद्धिमत्ताके सामने किसीको नहीं बदते, किसीकी नहीं सुनते, क्यों सुनें ? कोई किसीसे कम है ? दोनों ही बड़े बापकी औलाद हैं—बराबरका जोड़ है—यह हैं 'वासुदेव' तो वह हैं 'बेटी वृषभान' की।

"किसीसे क्यों दबें हम साहबे-तेग़ोसनाँ होकर"

विहारीकी सखीका परिहास बड़ाही लाजवाब है, रसिक मोहन सुनकर फड़क ही गये होंगे! इससे अच्छा, साफ़ सच्चा सीधा और दिलमें गुदगुदी करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसारमें शायद ही हो।

'वृषभानुजा' और 'हलधरके बीर' में जो शब्द-श्लेषमूलक ध्वनि है वह बहुत ही मधुर है, सभङ्ग और अभङ्ग श्लेषका अत्युत्तम उदाहरण है। श्लेषमें कुछ न कुछ अर्थकी खींचतान रहती है, पर यहां वह बात नहीं, बहुत बेसाख़्तगी है।

---

† औठपाय—चञ्चलता—उत्पात—शरारत। अबतक इसी अर्थमें बोला जाता है— * कवित्तके चौथे चरणका पहला भाग अस्पष्ट है।

वृषभानुजा-वृषभानुकी पुत्री (राधा) और वृषभ-अनुजा, बैलकी छोटी बहिन। हलधरके वीर-बलभद्रके भाई और हल-धर- बैलके भाई। पहला सभङ्ग और दूसरा अभङ्ग श्लेष है। शब्दश्लेषमूलक परिहासध्वनि कितनी मज़ेदार है!

इन शब्दोंसे इस प्रकारकी परिहासध्वनि निकालने-वालोंके विषयमें कोई भगवद्भक्त टीकाकार कहते हैं-"कोऊ अज्ञानी यामें गाय अरु बैलको अर्थ काढ़तु हैं"—ठीक है, पर साहित्यमार्गमें यह अज्ञान अनिवार्य है, कवि लोग मज़ाक़में किसीका लिहाज़ नहीं करते, वह ज्ञानगुदड़ीको एक ओर फेंककर सब कुछ कह गुज़रते हैं। फिर यहां ज्ञानमार्गानुसार सीधा सादा अर्थ करनेमें तो कुछ भी चमत्कार नहीं रहता। सतसई कुछ राधाकृष्णकी वंशावलिकी पोथी तो नहीं है, जो सहृदय उसमें इतनाही पढ़कर सन्तुष्ट हो जायँ कि राधाके पिताका नाम वृषभानु था और कृष्णके भाई बलदाऊजी थे!

× × ×

दोहा—वे ठाढ़े उमदा [डा] ति उत जल न बुझै बड़वागि।
जाही सौं लाग्यो हियौ ताही के उर लागि ॥८३॥

* * *

कवित्त- मेरो मुँह चूमे तेरी पूजि साध चूमिबेकी
चाटे ओस असु क्यों सिरात प्यास डाढ़े हैं,
छोटे कर मेरे कहा छ्वावति छबीली छाती
छ्वावो जाके छ्वाइबे को अभिलाष बाढ़े हैं।
खेलन जो आई हो तौ खेलो जैसे खेलियतु
'केसोराय' की सौं तैं ये कौन खेल काढ़े हैं,
फूल फूल भेटति है मोहि कहा मेरी भटू
भेटै किन आय वे जु भेटिबे को ठाढ़े हैं॥

* * *

केशबदासजीका यह विस्तृत वर्णन अपने ढंगमें बहुत अच्छा है, खूब साफ़ है, एक एक बातको खूब तफ़सीलवार समझाकर कहा है, इतनेपर भी बन्धशैथिल्य नहीं होने पाया। केशवदासजीकी कवितामें ऐसा प्रसाद गुण बहुत कम है, कोई न कोई कड़ी गांठ रहती ही है. पर इसमें ऐसा नहीं है। खूब घुला हुआ बयान है।

विस्तृत व्याख्यानको इस प्रकार संक्षिप्त करके कहना कि मतलबकी कोई बात न छूटने पावे और सुननेवाला समझ जाय, उसपर असर हो, कथनशैलीकी यह कला कुछ कम कठिन नहीं है. विहारी इस बातके उस्ताद हैं। देखिये इस तफ़सीलको कितना मुख्तसिर किया है, फिर भी ज़ोरे-कलाम क़ायम है, कम नहीं हुआ, केशवदास कहते हैं 'ओस चाटे प्यास नहीं जाती, विहारी कहते हैं जलसे-समुद्रजलसे—बड़वा-नलकी आग नहीं बुझती, प्रत्युत और बढ़ती है –(यह आग घनश्यामसे ही बुझेगी)—कितना ज़बरस्त दृष्टान्त है, ओसकी इसके सामने क्या बिसात है! 'वे ठाढ़े उमड़ात उत' में कितना उम्दा भाव उमड़ रहा है! "जाही सों लाग्यौ हियौ ताहीके उर लाग" क्या पतेकी कही है, जिससे मन लगा है उसीकी छातीसे जाकर लग।

विहारी और सुन्दर

दोहा—कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।

कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ॥२२७॥

* * *

कवित्त—कहूँ बनमाल कहूँ गुञ्जनिकी माल कहूँ
सङ्ग सखा ग्वाल ऐसे हास [ल] भूलि गये हैं,
कहूँ मोरचन्द्रिका लकुट कहूँ पीत पट
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं।
कुण्डल अडोल कहूँ सुन्दर न बोलें बोल
लोचन अलोल मानो कहूँ हर लये हैं,
घूंघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी
लालन तो लोट पोट तबहीतें भये हैं॥

* * *

दोनों कवियोंने एकही प्रसंगका वर्णन किया है। कविताके दो भेद होते हैं 'समास' और 'व्यास'। थोड़ी बातको फैलाना—विस्तृत करके कहना—उतना कठिन नहीं है जितना, बहुत-को (व्यासको) थोड़ेमें (समासमें) लाना। सुन्दरने अपने कवित्तमें जिस बातको खूब फैला कर कहा है बिहारीने उसे बड़ी उत्तमतासे खूब कस कर समासमें दिखाया है। सुन्दर-जीकी भाषा अनुप्रासपूर्ण होनेपर भी रचना शिथिल है।

दोनों जगह उपालम्भके बहाने विरहनिवेदनमें तात्पर्य है। सुन्दरने "घूंघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी" इस वाक्यमें जो बात खोल कर कही है, वही बिहारीने 'लड़ैते' इस एक शब्द द्वारा व्यक्त की है। बिहारीके यहां 'व्याजस्तुति' द्वारा नेत्रोंका सौन्दर्य—तीखी 'चितवन' का चमत्कारातिशय—व्यङ्ग्य है। सुन्दरजीके यहां वैसा नहीं। 'लड़ैते का अर्थ है—'लाड़ला' (दुर्ललित)। लाड़ले लड़के अक्सर नटखट, औठ-पाई या दंगई हो जाया करते हैं। 'लड़ैते' का दूसरा अर्थ लड़ैत (डकैत, लठैतकी तरह) लड़ाकू या लड़ाका भी है। 'लड़ैत'

लड़के भोले भाले बालकोंको झट पीट पाट डालते हैं। जब किसीका बालक किसीके बालकको पीट आता है तो पिटने-वालेकी माता पीटनेवालेकी मांसे कहा करती है 'तैने छोरा ऐसो लड़ैतो कर राखो है जो सबनको मारत डोले है री !"

कोई किसी अनियारे नेत्रोंवाली अलबेली छबीली रसीली-से उसके 'लड़ैते' नयनोंकी शिकायत कर रही है, कि तेरे इन लड़ैते नेत्रोंने हमारे 'लाल'को तो बेतरह बेहाल कर दिया, इनकी चोट खाए वह बेसुध पड़े हैं। तन बदन, कपड़े लत्ते, लाठी दण्डे, सिर पांव, मुकुट मुरलीकी, उन्हें कुछ सुध नहीं, ज़रा अपने इन लड़ैतोंकी करतूत चल कर देख तो। सुन्दरजीने अपनी रिपोर्टमें बिखरी हुई चीजोंकी संख्या बढ़ा दी है, नुक्सान-के सामानकी तादाद ज्यादह दिखलायी है, 'बनमाल' के साथ 'गुञ्जनकी माल' को, 'मुकुट'के साथ मोरचन्द्रिकाको भी गिना दिया है। विहारीने 'भये लाल बेहाल' में ही सब मामला खत्म कर दिया है। सुन्दरजीके यहां 'लोट पोट' की तफसीलमें 'ऐसे हाल भूलि गये हैं।' 'कुण्डल अडोल' न बोलें बोल' "लोचन अलोल" सब कुछ कह डाला है। 'लोटपोट' होनेसे 'बेहाल' होना अधिक चिन्तनीय दशाका द्योतक है।

"सुन्दरशृंगार"में भी और उक्त दोहे पर कृष्णकविकी टीकामें भी "लोचन हैं लोल" ऐसा पाठ है, पर यह ठीक नहीं मालूम होता, ऐसी बेहालीकी हालतमें लोचन लोल (चञ्चल) नहीं रह सकते, फिर उस दशामें जब कहते हैं "मानो कहूँ हर लये हैं"। इसलिये औचित्य चाहता है कि यहां "लोचन अलोल" पाठ चाहिये।

× × ×

दोहा—कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बँकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत ॥४४२॥

* * *

सवैया

मानों भुजंगिनि कंज चढ़ी मुख ऊपर आय रहीं अलकैं त्यों,
कारी महासटकारी हैं सुन्दर भीजि रहीं मिलि सौंधनही सों।
लटकी लट वा लटकीली तें और गई बढ़िकै छवि आनन की यों,
आंकु बढ़ै दिये दूजी बिकारीके होत रुपैयन ते मुहरे ज्यों॥

* * *

सुन्दरजीके वर्णनकी 'उत्प्रेक्षा' में मुखपर लटकी हुई दो लटोंका उल्लेख स्पष्ट है। पर रुपयेसे मुहर बन जानेके साथ 'दूजी बिकारी' की संगति किसी तरह ठीक नहीं बैठती, यदि मुखके दोनों ओर दो लटें लटकी हुई मानें तब तो यह रूप)१) होगा, और यदि एकही ओर दो लटें लटकती मानी जायँ तो १)) ऐसा होगा, पर इन दोनों सूरतोंमें रुपयेसे मुहर नहीं बन सकेगी, एक ओर दुहरी बिकारी देनेसे १)) तोला समझा जाता है न कि मुहर, ब्रैकटकी तरह इधर उधर दो बिकारी देनेसे)१) भी मुहर का बोध नहीं होता। सो सुन्दरजीकी 'दूजी बिकारी' की यह पहेली आजकल किसी तरह हल नहीं होती।

विहारीकी 'बंक बिकारी' की उपमा बहुत ही बांकी है। शुष्क गणितज्ञ, सहृदय काव्यमर्मज्ञ, और विदग्ध रसिक, सब समानरूपसे इनकी सत्यताके साक्षी हैं।

दाम लिखनेकी पुरानी प्रणाली अबतक प्रचलित है, पहाड़ा है—

"छुदामके छ दाम, धेला साढ़े बारह १२॥ दाम। पैसेके पचीस १५ दाम"। इत्यादि, इसके अनुसार ६ दामपर बंक बिकारी ६) देते ही छ दामके छ रुपये हो गये। बहुत अन्तर हो गया, इसीकी सूचनार्थ "इतौ" पद दिया है।

सुन्दरजीकी दूजी बिकारीकी 'रसायन'से रुपयेकी मुहर न बन सकी, पर विहारीकी बंक बिकारीकी 'कीमिया' ने छुदामका रुपया बनाकर सबको दिखा दिया!

कृष्णकविकी टीकामें इसी दोहेपर सुन्दरका यह सवैया लिखा है, उसमें "मुख ऊपर आय रही अलकैं त्यों'-की जगह "मुख ऊपर एक छुटी अलकैं यों' 'ऐसा पाठ है, मालूम होता है, दूजी बिकारीकी अयुक्तताके ख़्यालसे किसीने यह पाठान्तर-कल्पना की है, पर संगति नहीं मिल सकी। क्योंकि अन्तमें वहां भी "दूज बिकारी" ही है।

हो सकता है, सुन्दरजीके समय यही रीति—दो बिकारी देकर मुहर लिखनेकी—रही हो, * तोभी विहारीकी 'उपमा'

---

* मालूम होता है रुपयेसे मुहर बनानेकी कुछ ऐसी ही रीति कभी पहले प्रचलित थी, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने भी 'सतसई सिंगार' की एक कुंडलियामें सुन्दरजीसे मिलती जुलती बात कही है—

"कहत सबै बैंदी दिये आंक दस गुनो होत।
तिय लिलार बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोत॥
अगनित बढ़त उदोत तीस अस्सी नब्बे गुन,
तीन आठ नव सत सहस्र हरिचन्द बढ़त पुन।
बंदी बेना बैंदी मौं लहि बनत रुपा सब,
मोतीलरतें होत मुहर लखि थकित रहत सब॥"

जिस प्रकार अंग्रेजीमें पौंड तोलका भी नाम है और सिक्केका भी। इसी प्रकार आजकल तोला १)) जो इस प्रकार लिखा जाता है, संभव

का मूल्य उससे कहीं अधिक है। रुपयेसे मुहर बनानेकी अपेक्षा दामसे रुपया बनाना बहुत नफ़ेका सौदा है। रुपयेसे मुहर या अशरफ़ी मूल्यमें केवल १६ गुना ही अधिक है, और दामसे रुपया एकदम १६ सौ गुना अधिक है! अन्तरं महदन्तरम्।

(१ दाम : १ रु० : : १ : १६००)

तोषजीने भी मुखचन्द्र पर लटकी हुई लटपर 'उपमा देकर' उत्प्रेक्षाकी दृष्टि डाली है, कहते हैं कि मदन-देवने आकाश चन्द्रमाके मुकाबलेमें मुखचन्द्रपर 'साद' (सही) किया है, अर्थात् आकाशचन्द्र ग़लत है, मुखचन्द्रही सही चन्द्र है—

"बंक लगी लट एक कपोल यहै उपमा कवि तोष दियो है,
श्राद कियौ वही चन्दहि मैन मनो टक [मुख] चन्दहि 'साद'
कियो है।"

× × ×

दोहा—दृग थिरकौंहैं अधखुले देह थकौंहैं ढार।
सुरत सुखितसी देखियत दुखित गरभ के भार ॥५४२॥

* * *

कवित्त—भावत न पानी पान आकुल बिकल प्रान
गरभके जे निदान ते सबै लुकावने,
जिठानी सों कह्यो चहै सासु तन गई दीठि

है तोलेपर यह दो बिकारी देनेकी रीति मुहरसे ली गयी हो, क्योंकि मुहर एक तोलेकी होती थी। जो कुछ हो, पर मुहर लिखनेमें आजकल दो बिकारी देनेकी रीति नहीं है। कई नये पुराने मुनीमोंसे पूछा गया, मुन्दरजीकी मुहरकी दूजी बिकारीको किसीने ठीक नहीं समझा।

तहाँ कियो नैननि के पलक चुकावने।
इहि बीच पहिलोठीं बालको विलोकि आली
पूछि उठि एहो तुम्हें होत हैं उकावने?
उठी सतराइ छवि सुन्दर कही न जाइ
झुकी झहराइ बोल बोली मुसुकावने॥

* * *

सुन्दरजी ने 'चेष्टारीति' के वर्णन में उल्लिखित कवित्त लिखा है। पर यह वर्णन कवितानुसारी न होकर "भावत न पानी पान आकुल विकल प्रान"–'होत हैं उकावने'* इस रूपमें वैद्यकानुसारी होगया है। 'उठी सतराइ' झुकी झहराइ' के सिवाय इसमें ऐसी क्या 'छबि' है जो सुन्दरजी-से नहीं कही जाती!

पर विहारीलाल अपनी प्रतिभाकी आंखसे गर्भके भारसे दुखितको भी सुरतसुखित सी देख रहे हैं! यह कविकी प्रतिभाका ही चमत्कार है कि वह हर जगह अपने मतलबकी बात ढूंढ निकालती है, रम्य पदार्थके विकारमें भी कविकी दृष्टि अलौकिक शोभाको ही देखती है—

"रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति"

× × ×

दोहा—सबही तन समुहाति छन चलति सबन दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमालौं दीठि॥ ५६॥

* * *

---

* उकावने आना—उबकाई आना, जीमतलाना—गर्भदशाका एक उपद्रव है।

कवित्त—काहे को दुरावति है हमहूँ भुरावति है
कौन कहलावति है झूठी सौंहें खाति है,
लियो है चुराइ चित्त साहजहां दूलहको
सु तौ यह बात सब नीके जानी जाती है।
देख तुहीं बैठ डीठ लालनकी हेरि फेरि
तियनि में तोहिपर आइ थिर थाति है,
मन्त्रकी कटोरी जैसे चली चली डोलति है
चोरहीकी ठौर भले आइ ठहराति है॥

* * *

सुन्दरजी अपने आश्रयदाता शाहजहां दूलह (शाहजहां बादशाह)की चितचोरीकी कैफ़ियत सुना रहे हैं, चोरका पता चलानेके लिये ऐसे टोटके—मन्त्रकी कठोरी चलाना इत्यादि—पहले किये जाते थे, अब भी कहीं कहीं पुराने ख्यालके लोग ऐसा करते हैं, बहुतसे आदमियोंको जिनपर चोरीका सन्देह होता है एक पंक्तिमे बिठाते हैं, 'मन्त्रकी कटोरी' चलाते हैं, वह चलती चलती जिसके पास जाकर ठहर जाय, वही चोर समझा जाता है। 'शाहजहां दूलह' की चितचोर बहुतसी स्त्रियोंमें मिली बैठी है, 'दूलह'की दृष्टि मन्त्रकी कटोरीकी तरह उसीपर जाकर ठहरती है, सो चोरीके कमीशनमें पंच बनी हुई कोई सखी, चितचोरीका फ़ैसला सुना रही है कि तू ही चोर है, तैने ही हमारे दूलहका चित्त चुराया है। यह फ़ैसला एक ख़ास अदालतका फ़ैसला है। विहारीका वर्णन व्यापक है। मन्त्रकी कटोरीकी बात आजकलके शिक्षित चाहे न भी मानें, पर विहारीके क़िबलेनुमाके सब क़ायल हैं।

× × ×

विहारी और सेनापति

दोहा—कर लै चूमि चढ़ाय सिर उर लगाय भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ॥४०५॥

* * *

कवित्त—नैन नीर बरसत देखिवे को तरसत
लागे कामसर सत पीर उर अति की,
पाये न संदेसे ताते अधिक अंदेसे बढ़े
सोचे सुकुमार पै न कहै मन गति की ।
ताही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनी
देखत ही 'सेनापति' पाई प्रीति रति की
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि
छाती लपटाय राखी पाती प्रान पतिकी ॥

* * *

सेनापतिजीने पाती पानेकी भूमिका खूब बढ़ाकर बाँधी है। प्राणपतिका संदेसा न पानेसे सुकुमारीको अन्देशा (चिन्ता) बढ़ रही थी, उसकी आँखोंसे नीर बरसता था और देखनेको जी तरसता था, इत्यादि, प्राणपतिके पत्र पानेपर इस प्रकारकी हर्षोत्पत्तिका कारण खूब खोलकर कह दिया है, जिससे देखनेवाला समझ जाय कि इस चिट्ठीको यह इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। माथे पर चढ़ाना, दोनों आंखोंसे लगाना, चूमकर छातीसे लिपटाना, यह सब क्यों होरहा है। बहुत दिनोंमें कालेकोसोंसे कुशलपत्र आया है इसलिये ऐसा हो रहा है।

पर विहारीलालने लम्बे उपाख्यानकी कुछ आवश्यकता नहीं समझी। यह सारी कथा "पियकी पाती" यह शब्द अपनी

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा तभी पाती भेजेगा, इसकी भी जरूरत नहीं है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुंच सकते हों, और तभी चिठ्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय प्रियकी प्रेमपत्रिका कहींसे किसी दशामें आवे हरहालतमें वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमें लेकर होंठोंसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओंसे भेटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे बांची जाय और एहतियातसे गैरोंकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरङ्ग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी प्रेमपत्रिका है, कुछ डाक द्वारा पहुंची 'समाचारपत्रिका' नहीं है। सेनापतिके कुशलपत्र और विहारीके प्रेमपत्रमें बहुत भेद है। विहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमें कसी हुई रुईकी गांठ है। इसके मुकाबलेमें सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर है।

तोष कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने खास ढंगमें खासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावैं निज अंखियां दिये रहै,
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि तोष जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तबीज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इस भांति प्यारी
विरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै॥"

× × ×

दोहा—बाल छबीली तियनमें बैठी आपु छिपाय।
अरगट ही फानूससी परगट होति लखाय ॥५२४॥

*   *   *

कवित्त—चन्द्की कलासी चपलासी तिय सेनापति
बालमके वर [उर] बीज आनन्दके बोति है,
जाके आगे कंचनमें रंचक न पैये द्युति
मानो मन मोती लाल माल आगे पोति है।
देखी प्रीति गाढ़ी ओढ़े तनसुख ठाढ़ी, जोति
जोबनकी बाढ़ी छिन छिन और होति है,
झलकत गोरी देह बसन झीनेमें मानो
फानुसके अन्दर दिपति दीप जोति है॥

*   *   *

सेनापतिजीने किसी चन्द्रकलासी चपलासी यौवनमद-माती युवतिको—जिसके आगे सुवर्णमें जरा भी द्युति नहीं है (चपलासी कहनेके बाद सुवर्णको घटानेकी कुछ आवश्यकता तो न रही थी)—तनसुखकी चादर या साड़ी उढ़ा कर खड़ी किया है। और इस स्थितिमें उसकी गोरी देहको झीने-महीन वस्त्रमेंसे इस प्रकार चमकती दिखलाया है मानो फानूसमें दीपककी ज्योति झलक रही है।

विहारीलालने इन सब चमकदार विशेषणोंका काम केवल छबीली पदसे लिया है (छबीलीका प्रकाश चन्द्रकला या चपलासे कुछ कम है कि वह अपने प्रकाशका महत्त्व प्रकट करनेको इनका सहारा ढूँढे!) लज्जाशीला बालाको स्त्रियोंके समूहमें अच्छी तरह छिपाकर बिठलाया है पर वह इतनेपर भी नहीं छिप सकी। वह देखो सबसे अलग फानूसकी तरह

साफ दिखायी दे रही है। ऊपर लटका हुआ अकेला 'हंडा' चमकता दिखलायी देता हो तो इसमें इतना चमत्कार नहीं है, जितना इसमें है कि बहुतसे लैम्पोंके बीचमें रखा हुआ, ऊपरसे किसी परदे या ढकनसे ढका हुआ होनेपर भी कोई फानूस सबसे अलग दिखायी दे रहा हो, बहुत छिपानेपर भी न छिपता हो!

× × ×

विहारी और तोषनिधि

दोहा—नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली आली अनत आये बनमाली न ॥ १५२ ॥

* * *

सवैया

जोन्हतें खाली छपाकर भो छनमें छनदा अब चाहति चाली,
कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि फैल गई नभ ऊपर लाली।
साली मनोज विथा उरमें निपटै निठुराई धरे बनमाली,
आली कहा कहिये कहि 'तोष' कहूँ पिय प्रीति नई प्रतिपाली ॥

* * *

तोषजीने विहारीके इसी दोहेके शब्द और अर्थको आगे पीछे करके अपने यहां रख दिया है। दोहेकी बन्दिशमें जो चुस्ती थी वह सवैयेमें आकर ढीली पड़ गयी है। दोहेके शब्दोंसे व्याकुलता टपकी पड़ती है—'नभ लाली' इस घबराहट भरी अधूरी बातमें जो भाव है, वह 'फैल गई नभ ऊपर लाली' इस पूरे वाक्यमें नहीं है। 'चाली निसा' इस कथनमें "सागरको मेरे हाथसे लीजो कि चला मैं" की तरह जो व्याकुलता प्रतीत होती है वह "छनमें छनदा अब चाहति चाली" में

कहां है। "कूजि उठे चटकाली चहुँदिसि" में महावरा बिगड़ गया। चिड़ियोंके लिए 'चहकना' और भौरोंके लिए 'गुंजारना' बोलते हैं, 'कूजना' नहीं कहते। "चटकाली धुनि कीन" के 'धुनि' पदसे दोनों बातें समझी जा सकती हैं। दोहा नूरके सांचेमें ढला हुआ है, एक मात्रा भरतीकी नहीं। फिर अर्थालंकार और शब्दालंकारका चमत्कार देखने योग्य है, बार बार पढ़नेको जी चाहता है।

× × ×

दोहा—हेरि हिंडोरे गगन ते परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥ ५४९॥

कवित्त—रावटी तिमहलेकी बैठी छबिवारी बाल
देखति तमासो गुड़ि आलिनि लड़ायो है,
परि गयो नजर हरिननैनीजूके हरि
हरिहू के [ने] तिरछि कटाछनि चलायो है।
मैन सरवरी तरफरी गिरि परी ऐसी
बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है,
सासु नन्द धाइ आइ पाइ गहै कहै 'तोष'
आज व्रजराज घर ऊजरौ बसायो है॥

० ० ०

यहां तोषजीको हिंडोरेसे सन्तोष नहीं हुआ, तिमहलेकी रावटीमें जा पहुँचे हैं, पर कवित्तको दोहेसे ऊँचा नहीं पहुँचासके। कवित्तमें जो कुछ चमत्कार है वह दोहेके शब्दोंका ही है, पर वह कुछ बिखरसे गये हैं—सजावटमें अन्तर पड़गया है। इसके अतिरिक्त तोषके वर्णनमें कुछ अस्वाभाविकता सी आगयी है, रसकी लूट करायी है पर तिमहलेसे

गिरनेमें, सास ननद् और धायके घबरानेमें, शृङ्गारमें भयानक रसकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है, वह (भयानक) 'संचारी'से* 'स्थायी' बन बैठा, मेहमानसे मालिक मकान बनगया! विहारीके यहां यद्यपि हिंडोलेके आकाशसे परीकी तरह टूट कर पड़ी है, परन्तु प्रियने दौड़कर इस सफाईसे बीचमें ही धरकर—सँभाल कर—रसकी लूट की है कि किसीको घबरानेका तनक भी अवसर नहीं दिया, देखनेवालोंने समझा कि आसमानसे कोई परी टूटकर पड़ी है।

हिंडोरे-गगनका उज्ज्वल रूपक, 'परी परी सी टूट' की ऊँची उपमा और मनोहर यमक, 'हेरि हिंडोरे' 'धरी धाय', 'करी खरी' का श्रुतिमधुर अनुप्रास, जिसे देखिए वही निराला है। दोहेमें दशाविशेषका एक दर्शनीय स्वाभाविक चित्र खींच दिया है।

कोई "परीपैकर" नवेली हमजोली सहेलियोंमें मिली, बेधड़क मौजमें हिंडोलेपै पैंग बढ़ा रही थी, कि ऐसेमें अचानक "आ निकले उधर वह भी" उन्हें देखतेही लज्जा और संकोचसे कुछ इस जल्दीमें उसने हिंडोलेसे उतरना चाहा कि सँभल न सकी, परीसी टूट पड़ी, पर उन हज़रतने कमाल फुरतीसे काम लिया—ज़मीनतक न पहुँचने दिया—बीचहीमें दबोच लिया।

यह गिरना जान बूझकर प्रेमपरीक्षाके लिये भी हो

---

*"भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा,
सर्वेषां समवेतानां यस्य रूपं भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः।"
[भरतमुनि—नाट्यशास्त्र]

सकता है, और सात्त्विक भाव स्तम्भ, वेपथु आदिके आधिक्यसे भी। कारण निगूढ़ है। इसपर "विभावकी व्यक्ति क्लिष्टता सो होत है" कहकर किसी टीकाकारने कटाक्ष किया है, रसदोष बतलाया है। तथा किसीने "स्वकीया परकीया दोउ भासत हैं" समझकर "रसाभास" कहा है। पर ऐसा नहीं है, इस छिपे भेदमें कुछ बड़ा चमत्कार है।

× × ×

पिय बिछुरनको दुसह दुख हरषि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान यह बाल ॥ २५ ॥

* * *

आये पिय परदेस ते गये सौति के धाम।
हरष विषाद भयो भई दुरजोधन सी वाम ॥ (तोष)

* * *

तोष यहाँ भी विहारीका अनुकरण करने चले हैं, पर निभ नहीं सके, सादृश्य यह कह कर रो दिया है—

" किसी की जब कोई तक़लीद करता है मैं रोता हूं,
हँसा गुलकी तरह गुन्चा जहाँ उसका दहन बिगड़ा ! "
(आतिश)

विहारीने जो उपमाका सामञ्जस्य दिखाया है—चूलसे चूल मिलाया है—वह तोषके यहां कहां ! विहारीके दोहेमें हर्ष और विषाद एककालावच्छेदेन विद्यमान हैं "पिय बिछुरन का दुसह दुख" और 'प्यौसाल गमन का 'हरष' एक साथ मौजूद हैं। इससे मरणकालीन दुर्योधनकी समता पूरी तरह फिट होकर रह गयी है। इस सादृश्यमें तोषके होश ख़ता होगये हैं, इनकी वामको पियके परदेशसे, आनेका जब सुख था, तब "सौतके धाम " जानेका दुःख नहीं था, और जब सौतके

धाम चले गये तो अब आनेका सुख खरहेका सींग होगया, काफ़ूर हो गया। दोनों एक साथ नहीं रह सके, या उतनी अच्छी तरह नहीं रह सके जैसे कि विहारीके यहां। "भई दुरजोधनसी बाम"में वह बात नहीं जो 'दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान यह बाल'' में है। दुर्योधनके चरित्रसे महाभारत भरा पड़ा है, हर्ष विषाद भी कई बार हो सकता है। इसलिये केवल इतनेहीसे उस दशाविशेषकी झटिति प्रतीति नहीं होती।

दूर्योधनको शाप था कि जब हर्ष शोक एक साथ होगा, तब प्राण निकलेंगे, भीमके गदाप्रहारसे व्याकुल दुर्योधन मुमूर्षुदशामें पड़े थे, प्राण नहीं निकलते थे, जब सौप्तिक वधमें अश्वत्थामा पाण्डवपुत्रोंके सिर काट कर लाये तो दूरसे देखकर दुर्योधनको हर्ष हुआ कि पाण्डवोंके सिर हैं, पर पाससे देखनेपर यह जान कर कि पाण्डवोंके नहीं, पाण्डवपुत्रोंके सिर हैं, शोक हुआ, इसी दशामें दुर्योधनने प्राण त्यागे।

× × ×

नई लगनि कुलकी सकुच विकल भई अकुलाय।
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय॥ २८४

* * *

दोहा—प्रीतमको हित पौन गहि लिये जात तेहि संग।
गही डोरी कुललाजकी भई चंग के रंग॥
(तोष)

* * *

विहारीकी 'फिरकी' को तोषने 'चंग' बना कर उड़ाया है, (यद्यपि यह चंग भी विहारीसे ही लिया है—"चंग रंग भूपाल")

पर फिरकीकी उपमामें जितनी अनुरूपता है उतनी चंग (पतंग) में नहीं है। 'नई लगन' ने व्याकुलताको खूब व्यक्त कर दिया है। "दुहूं ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय" वाक्य "नई लगन" "कुलकी सकुच" इन दोनों भावोंके द्वन्द्व-युद्धकी तुल्यबलताका कैसा अच्छा द्योतक है, कितनी जबर-दस्त कशमकश है, वह भी थोड़ी बहुत देरकी नहीं, दिन भरकी ! पतंग एक बार डोरीसे खिंच कर वहीं रह जाता है। ऊपर नहीं जा सकता, फड़फड़ाता भले ही रहे। फिरकी, बराबर दोनों ओर यकसां फिरती रहती है। इति विभावयन्तु सहृदयाः।

× × ×

विहारी और पद्माकर

भौंहानि त्रासाति मुख नटति आँखनि सों लपटाति ।
ऐंच छुरावाति कर इँची आगे आवाति जाति ॥४३॥

* * *

दोहा—कर ऐंचत आवत इँची तिय आप ही पिय ओर ।
झूठि हूँ रूसि रहै छिनक छुवत छराको छोर ॥
(जगद्विनोद)

* * *

पद्माकरकी कवितामें विहारीकी कविताका स्पष्ट अपहरण है। नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका कुछ बदला हुआ रूप है। विहारीने बड़ी विदग्धतासे दशाविशेषका स्वाभाविक भाव भरा पूरा चित्र अपने दोहेमें खींच कर रख दिया है। पद्माकरने 'कुट्टमित'की खींचतानमें डाल कर उसका रूप कुछ भद्दा कर दिया। पिछले पदमें—'छुवत छराको छोर' में—बात खोल कर

मामला बिगाड़ दिया। विहारीने यहांतक पहलू बचाया है कि 'त्रासति' 'नटति' क्रियाओंके कर्ताकी प्रतीति 'इँची' इस लिङ्गविशिष्ट पदसे करायी है, 'तिय' 'पिय' की बात खोलकर नहीं कही। पद्माकरने 'तिय आपही पिय ओर।' कहकर मामला बिलकुल साफ कर दिया। विहारीके क्रियापद बहुत अधिक मनोहर और चमत्कृत हैं, पद्माकरके यहां यह बात कहां !

× × ×

कहा लेहुगे खेलमें तजौ अटपटी बात।

नैक हँसौहीं हैं भई भौंहैं सौंहैं खात ॥ ३७३

* * *

दोहा—आनि आनि तिय नाम लै तुमहिं बुलावत स्याम।
लेन कह्यो नहिं नाह को निज तियको जो नाम ॥

(पद्माकर)

* * *

पद्माकरके दोहेका मतलब है कि नायकके हरजाईपनसे नायिका खिजी और खिन्नी बैठी थी, सखीने बहुत समझा बुझाकर उसे मनाया है, नायककी ओरसे वकालत करके उसकी निर्दोषता सिद्ध की है, सन्धि कराकर दोनोंको मुश्किलसे मिलाया है कि बातों बातोंमें उसी प्रतिनायिकाका नाम नायकके मुँहसे निकल गया, × उसके नामसे इसे पुकार बैठा जो इस झगड़ेकी जड़ थी। जिसके कारण मन-मुटाव हुआ था, चतुर सखीने देखा कि मामला फिर बिगड़ चला, उसने अपनी प्रत्युत्पन्नमतितासे बात सँभाली, नायिका-को बिगड़ती देख कहा कि और और स्त्रियोंका नाम लेकर

× संस्कृत साहित्यमें प्रेम पचड़ेकी इस भयानक भूलका परिभाषित नाम 'गोत्रस्खलन' है।

जो यह तुम्हें पुकारते हैं इसका कारण यह है कि सदाचारके नियमानुसार पतिको अपनी स्त्रीका नाम नहीं लेना चाहिए। इसकी पुष्टिमें शायद उसने सदाचारके कानूनका यह विधि-वाक्य भी पढ़ा हो !—

"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥"

अर्थात् जो अपनी भलाई चाहे उसे चाहिए कि भूलकर भी अपना नाम, अपने गुरुका नाम, कंजूस मक्खीचूसका नाम, अपनी बड़ी सन्तान—जेठे लड़के—और स्त्रीका नाम न ले। विहारीलाल इस सदाचारके अस्वाभाविक बखेड़ेमें नहीं पड़े, उनकी सखीने बड़ी सफाईसे इसे हँसीमें डाल कर टाल दिया। नायक बहका ही था, प्रतिनायिकाका नाम उसके मुँहसे निकला ही था, नायिकाका ध्यान उस ओर अभी अच्छी तरह जाने भी न पाया था कि उसने नायकको सावधान कर दिया, कि बस रहने दो, इस अटपटी बानको छोड़ो भी, इस खेलमें क्या लोगे ? सपत्नीका नाम लेकर मेरी सखीको क्यों चिढ़ाते हो ? तुम्हें तो हँसी मज़ाककी सूझी है, पर कहीं हँसीको सतभाव मान कर यह फिर बिगड़ बैठी तो मिन्नत खुशामद करके मुझे फिर मनाना पड़ेगा, मुश्किलसे तो किसी तरह मनी हैं, सौगन्धें खाकर तुम्हारी निर्दोषता प्रमाणित की है तब कहीं इनकी ये रुखौहीं भौहें, हँसौहीं—टेढ़ी भौहें सीधी—हो पायी हैं। विहारीकी सखीके इस कथनमें कितनी मार्मिकता कितनी विदग्धता भरी है। किस अच्छे ढंगसे बातको निभाया है। नायिकाको जरूर यकीन आ गया होगा कि यह मुझे छेड़नेको हँसी कर रहे हैं।

× × ×

विहारी और घासीराम

दोहा—कोहरसी एड़ीनकी लाली देखि सुभाइ ।
पाय महावर देनकौं आप भई बेपाय ॥५०९॥

* * *

कवित्त—मन्द ही चँपेते इन्द्रवधु के बरन होत
प्यारीके चरन नवनिन हु ते नरमैं,
सहज ललाई बरनी न जात घा [का] सीराम
चुईसी परत कवि हू की मति भरमैं ।
एड़ी ठकुराइनकी नाइन गहत जबै
ईंगुरको [सो] रंग दौरि आवै दरबर मैं,
दीयो है कि देबो है विचारे सोचे बार बार
बावरीसी ह्वै रही महावरि लै कर मैं ॥ (घासीराम)

* * *

घासीराम (या काशीरामका) कवित्त इसी दोहेकी व्याख्या है, दोहेके "आप भई बेपाय" महावरेमें जो किंकर्तव्यविमूढता-का भाव व्यङ्ग्य है, वह कवित्तमें 'दीयो है कि दैवो है विचारे सोचे बार बार" इसमें 'वाच्य' हो गया है । 'कोहरसी-लाली' और "ईंगुरसो रंग" एक ही बात है ।

'मन्द ही चँपेते इन्द्रवधुके बरन होता' ने "उत्तम सौकुमार्य" को व्यर्थ ही "मध्यम सौकुमार्य" बना दिया—"रसार्णवसुधाकर" में मध्यम सौकुमार्यका यह लक्षण किया है—

"न सहेत करस्पर्शं येनाङ्गं मध्यमं हि तत् ।"

* * *

अर्थात् जो सौकुमार्य (नज़ाकत) हाथके स्पर्शको भी

सहन न कर सके, सिर्फ छूनेसे ही जिसमें लाली चमक आवे वह "मध्यम" है। इसके उदाहरणमें यह पद्य दिया है—

"लाक्षां विधातुमवलम्बितमात्रमेव
सख्याः करेण तरुणाम्बुजकोमलेन।
कस्याश्चिदग्रपदमाशु बभूव रक्तं
लाक्षारसः पुनरभून्न तु भूषणाय॥"

* * *

लाखका रंग (महावर) देनेके लिये सखीने अपने कर-कमलसे ज्योंही उसके पांवको जरा छुआ कि वह लाल सुर्ख हो गया, फिर लाखके रंगकी ज़रूरत ही न रही।

दोहेका सौकुमार्य इनसे कहीं उत्तम है। यहां एड़ीकी स्वाभाविक लालीको देख कर ही महावर देनेवाली चक्करमें है। महावर देनेको पांवतक हाथ बढ़ानेकी उसे हिम्मत ही नहीं होती!

× × ×

विहारी और कालिदास

दोहा—त्रिवली नाभि दिखायकै सिर ढाकि सकुच समाहि।
गली अलीकी ओट ह्वै चली भली विधि चाहि॥ ४१॥

* * *

कवित्त—भोरी बैस इन्दुमुखी सांकरी गलीमें मिलि
सुन्दर गोबिन्दको अचानक ही आयकै,
"कालिदास" जगैं जेब अंगनि जवाहिरकी
बाहिर ह्वै फैली चांदनीसी छबि छायकै,
नेरो गह्यो स्याम सोहैं विहँसि बिलोकी वाम
हेर्‍यो तिरछौहैं नारि नैसुक नवायकै,

गोरे तन चोरे चित जोरे दृग मोरे मुख
थोरे बीच कोरे लागि चली मुसकायकै ॥"

* * *

दोहेमें स्वभावोक्तिका चित्रसा खिंच गया है। पूर्वार्धमें प्रेमसूचक 'हाव' बड़े मनोहर ढंगसे व्यक्त हुए हैं। अन्तमें 'भली विध चाहि' ने उनका भाव मार्मिकतासे बेमालूम तौर पर खोल दिया है। "गली अलीकी ओट ह्वै चली" इस छोटेसे वाक्यमें जो बात है, उससे कवित्तका बहुतसा भाग भरा हुआ है। कवित्तमें "मुसकाय कैं" पद मज़ेदार है, पर वह 'बिहँसी विलोकी' का जवाब है। इन्दुमुखी और गोविन्द सांकरी गलीमें अकेले हैं, वहां हँसने मुसकरानेका मौका है। यहां गलीमें साथमें अली भी है। इसलिये यही—न मुसकराना ही—मुनासिब हुआ।

× × ×

दोहा—जालरन्ध्र मग अंगिनिको कछु उजास सौ पाइ।
पीठ दिये जग सौं रहै दीठि झरोखा लाइ॥ ३२६

* * *

कवित्त—प्यारी खण्ड तीसरे रसीली रंग रावटीमें
तकि ताकी ओर छकि रह्यौ नँद नन्द है,
'कालिदास' बीचिन दरीचिन ह्वै छलकत
छबिकी मरीचिनकी झलक अमन्द है।
लोग देखि भरमैं कहा धौं है या घरमैं
सुरँग मग्यो जगमगी जोतिनको कन्द है,
लालनको जाल है कि ज्वालनिकी माल है कि
चामिकर चपला कि रवि है कि चन्द है॥

* * *

कालिदासने बहुत ऊँचे पर तीसरे खण्डकी रंगरावटीमें पहुँचकर 'घटना-मन्दिर' की नींव उठायी है। 'जगमगी जोति'-को बहुत चमकाकर दिखाया है, लोगोंको भरमाया है और "नँदनन्द"को छकाया है। पर 'सन्देह'की झड़ी लगाकर अन्तमें खुद फिसल पड़े हैं! "रवि है कि चन्द है" में अच्छा खासा "पतत्प्रकर्ष" हो गया है।

दोहेकी उठान इतनी ऊँची न होनेपर भी इससे उत्कृष्ट है। उत्तरार्धमें लोकोक्तिसे परिपुष्ट "परिसंख्या" बहुत ही सुन्दर है। "तकि ताकी ओर छकि रह्यौ नंदनन्द है" की अपेक्षा "पीठ दिये जग सों रहै दीठि झरोखा लाइ" कहीं चमत्कृत भाव है।

विक्रमकी दृष्टि भी इसपर पड़ी है, विहारीके 'जालरन्ध्र' को उन्होंने उलट दिया है, और कालिदासके 'सन्देह' में 'उत्प्रेक्षा' की एक मशाल अपनी ओरसे और बाल दी है, मशालची अंधेरे रहता ही है! सो यह भी 'पतत्प्रकर्ष' के गढ़में जा पड़े हैं।

दोहा—रन्ध्रजाल ह्वै देखियतु पियतन प्रभा बिसाल।
चामीकर चपला लखौ कै मसाल मनिमाल ॥८५॥
(विक्रम)

\+ \+ \+

विहारी और रसखान

दोहा--किती न गोकुल कुलवधू काहि न केहि सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली ह्वै मुरली सुर लीन ॥ ७ ॥

* * *

सवैया

कौन ठगोरीभरी हरि आज बजाई है बांसुरिया रसभीनी,
तान सुनीं जिनहीं जितही तिनहीं तिन लाज बिदा कर दीनी।
घूमें खरी खरी नन्दके बार नवीनी कहा अरु बाल प्रवीनी,
या ब्रजमण्डलमें 'रसखान' सु कौन भटू जु लटू नहीं कीनो॥

*　　　　*　　　　*

"गुरुजनपरिचर्या-धैर्य-गाम्भीर्य-लज्जा
निजनिजगृहकर्म स्वामिनि प्रेमसेवा।
इति कुलरमणीनां वर्त्म जानन्ति सर्वा
मुरमथन! समस्तं हंसि वंशीरवेण।"

*　　　　*　　　　*

संस्कृत पद्य, रसखानके सवैये और विहारीके दोहेमें 'वंशीरव' 'बांसुरियाकी तान' और 'मुरलीके स्वर' की हो शिकायत है। रसखानकी पदावली बहुत मृदु और रचना मधुर है। पर दोहेकी मुरलीका स्वर बहुत ही मर्मस्पर्शी है। "कौन भटू जु लटू नहीं कीनी" की अपेक्षा "कौने तजी न कुल-गली" में मुरलीके स्वरका प्रभावाधिक्य कहीं बढ़ गया है। फिर "कुलवधू" और "काहि न केहि सिख दीन" ये वाक्य इस भावको और भी ज़ोरदार सिद्ध कर रहे हैं। इस मुरलीके स्वरमें लीन होकर कुलगलीको छोड़नेवाली कोई साधारण कामिनी न थीं, किन्तु "कुलवधू" थीं, और कुलवधू भी ऐसी जो एक दूसरीको मुरलीके स्वरमें लीन न होने, कुल-गली न छोड़ने, कुलमर्यादाका उल्लंघन न करनेका उपदेश देती थीं, इतनेपर भी मुरलीके स्वरसे खिचकर कुलगली छोड़ कुञ्जगलीमें पहुँच गयीं!

संस्कृत पद्यमें भी यह बात इस अनूठे ढंगसे नहीं कही

गयी। "कुलगली" की व्याख्यासे पद्यका पूर्वार्ध भरा हुआ है, "वर्त्म जानन्ति" में और "काहि न केहि सिख दीन" में बहुत भेद है। केवल किसी बातको साधारणतया जाननेमें और अच्छी तरह समझकर उपदेश देनेमें अन्तर है, किसी बातका साधारण ज्ञान रखनेवाला उस विषयमें भूल कर जाय तो आश्चर्य नहीं, पर उस विषयका उपदेशक यदि उसके विरुद्ध आचरण करे तो अवश्य आश्चर्यकी बात है।

७—विहारी सतसई और दूसरी सतसइयाँ

दूसरी सतसइयाँ, विहारीसतसईका मुकाबला भाषा, भाव और रचना आदि किसी बातमें भी नहीं कर सकीं। विहारीकी भाषामें और अन्य सतसईकारोंकी भाषामें इतना ही भेद है जितना किसी पुख़्ताकलाम "अहले-ज़बान"की टकसाली भाषामें और नये "ज़बांदां"की बहुत कुछ बनावटी और मिलावटी भाषामें हो सकता है। विहारीके शब्दोंको दूसरे लोगोंने प्रायः दोहराया है, पर दूसरोंकी रचनामें जाकर वही शब्द जो विहारीके यहां बड़ी आन बान और शानसे जमे बैठे थे, बन्धशैथिल्यादिके कारण कर्णकटु, नीरस और ढीले पड़ गये हैं। विहारीने जिस शब्दको, जिस महावरेको जिस जगह गढ़कर बिठला दिया है, फिर उसे कोई और उस तरह नहीं बिठा सका।

विहारीने जिनका अनुसरण किया है, उनसे आगे निकल गये हैं, और विहारीकी जिन्होंने नक़ल की है वह विहारीकी परछाईं भी नहीं दबा सके।

शृंगारसतसईकार, विक्रमसतसईकार और रतन-हजाराकारने विहारीकी चालपर चलनेकी बहुत जगह चेष्टा की है,

उसी प्रसंगपर उन्हीं शब्दों और भावोंसे काम लिया है, पर वैसा चमत्कार नहीं ला सके। वे मानों अपनी इस असफलता-पर खिसियानी हँसी हँसते हुए विहारीकी ओर इशारा करके कह रहे हैं—

"यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति॥"

* * *

विहारीके अनुकरणमें किसीको कहीं भी सफलता नहीं हुई। सफलता तो एक ओर, कहीं कहीं तो किसी किसीने बेतरह ठोकर खायी है, अर्थका अनर्थ हो गया है। अकबरकी यह उक्ति विहारीके इन अनुकारियोंपर पूरी तरह चरितार्थ हो रही है—

"मेरी तर्ज़े-फ़ुग़ांकी बुल्-हवस् तक़लीद् करते हैं,
ख़िजल् होंगे असरकी भी अगर उम्मीद् करते हैं।"

* * *

इस प्रकारके कुछ उदाहरण उक्त तीनों कविताओंसे नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें विहारीकी नक़ल उतारी गयी है। थोड़ासा ध्यान देकर पढ़नेसे ही विहारीकी कविता-में और इनमें जो अन्तर है, स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, इसलिये विशेष कहनेकी आवश्यकता न होगी। इस प्रसङ्गमें पहले हम उसी 'महारथि' को लेते हैं जिसकी रचनाके सम्बन्धमें 'विवेचनाविनोद' में कहा गया है कि "यह विहारीकी सतसईके समान है"—और "विहारी के दोहोंमें इसके दोहे मिला दिये जायँ तो पहचाने न जायँ"—इत्यादि।

× × ×

विहारीसतसई और शृंगारसतसई

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहर अजौं घर धरहर हिय नारि ॥ ९७ ॥

(वि० स०)

* * *

कित चित गो री जौ भयो ऊख रहरि कौ नास ।
अजहूँ अरी हरी हरी जहँ तहँ खरी कपास ॥ ६० ॥

(शृं० स०)

* * *

ऊपरके दोहेमें विहारीने शब्दरचना-चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास—माधुर्यके अतिरिक्त, अपनी प्रकृतिपर्यवेक्षण-प्रवीणताका परिचय भी कितने अच्छे प्रकारसे दिया है ।

किसी " संकेतविघट्टना—"अनुशयाना " नायिकाको अन्तरङ्ग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, बन(कपास)की बहार बीत गयी और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गयी, पर अभी हरी हरी अरहर खड़ी है, इसलिये हृदयमें धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेत-स्थल (सहेट) अभी बना है ।

दोहेमें इन चीज़ोंके सूखने और उखड़ने आदिका क्रम बिलकुल ठीक है, हर जगहका किसान इसकी ताईद करेगा ।

अब ज़रा शृंगारसतसईकारका "नेचरनिरीक्षण" देखिए, इन हज़रतने अनभिज्ञतासे या "नास" के साथ 'कपास'-की तुक मिलानेकी धुनमें, कितनी उलटी बात कह डाली है जो वास्तविकताके—प्रायः सार्वदेशिक अनुभवके—विरुद्ध है । ऊख(ईख)के बाद रहरि—अरहरका नाश नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईखके बहुत दिनों पीछेतक—गेहूँ कटने-

तक—हरी भरी खड़ी रहती है, और बन—कपासकी—बहार इन दोनोंसे बहुत पहले बीत जाती है। पर शृंगार-सतसईकार उस समय "जहँ तहँ, हरी हरी कपास खरी" देख रहे हैं जब उसका अक्सर निशान भी नहीं रहता। भारतवर्षमें तो क़रीब क़रीब सब जगह ऐसा ही होता है, यह किसी ख़ास जगहकी बात कही हो, कहीं एक आध जगह ऐसा देखकर, विहारीके दोहेको "इसलाह" दी गयी हो, तो नहीं कह सकते।

मौलाना हालीने अपने दीवानके मुक़द्दमेमें कविके लिये "सृष्टि-कार्य निरीक्षणकी आवश्यकता क्यों है", इस बातको "मसनवी" (आख्यायिका) पर बहस करते हुए एक उदाहरण द्वारा समझाया है। हाली लिखते हैं—

"......इसी प्रकार क़िस्सेमें ऐसी छोटी छोटी प्रासङ्गिक बातोंका बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहदा झुटलाते हों कदापि उचित नहीं, इससे आख्यायिकाकार (कवि)का इतना बेसलीक़ापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोकवृत्तान्तसे अनभिज्ञता, या ज़रूरी अनुभव प्राप्त करनेसे बेपरवाई साबित होती है। जैसा कि "बद्रे-मुनीर"में एक ख़ास मौक़े और वक़्का समां (दृश्य) इस तरह बयान किया है—

'वो गानेका आलम वो हुस्ने-बुतां;
वो गुलशनकी ख़ूबी वो दिनका समां।

× × ×

दरख़्तोंकी कुछ छांव और कुछ वो धूप,
वो घानोंकी सब्ज़ी वो सरसोंका रूप॥"

* * *

अख़ीर मिसरेसे साफ यह प्रतीत होता है कि एक तरफ धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़ेके ख़िलाफ़ है, क्योंकि धान ख़रीफ़में (सावनीमें) होते हैं, और सरसों रबीमें (असाढ़ीमें) गेहुओंके साथ बोयी जाती है ''।—

शृङ्गारसतसईका यह दोहा 'बद्रेमुनीर' के इस धान-सरसोंवाले मिसरेको भी मात कर गया !

× × ×

कोन सुनै का सौं कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ॥ ३९० ॥

(वि० स०)

* * *

इक तो मदन-विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं।
दूजे बद बदरा अरी घिरि घिरि बिष बरषाहिं ॥ ३५६ ॥

(शृं० स०)

* * *

यह दोहा 'शृङ्गारसतसई'के अच्छे चुने हुए दोहोंमें गिना जा सकता है। इसमें भी विहारीकी पूरी तरह नक़ल करनेकी कोशिश की गयी है।

विहारीने विरहिणीके मुखसे बेबसीकी हालत में "... सुरति बिसारी नाह" कहला कर जो हृदयहारी भाव मार्मिकतासे व्यक्त किया है, वह "इक तो मदन बिसिख लगे" इस सूरतमें आकर, खुलकर चमत्कारहीन होगया है। विहारीने उस दशामें—निःसहायावस्थामें—"उद्दीपन विभाव" (वर्षा-मेघ)के आक्रमणकी असह्यता, दोहेके उत्तरार्धमें कितने

चमत्कृत ज़ोरदार, प्रभावशाली शब्दोंमें, किस सुन्दरतासे प्रकट की है कि बस सुनकर तबीयत फड़क जाती है, सुननेवालेके दिलपर चोट सी लगती है —

"बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह"

इधर शृङ्गारसतसईकारने "उद्दीपन विभावके" प्रादुर्भावका उल्लेख करनेसे पहले ही गरीबको "मदन बिसिख"लगाकर मूर्छित और बेसुध बना डाला है ! यह इस प्रकार उद्दीपन विभावका पश्चान्निर्देश अत्यन्त अनौचित्यपूर्ण है । इसमें "उद्दीपन विभाव" की बुरी तरह सरासर हतक हुई है, उसके अधिकारपर अनुचित आक्रमण हुआ है, उसका महत्त्व घट गया है। 'तकबीर' का कलमा पढ़नेवाले 'मुल्ला' (बदरा)के पहुँचनेसे पहले ही हिरनी (विरहिणी) हलाल कर दी गयी है !

"बदरा बदराह" का चलता हुआ "यमक" "बद बदरा"—में उतर कर कुछ लँगड़ा सा हो गया है। "बदाबदी जिय लेत हैं" इस ज़ोरदार महावरेमें जो ज़ोर है, वह "घिरि घिरि बिष बर्षाहिं" की घिसपिसमें घट गया है। यद्यपि इसके "विष" में कुछ चिपक (श्लेष) है, और यह "विष" उँगली उठाकर इस प्रसिद्ध पद्यकी ओर इशारा कर रहा है —

"विषं विषधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः" ।

दोनों दोहोंमें यद्यपि वर्णन एक ही प्रसङ्गका है, अभिप्राय एकही है, पर विदग्ध, विहारीसूक्तिको ही पसन्द करेंगे—

"अर्थावबोधेऽपि समे रसज्ञै रन्विष्यते सत्कविसूक्तिरेव ।
अपत्यलाभेऽपि समे विदग्धा रूपोत्तरामेव हि रोचयन्ते ॥"

\+ • + +

नित संसौ हंसौ बचतु मानौं इहिं अनुमान ।
बिरह-अगनि लपटनि सकै झपट न मीच सिचान ॥४२५

(वि० स०)

*   *   *

चन्दन कीच चढ़ाय हूँ बीच परै नहिं रांच ।
मीच नगीच न आसकै लहि विरहानल आंच ॥ ३६५

(शृं० स०)

*   *   *

यहां भी विहारीकी नक़ल उतारी गयी है, पर यह भी निरी विडम्बना है। विहारीने जीवको हंसका फड़कता हुआ और मृत्यु(मीच)को श्येन(सिचान)का उड़ता हुआ रूपक देकर और हेतूत्प्रेक्षाके परोंपर चढ़ाकर, दोहेके मज़मून-को आसमानपर पहुँचा दिया है। शृङ्गारसतसईका दोहा इसके "नगीच" नहीं पहुँच सका, मंज़िलों नीचे परकटे कबू-तरकी तरह (चन्दनकी कीचमें) ख़ाकपर पड़ा लोट रहा है!

'चन्दनकी कीच (पङ्क) चढ़ानेसे भी कुछ बीच नहीं पड़ता, दाह कम नहीं होता, ठंड नहीं पहुँचती, विरहानलकी आंचसे मौत (नगीच) नज़दीक नहीं आ सकती" इसमें, और "मृत्यु-रूप बाज, जीव-हंसपर विरहाग्निकी लपटके डरसे नहीं झपट सकता, पास फटकते उसके पर जलते हैं, इससे इस दशामें भी वह मृत्युके आक्रमणसे बची हुई है"—इस कथनमें बहुत भेद है।

\+   \+   \+

पहुँचति डटि रन सुभट लौं रोकि सकै सब नाहिं ।
लाखन हूँ की भीर में आंखि वहीं चलि जाहिं ॥ ६२

*   *   *

धीर अभय भट भेदिकै भूरि भरी हू भीर ।
झमकि जुरहिं दृग दुहुँनिके नेकु मुरहिं नहिं बीर ॥ १५७

* * *

विहारीके दोहेमें "...डटि रन सुभट" पद कितने ज़ोर-दार हैं। "रोकि सके सब नाहिं" में कितना अदम्य प्रबल परा-क्रम भरा है। "लाखन हूँ की भीर" में "भूरि भीर" से बहुत आधिक्य है। नीचेके दोहेमें "धीर, वीर," पदोंके रहते 'अभय' पद सर्वथा व्यर्थ है, निरा भरतीका, बिलकुल बराये-बैत है। फिर जुड़नेके बाद मुड़ना कैसा! "झमक जुरहिं दृग दुहुँनिके" वाक्य भी विहारीके "जुरे दुहुनिके दृग झमकि" (६१ दो०)-का अपहरण है। शृंगारसतसईके इस दोहेके जोड़बन्द इतने ढीले हैं कि पद पदपर डगमगाता है।

+ + +

दीप उजेरेहू पतिहि हरत बसन रति काज ।
रही लपटि छबिकी छटनि नैकौ छुटी न लाज ॥ ३१

(वि० स०)

* * *

बसन हरत बस नहिं चल्यौ पिय बतरस बस आय ।
अँगन चिलक तिय नगनकी लीनी लाज बचाय ॥ ६६

* * *

"हरत बसन" इस ढाकेकी साड़ीके बारीक पर्देमें जो बात ढकी थी, उसे "तियनगन" इस धींग वाक्यने बिलकुल नंगा कर दिया। इससे सहृदयताकी सहचरी विदग्धताने शरमाकर आंखें बन्द करलीं! "रही लपटि छबिकी छटनि नैकौ छुटी न लाज" में जो विचित्र चमत्कार है वह "अँगन-चिलक तिय नगनकी लीनी लाज बचाय" में आकर बहुत मन्द-

प्रभ पड़ गया है। "नैकौ छुटी न लाज" में और "लीनी लाज बचाय" में इतना ही भेद है जितना "बाल बाँका न होने" में और "जान बची लाखों पाये" में है—इति सूक्ष्मेक्षिकया निभालयन्तु विचक्षणाः।

\+ × +

"जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूं दिस सैन।

तदपि न छांड़त दुहुनिके हँसी रसीले नैन॥ ६५॥

(वि० स०)

* * *

"घरहाइन चरचैं चलैं चातुर चाइन सैन।

तदपि सनेह सने लगैं ललकि दुहूँके नैन॥ ३१४॥

(शृं० स०)

* * *

विहारीके यहाँ "चीकनी" पद 'चवायनि' की 'सैन' का विशेषण था, उसे यहाँ "सनेह सने" बनाकर "दुहूँ के नैन" पर चुपड़ दिया है, चिपका दिया है या चस्पां कर दिया है। 'रसीले' की जगह "ललकि" रख दिया है। 'चवायनि" की "चाइन" (डाइनकी बहिन!) हो गयी है और उसकी सहायताके लिये एक "घरहाइन" और आ गयी है। इस तरह "तदपि न छाँड़त दुहुनिके हँसी रसीले नैन" का "तदपि सनेह सने लगैं ललकि दुहूँके नैन" बन गया है।

(ऊपरके दोहेपर विशेष "सतसईसंहार" में देखिए।)

× × ×

"हौं हीं बौरी बिरह बस कै बौरो सब गाम।

कहा जानि ये कहत हैं ससिहि सीतकर नाम॥४१६॥

(वि० स०)

* * *

"जाहि जोहि भारद भई मरी परी दुखफंद ।
ताहि सुधाधर क्यों कहैं दारद सारद चंद ॥४११॥
(शृं० स०)

* * *

"जाहि जोहि' 'भारद' 'दारद' 'सारद' आदि अटपटे शब्दाडम्बरकी 'गारद'में बिहारीके भावको छिपानेकी—नूतनता लानेकी—चेष्टा की गयी है, पर इसमें और उसमें इतना ही अन्तर है जितना एक काचके टुकड़े और रत्नमें होता है। (ऊपरके दोहेकी विशेष व्याख्या आगे "बिहारीके विरहवर्णन" निबन्धमें देखिए।)

× × ×

बिरह जरी लखि जींगनानि कह्यौ सु उहि कै बार ।
अरी आव भाजि भीतरी बरसत आज अँगार ॥२८५॥
(बि० स०)

* * *

ए जीगन न उड़ाहिं री बिरहजरी हि जराय ।
इत आरी मदनागिकी चिनगारी रहिं छाय ॥६२॥
(शृं० स०)

* * *

शृंगारसतसईकारको 'री री' का कुछ रोग है, 'री' को इन्होंने अक्सर दोहोंमें एकही जगह मुकर्रर सिकर्रर तकलीफ़ दी है। पूर्वार्धमें 'री' था ही, उत्तरार्धमें फिर 'आरी' बनकर आ गया है। 'बिरह जरी' और "जीगननि" जो बिहारीके यहाँ हैं, उन्हें ही जरा आगे पीछे करके बिठला दिया है। "लखि" का "उड़ाहिं" हो गया है। "अरी आव भजि भीतरी" का इख़्तसार "इत आ री" हुआ है। "बरसत आज

अँगार"—गर्दिशे-ऐमालसे "मदनागिकी चिनगारी रहीं छाय"-के रूपमें बदल गया है। 'बिरहजरी' वाक्य जिस भावको अपनी ध्वनिमें चुपचाप कर रहा था, उससे इन्हें सन्तोष नहीं हुआ, 'मदनागिकी चिनगारी" कहे विना चैन नहीं पड़ा!

× × ×

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर ॥५३४॥

(वि० स०)

* * *

सगरब गरब खिंचै सदा चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बांकी अदा नेकु न खींची जाय ॥४७८॥

(शृं० स०)

* * *

मालूम होता है विहारीके "गरब, गरूर" में पुनरुक्ति समझकर, नीचेके दोहेमें "सगरब गरब" की "इसलाह" दी गयी है! इसे पुनरुक्ति समझकर कुछ और लोग भी अक्सर धोखेमें पड़े हैं, किसीने 'गरब' का 'गहब" (अधिक, भारी) बनाया है। किसीने हिन्दू और मुसलमान चितेरोंके साथ 'गरब' का और 'गरूर' का यथाक्रम सम्बन्ध जोड़ा है!! पर यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, इस जगह "गरूर" का अर्थ "मग़रूर"—सरापा ग़रूर—है अर्थात् बहुत गर्बीला। जहाँ गुणवाचक या भाववाचक शब्दसे गुणीका बोध कराया जाता है, वहाँ गुणीमें गुणप्रकर्ष व्यङ्ग्य होता है। यथा—"साक्षादिव विनयः" यहाँ विनयीमें विनयाधिक्य व्यङ्ग है, बाणकी कादम्बरीमें तो इस प्रकारके प्रयोग बहुतायतसे हैं—"प्रत्यादेशो धनुष्मतां"—इत्यादि।

उर्दू कवियोंके "ज़ौक़" "शौक़" "दर्द" "दाग़" आदि 'तख़-

लुस' भी एक प्रकारसे इसका उत्तम उदाहरण हो सकते हैं।

शृङ्गारसतसईके इस दोहेकी 'क्रिया" ख़राब हो गयी है, "कर्म्म" भी कुछ बिगड़ गया है। "खिंचै" रक्खें तो बेचारे चतुर चितेरे खुद खिंचे आते हैं! और चितेरोंपर दया करके "खींचैं" पढ़ें तो मात्राकी टाँग खिचकर बढ़ जाती है! इस दोहेकी शब्दस्थापना कुछ ऐसी बेढंगी और विषम है कि पढ़नेमें ज़बानको धचका लगता है, सहृदयताके सुकुमार कोमल कान इस खींचतानको सह नहीं सकते।

(बिहारीके उक्त दोहेकी गम्भीरता—बह्वर्थतापर पहले ६२ पृष्ठसे ६८ पृष्ठतक लिखा जा चुका है)

× × ×

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधरके बीर॥ २२६

(वि० स०)

* * *

जुग जुग ये जोरी जियै यों दिल काहू दिया न।
ऐसी और तिया न हैं ऐसे और पिया न॥ ३५२)

(शृं० स०)

* * *

ऊपरके दोहेको देखे यह नीचेका दोहा कितना नीचा है! 'दिया' 'तिया'—'पिया' की फ़िज़ूल तुकबन्दीके सिवा इसमें ज़रा भी तो कवित्वचमत्कार नहीं।

× × ×

औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।
बिच ही सूख गुलाब गौ छींटौ छुई न गात॥ ३८२

* * *

"बिरह आंच नहिं सहि सकी सखी भई बेताब।
चनकि गई सीसी गयौ छिरकत छनकि गुलाब॥ ६००

(शृं०स०)

* * *

नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका स्पष्ट "प्रतिविम्ब" है। "सीसी चनकि (चटक) गई और सखी बिरहकी आंच नहीं सह सकी, बेताब भई" नयी बात है। विहारी दूसरी जगह विरहवर्णनमें इससे कहीं अधिक कह चुके हैं। यहां "बिच ही सूख गुलाब गौ छींटौ छुई न गात "में ही बहुत कुछ कह दिया है।

× × ×

मो हि भरोसौ रीझि है उझाकि झांकि इक बार।
रूप रिझावनहार वह ये नैना रिझवार। ३३९

(वि॰ स॰)

* * *

क्यों न एक मन होत तन दोय प्रान इक बार।
ये नीकी रिझवारि हैं वे नीके रिझवार। १०५

(शृं॰ स॰)

* * *

नीचेके दोहेमें व्यथकी तुकबन्दीके सिवा कवित्वका पता नहीं। पूर्वार्धमें पड़े "प्रान" ने भारभूत हो कर इसे और भी बेजान बना दिया है। "ये नीकी रिझवारि हैं वे नीके रिझ-वार"—बिलकुल वाहियात है। "रूप रिझावनहार वह ये नैना रिझवार" में एक बाँकपन है, कुछ बात है, कवित्व है।

बिहारीसतसई और विक्रमसतसई

ललित स्याम लीला ललन चढ़ी चिबुक छबि दून ।
मधु छाक्यो मधुकर परयौ मनौ गुलाबप्रसून ॥ ४८७

(बिहारी)

* * *

अति दुति ठोढ़ी बिन्दु की ऐसी लखी कहूं न ।
मधुकरसूनु छक्यो पर्‌यो मनौ गुलाब प्रसून ॥

(विक्रम)

* * *

बिहारीके इस दोहेकी मौजूदगीमें विक्रमजीको यह दोहा गढ़नेकी न जाने क्या ज़रूरत मालूम हुई ! बिहारीके शब्दार्थ-का अपहरण तो किया, पर उसे छिपा न सके, इसलिये यह राजशेखरके उस अर्थापहरण-विचारवाले प्रसिद्ध फ़ैसलेसे भी कुछ लाभ नहीं उठा सकते—

' स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् '

* * *

पशु चुरानेवाले चालाक चाइयां, सींग कान काटकर पशुका हुलिया बदल दिया करते हैं। यहाँ भी बिहारीके दोहेके सींग "ललित स्याम लीला" काट कर और 'मधु' उड़ाकर—'मधुकर' का "मधुकरसूनु" बनाकर—छिपानेकी चेष्टा की है, सही. पर "मनौ गुलाबप्रसून" पुकार कर कह रहा है कि मैं वही बिहारीका धन हूं ! 'छक्यो, पर्‌यौ,' इसकी गवाही दे रहे हैं ! ललित स्याम लीला-(सुन्दर स्याह गोदना)-से चिबुक-पर जो दूनी छबि चढ़ रही थी, वह इस हुलिया बदलनेमें बेशक जाती रही । 'मधु' के छीन लेनेसे 'मधुकरसूनु' बेचारा

भूखा रह गया ! उसे इस दशामें "छक्यो पर्यौ" नहीं, "भूखौ पर्यौ" कहना चाहिये। मालूम होता है मानो दुर्भिक्षपीडित बच्चेकी तरह भूखके मारे मूर्छित अवस्थामें अचेत पड़ा है !

× × ×

छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नाहिं बतराय ।
ऊख महूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय ॥३२६॥

(विहारी)

* * * *

कहि मिश्री कह ऊखरस नहीं पियूष समान ।
कलाकन्द कतरा अधिक तू अधरारसपान ॥=४॥

(विक्रम)

* * * *

विहारीने 'वृत्त्यनुप्रास और 'व्यतिरेक' के मधुरपाकमें दोहेको पागकर किसी मधुरवाणीके 'वतराने'के सामने—(वाणीके माधुर्यकी तुलनामें)—'ऊख' 'महूख' (मधु) और पियूख, (अमृत)को घटाया है, और खूब तरतीबसे सिलसिलेवार घटाया है। बातमें एक मज़ा आगया है। विक्रमने "अधरारस"से मुकाबला किया है, पर इनकी कविताके पलड़ेमें 'कान" पड़ गयी, तुलना ठीक नहीं होसकी। पहले तो 'मिश्री"-के बाद "ऊखरस" का घड़ा चढ़ाना ही ठीक न था, ख़ैर उसे 'पियूष'ने ठीक कर दिया था कि फिर "पासँग"में ' कलाकन्द"का ढेला ला धरा ! इस असमानके साथ समानता करनेमें 'पियूष' का अपमान होगया, वह नीचे उतर गया, अब 'मिश्री' 'ऊखरस' और केवल 'कलाकन्द' से ही मुकाबला रह गया। कुछ कमी हो तो एक बड़ी सी "भेली" और रख

सकते हैं। उससे भी पूरा न पड़े तो शीरेका एक बड़ा पीपा, और सही !! कैसा बुरा आदर्श "पतत्प्रकर्ष" हुआ है !

+ + + +

टटकी धोई धोवती चटकीली मुखजोति,
फिरति रसोई के बगर जगर मगर दुति होति ॥२४३॥

(विहारी)

* * * *

भोगवती भोजन रचत मृगलोचन सुखदानि ।
घूंघट पटकी ओट करि पियको आगम जानि ॥ ६३ ॥

(विक्रम)

* * * *

भोगवती, सुखदान, मृगलोचन जो नायिका है सो भोजन रचती है अर्थात् बनाती है, एक बात। किस प्रकार बनाती है,—प्रियका आगमन जानकर घूंघटके पटकी ओट करके, दूसरी बात। 'भोगवती' कहनेका अभिप्राय शायद यह है कि उसे खाने पीनेका बहुत शौक़ है, दूसरेका बनाया भोजन नहीं भाता। "मृगलोचनी" है इसीलिये घूंघट पटकी ओट करायी गयी है। मृगलोचनके नैनमृग खुला छोड़नेपर शायद प्रियके दिलका खेत चर लेते ! भोजन बनाकर खिलानेवालीको "सुखदान" कहना उचित ही है। भोजनका समय है, इसलिये प्रियका आना एक ज़रूरी बात है। इस प्रकार विक्रमजीने इस दोहेमें कितने भाव भर दिये हैं ! पर इससे कविताप्रेमीको तबीयत नहीं भरती। सहृदय रसिककी तृप्ति नहीं होती। विहारीकी 'टटकी धोई धोवती (धोती)" ने 'घूंघट पट' का पर्दा फ़ाश कर दिया, "चटकीली मुखजोति' ने 'भोगवती,

मृगलोचन, 'सुखदान'ने सबको कान पकड़ कर कविताके मैदानसे बाहर निकाल दिया। और "फिरति रसोईके बगर"-ने लज्जासे मुँह छिपाकर नीचे बैठनेको विवश कर दिया। "जगर मगर दुति" ने अपने प्रकाशमें बिलकुलही विलीन कर दिया!

" टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति।
फिरत रसोईके बगर जगर मगर दुति होति।"

\+ + + +

लाज-लगाम न मानहिं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचतहू चलि जाहिं॥२६१॥

(विहारी)

* * * *

चपल चलाकिन सौ चलत गनत न लाज लगाम।
रोकै नहिं क्यौं हूँ रहत दृग तुरंग गतिवाम॥ २६५॥

(विक्रम)

* * * o

विक्रमके वामगति चपल दृग-तुरंग विहारीके मुँहजोर नैना-तुरंगको नहीं पहुँचते'। इनकी मुँहजोरी—बदलगामी—से हार मानकर मानो सवार पुकार कर कह रहा है कि मेरे काबूसे बाहर हैं—"सवार ख़ाक हूँ बे अख़्तियार बैठा हूँ"—

\+ + + +

मोहिं दियौ मेरौ भयो रहत जुमिल जिय साथ।
सो मन बांधि न दीजिये पिय सौतिन के हाथ॥१८५॥

(विहारी)

* * *

दियौ हरखि हित सौ हियौ लेत न फेर लजात ।
आन हात प्रीतम सु अब क्योंकर सौंप्यौ जात ॥ १०४ ॥
(विक्रम)

* * *

यहां भी विक्रमजीकी शिकायतका 'रंग विहारीके मुकाबलेमें बहुत फीका है । विक्रम दी हुई चीजको न लौटानेकी धार्मिक दुहाई देकर ही काम निकालना चाहते हैं । विहारी कहते हैं कि आपने मन मुझे दे दिया और वह पूरी तरह मेरा हो गया, वह अब कहीं जाना नहीं चाहता, मेरे जीके साथ मिलकर रहता है, उसका जी यहां लग गया है, खूब परच गया है । आप उसे ज़बरदस्ती, उसकी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ बांधकर, सौतिनके हाथ देना चाहते हैं, ऐसा न कीजिये ।

× × ×

मैं लै दयौ लयौ सुकर छुवत छनकि गौ नीर ।
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर ॥३०२॥
(विहारी)

* * *

उझक अलिन की ओट ह्वै नवल नारि दृग जोइ ।
घालत मूठ गुलाल भर छुटत अरगजा होइ ॥ ३१४ ॥
(विक्रम)

* * *

विहारीने विरह-संतापमें 'अरगजे'का 'अबीर' बनाया था, विक्रमने उसे सात्त्विक प्रस्वेद में सानकर फिर अरगजा बना डाला है । पर विहारीके कलामकी गरमीके आगे विक्रमका यह कथन गारा मालूम होता है !

× × ×

भूषन भार सँभारि है क्यों यह तन सुकुमार ।
सूधे पाय न धर परत सोभा ही के भार ॥

(विहारी)

*　　*　　*

हार निहार उतार धरि विधि तन रचे सिंगार ।
धरन चलत ललिकत नरुनि बारभार सुकुमार ॥१६९॥

(विक्रम)

*　　*　　*

चलत लंक लचकत चलति सकति न अंग सम्हार ।
भार डरनि सुकुमार वह धरत न उरपर हार ॥ १७० ॥

(विक्रम)

*　　*　　*

विहारीकी लासानी नाजुकख्यालीका मुकाबला करने के लिये विक्रमने पहले तो बालोंका भार अधिक बतला कर हार उतरवाया, फिर लंक(कमर)की लचकके ख्यालसे उसी बातको दोहराया। पर विहारीकी शोभाके भारके सामने ये 'बारभार' और "हारभार" पहाड़से भी भारी हैं ।

×　　×　　×

जौ वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप ।
तौ बलि नैक विलोकिए चलि औचक चुपचाप ॥

(विहारी)

*　　*　　*

देखहु बलि चलि औचका यह औसर फिर नाहिँ ।
खेलत कर कन्दुक लिये रंग राउटी माहिं ॥ १४८ ॥

(विक्रम)

*　　*　　*

विहारीके इस दोहेकी व्याख्या ८१ पृ० पर पढ़कर, फिर विक्रमका यह दोहा देखिए, विहारीके वही ध्वनिपूर्ण पद, इस रंगरावटीमें आकर कैसे चमत्कारहीन होगये हैं।

विहारीसतसई और रतनहजारा

नीची यै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचे नीचे दियो मन-कुलंग झकझोरि ॥४६५॥
(सतसई)

*　*　*

'छवि मिसरी जब तैं दई तुव दृग बाजन मैन।
मन-कुलंग कौं धरत हैं ये विच चंगुल सैन ॥४३१॥
(रतनहजारा)

*　*　*

विहारीका 'मन-कुलंग' 'रतनहजारे'में भी है। "कुही"-का "बाज" बन गया है। क़ाफ़िया (तुक) बदल गया है, मज़मून वही है, पर बात वह नहीं है। "कुही" जिस चालाकीसे कुलंग-(कलबिंक)-चिड़िया, या कबूतरका शिकार करती है, विहारीने उसकी ऐसी सच्ची तसवीर खींच दी है कि दोहेको पढ़कर हूबहू वही नक्शा आँखोंमें फिर जाता है। कुही-(बाजकी जातिकी एक शिकारी चिड़िया) किसी वृक्षकी डालीपर या घोंसलेमें बैठी हुई चिड़ियाको, या छतरीपर बैठे हुए कबूतर-को, पास पहुँच कर पहले वहाँसे उसे उड़ा देती है, आप उसके नीचे नीचे उड़ती रहती है, जब उड़ते उड़ते चिड़िया अपने घोंसले या अड्डेसे इतने ऊँचेपर पहुँच जाती है कि जिससे जल्दी नीचे नहीं आ सकती तो नीचे उड़ती हुई

"कुही" अचानक ऊपर उड़ती चिड़ियाके ऊपर पहुँच कर उसे नीचे देकर पंजोंमें दबा लेती है । 'नीची नज़र'की मारके लिये यह उपमा कितनी अनुरूप है. नीची नज़रकी तरह यह ऊँची उपमा भी विदग्धोंके मनको पकड़ती है। विहारीकी "कुही"के सामने रसनिधिका पालतू बाज़ नज़रमें कुछ जँचता नहीं। फिर "छबि मिसरी (?)"की बात और भी फीकी मालूम पड़ती है, मांसाहारी बाजके लिये यह 'मिसरी'की चाट कैसी?

× × ×

अलि इन लोयन कों कछू उपजी बड़ी बलाय ।
नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय ॥२५९॥
(सतसई)

* * *

पीवत पीवत रूप रस बढ़त रहै हित-प्यास ।
दई दई नेही दृगन कछू अनोखी प्यास ॥३७०॥
(रतनहजारा)

* * *

रसनिधिका यह "पीवत पीवत" व्रजभाषाके अमल अङ्गमें घावके पीवकी तरह घृणोत्पादक मालूम देता है। "अहलेज़बान" कहता तो "पियत पियत" कहता। इस 'रूप-रस' में उतना रस नहीं जितना विहारीके "नीर भरे नित प्रति रहैं" में है। "अनोखी प्यास" में "बड़ी बलाय" के आगे कुछ भी अनोखापन नहीं। 'दृगन' के "नेही" विशेषणने "अनोखी प्यास" का अनोखापन बहुत कम कर दिया। और 'हित प्यास' के 'हित' पदने तो और भी अनोखेपनका रहा सहा परदा उठा दिया। हितकी प्यास है, नेही (स्नेही) नेत्रोंको है, बस बात साफ हो गयी, अनोखापन काफूर हो गया। इस जगह प्यासके मारे रसनिधिजीका "क़ाफ़िया तंग" हो गया

है। 'हित प्यास'—'अनोखी प्यास'—पहले प्यास—पीछे प्यास—यह बेशक अनोखापन है।

× × ×

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये दई नई यह रीति॥

(सतसई)

* * *

उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीति।
प्रेम नगरमें आइकै देखी बड़ी अनीति॥६२६॥

* * *

अद्भुत गति यह प्रेम की लखो सनेही आय।
जुरै कहूँ टूटै कहूँ कहूँ गांठ परि जाय॥६६४॥

(रतनहजारा)

* * *

विहारीके दोहेके भावको रसनिधिने इन दोहोंमें दो बार दोहराया है, पहली बार "असंगति"के दायरेमें दो चक्कर 'दृग' और 'मन'के नामपर लगाये हैं। 'दृग'के साथ मनपर भी नज़र जमाए रहे हैं। दूसरी बार—सरपट दौड़े हैं और एक सांस "जुरै कहूँ टूटै कहूँ कहूँ गांठ पर जाय" कहते गए हैं! पर विहारीसे बाज़ी नहीं ले सके।

× × ×

पहला दोहा विहारीके इस दोहेकी नक़ल है, 'नेहपुर' का 'प्रेमनगर' बन गया है, 'लगालगी लोयन'का 'दृग उरझत' हो गया है—

क्यों बसिये क्यों निबहिये नीति नेहपुर नाहिं।
लगालगी लोयन करैं नाहक मन बँधि जाहिं॥२७४॥

* * *

खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार ।
कानन-चारी नैन मृग नागर-नरन सिकार ॥४५८॥
(सतसई)

* * *

प्रेम अहेरी की अरे यह अद्भुत गत हेर ।
कीने दृग-मृग मीत के मन-चीते पर सेर ॥६२०॥
(रतनहजारा)

* * *

यहां भी रसनिधिने विहारीके 'अहेरी मार' को "प्रेम अहेरी" बनाकर अपनाया है। निस्सन्देह विहारीकी छाया होनेपर भी रसनिधिका यह दोहा चमत्कारशून्य नहीं है. "मनचीते पर सेर' यह महावरा अच्छा है, इस श्लेषमें कुछ चिपक है। पर 'शेर' का 'चीते' पर आक्रमण कुछ ऐसा आश्चर्य-जनक नहीं । विहारीका मार (काम)-अहेरी, सचमुच बड़ा चतुर है, जिसने "काननचारी" (कानोंतक फैले हुए-और बनमें चरनेवाले) नैनरूप मृग, इस ढंगसे सिखाये हैं कि वह 'नागर' (चतुर और नगरनिवासी)—नरोंका बेधड़क दिनदहाड़े शिकार करते हैं ! हिरनसा 'वहशी' जानवर जो आदमीकी सूरत देखकर कोसों भागता है वह इस तरह आदमियोंका शिकार करे ! यह ज़रूर ताज्जुबकी बात है। कितना अच्छा "श्लेष" और 'रूपक' है—

"काननचारी नैनमृग नागर-नरन सिकार"

× × ×

इन दुखिया आँखियानिकौं सुख सिरजोही नाहिं ।
देखै बनैं न देखते अन देखे अकुलाहिं ॥२७०॥
(सतसई)

* * *

भरभराँय देखै बिना देखै पल न अघायँ।
रसनिधि नेही नैन ये क्यों समुझाये जायँ ॥ ४३१ ॥

* * *

भला "नेही" नैन किसीके समझाए कभी समझे भी हैं? जो रसनिधिजीके समझाए समझेंगे! इन्हें समझ लेना चाहिए कि यह ज़िद्दी बच्चेकी तरह किसी तरह नहीं समझाए जा सकेंगे।

विहारीकी "दुखिया अँखियान" की दशा बेशक दयनीय है, जिनके लिये किसी दशामें सुख बना ही नहीं। न देखते बनता है न बिना देखे रहा जाता है।

विहारीके व्यङ्ग्य स्नेहमें एक चमत्कार है, उक्तिमें वैचित्र्य है। पदावलिमें माधुर्य है। "देखै बनै न देखते" यह एक ही पद ऐसा है, जिसका जवाब नहीं है।

× × ×

रह्यो ऐंचि अन्त न लह्यो अवधि दुसासन बीर।
आली बाढ़त विरह ज्यौं पाञ्चाली को चीर॥१२५॥

(सतसई)

* * *

दृग दुस्सासन लालके ज्यौं ज्यौं खैंचत जात।
त्यों त्यों द्रोपदि चीरलौं मनपट बाढ़त जात ॥ २७१ ॥

(रतनहजारा)

* * *

निस्सन्देह विहारीकी कविताके अलङ्कारका अपहरण तो रसनिधिने करलिया, 'रूपक' और पूर्णोपमा दोनों उतर आये, पर खींचातानीके कारण इनके स्वरूपमें विरूपता आगयी है, "दृगदुस्सासन" का रूपक बहुत विरूप होगया

है, "रसाभास" के काले कीचड़में पड़कर बहुत भद्दा होगया है। जब "द्रौपदि चीरलौं" कह दिया तब 'मन'के साथ 'पट' जोड़नेकी क्या जरूरत थी ? द्रौपदीका चीर, यह उपमान ही 'मन' में पटत्वकी प्रतीति करा रहा है, अन्यथा यह "लौं" फिर किस मर्ज़की दवा है। विहारीके 'विरह' में देखिए, यही बात साफ झलक रही है। अब इसके 'रसाभास'पर दृष्टि दीजिए, रसनिधिके इस वर्णनसे प्रतीत होता है कि कोई 'महामनस्विनी' नायिका अपने मनकी अडिग बहादुरी-की डींग मार रही है कि "लाल"के (ऐसी दशामें नायकको "लाल" कहना काला अन्धेर है!) नेत्ररूपी दुश्शासन ज्यों ज्यों खींचते जाते हैं, त्यों त्यों द्रौपदीके चीरकी तरह मेरा मनरूप वस्त्र बराबर बढ़ता जाता है ! अभिप्राय यह कि लाल (अहेरी) रूपके दाने डालकर अपने नेत्रोंका जाल कितना ही फैलावे पर मेरे मन-पंछीको नहीं पकड़ सकता ! यदि यही बात है तो 'विशुद्ध' रसा-भास है। यदि इसके कहनेवाली दूती है, 'लाल' सुननेवाले हैं, जिसके विषयमें कहा जा रहा है वह कोई "पतिव्रता" है तब भी यही बात है। और कोई छिपा भेद हो तो रसनिधि जी जानते होंगे।

विहारीकी "पूर्णोपमा" बड़ी मनोहर है। विरहिणी विरहकी अनन्त दीर्घतासे घबराकर कहती है कि अवधि-रूप पराक्रमी दुश्शासन विरहको खूब खींच रहा है, पर विरहका अन्त नहीं हाथ आता, वह द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ता ही जाता है। मतलब यह कि अवधि भी विरहवेदनाको दूर करनेमें असमर्थ है, आनेकी अवधि आती है, परन्तु प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरहकी समाप्ति

नहीं होती, दुश्शासनके समान अवधि अपना पूरा जोर लगाकर थक जाती है पर पाञ्चालीके चीर की तरह विरहका अन्त नहीं मिलता, वह बढ़ता ही जाता है।

× × ×

पत्रा ही तिथि पाइयतु वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ई रहै आनन ओप उजास ॥ ४८९ ॥

(सतसई)

× × ×

कुहूनिसा तिथिपत्र में वाचन कौ रह जाइ।
तुव मुख ससिकी चांदनी उदै करत है आइ॥ १८७॥

(रतनहजारा)

* * *

विहारीके दोहेमें और रसनिधिके दोहेमें इतना ही भेद है, जितना "पून्यो" (पूर्णमासी) और "कुहूनिसा" (अमावस्या)में होना चाहिए! "कुहूनिसा" कहनेसे अन्य तिथियोंकी सत्ता समझी जासकती है, सिर्फ कुहूनिसा बाँचनेको रह जाती है और अन्य अष्टमी दशमी आदि निशाएँ देखनेको रह जाती हैं, ऐसा समझा जा सकता है। विहारीके यहां केवल 'कुहूनिशा'की ही नहीं सब तिथियोंकी यही दशा है। वहां पूर्णमासीका एकछत्र राज्य है, बाकी सब-की सब तिथियां तिथिपत्रके किलेमें एक साथ नज़र-बन्द हैं, बाहर नज़र नहीं आतीं।

× × ×

एक संस्कृत कवि ने भी इस मज़मूनपर तबीयत लड़ायी है, यह बहुत आगे बढ़ गये हैं, कहते हैं—

"तानि प्राञ्चि दिनानि यत्र रजनी सेहे तमिस्रापदं
सा सृष्टिर्विरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातपः।

अद्यान्यः समयस्तथाहि तिथयोऽप्यस्या मुखस्योदये
हस्ताहस्तिकया हरन्ति परितो राकावराकीयशः ॥"

* * *

अर्थात् वह पुराने दिन गये जब रात काली कहलाती थी, वह सृष्टि हो चुकी, जब धूपमें चांदनी नहीं खिलती थी आज कुछ और ही समय है, देखो न, इसके मुखके उदय होनेपर बदाबदीसे सब तिथियां, पूर्णमासी बेचारीके यशको चारों ओर-से लूट रही हैं ! प्रत्येक तिथि पूर्णमासी होनेका दम भरती है !

इसमें बात इतनी बढ़ा दी गयी है कि सुनते ही बनावटीपन-की बू आने लगती है। जब सारी दुनियामें ही यह हालत है तो फिर यह सुनाया किसे जा रहा है ! सुननेवाला भी तो इस दशाविपर्यासको स्वयं देख रहा है, हां, यदि वह बहुत दिनों बाद किसी दूसरी सृष्टिसे लौट कर पूछ रहा है। तो हो सकता है ! "सब तिथियाँ चारों ओरसे पूर्णिमाके यशको ,लूट रही हैं" इस कहनेसे यह भी पाया जाता है कि तिथियोंकी पृथक् सत्ता अभी बनी है पर वह पूर्णमासी सी होरही हैं। विहारीके "पत्रा ही तिथि पायतु"में इससे अधिक हृदयहारी चमत्कार है, विहारीके यहां सिर्फ " वा घरके चहुं पास"—की बात कही गयी है, जो बेतकल्लुफ़ कही और सुनी जा सकती है, इस उक्तिके चमत्कारमें कृत्रिमताकी प्रतीति नहीं होती, कहनेके ढंगमें इतनी सादगी और बेसाख्तगी है कि आश्चर्यजनक होनेपर भी बात सच्ची सी जान पड़ती है।

"उर्दूके किसी तुकबन्दने भी किसीको अटारीपर चढ़ाकर रातका खातमा कराया है ;और चांदको मैदान छोड़कर भगाया है-

" तमाम रात हुई कर गया किनारा चांद,
उतरो बाम से तुम जीते और हारा चांद।"

० ० ० ०

पर इनके बामसे–अटारी से–नीचे उतरते ही फिर रात हो जायगी और चांद जीत जायगा, वह फिर चमकने लगेगा !

यह अच्छा 'सूर्य' है जो अटारीसे नीचे उतरते ही बन्द मकानका—तहखानेका—चिराग़ बन जाता है !

× × ×

ऊपर जिन हिन्दी कवियोंकी कवितासे विहारीकी तुलना की गयी है, वे सब अपने अपने ढंगके बहुत अच्छे कवि थे, उनकी कवितामें भीं जहाँ तहाँ असाधारण चमत्कार पाया जाता है। पर जहाँ कहीं ये लोग विहारीकी चालपर चले हैं—विहारीने जिन मज़मूनोंपर क़लम तोड़ दिया है, उनपर अब इन्होंने क़लम उठाना चाहा है—वहाँ रह गये हैं। यही दिखाना इस तुलनाका अभिप्राय है।

कविवर भिखारीदासकी गणना हिन्दीके आचार्यों में की जाती है। इन्होंने प्रायः कविताके प्रत्येक अङ्गपर लिखा है। पर यह भी जहाँ विहारीका अनुकरण करने लगे हैं, वहाँ वैसा चमत्कार नहीं ला सके हैं, जैसा नीचेके उदाहरणसे सिद्ध है। पर इससे इनके श्रेष्ठ कवि होनेमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

चित-बित बचत न हरत हठि लालन दृग बरजोर ।
सावधान के बटपरा ये जागतके चोर ॥ (विहारी)

* * *

लाल तिहारे दृगनकी हाल कही नहिं जाय ।
सावधान रहिये तऊ चित-बित लेत चुराय ॥
(काव्यनिर्णय)

* * *

थोड़ा ध्यान देकर देखिए तो दोनोंके शब्दार्थमें बहुत अधिक भेद प्रतीत होगा।

विहारीका विरह-वर्णन

अन्य कवियोंकी अपेक्षा विहारीने विरहका वर्णन बड़ी विचित्रतासे किया है, इनके इस वर्णनमें एक निराला बांकपन है—कुछ विशेष 'वक्रता' है, व्यङ्ग्यका प्राबल्य है, अतिशयोक्ति और अत्युक्तिका (जो कविताकी जान और रसकी खान है) अत्युत्तम उदाहरण है। जिसपर रसिक सुजान सौजानसे फिदा हैं। इस मज़मूनपर और कवियोंने भी खूब ज़ोर मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफान बांधा है, 'क़यामत बरपा' करदी है, पर विहारीकी चाल-इनका मनोहारी पदविन्यास-सबसे अलग है। उसपर नीलकण्ठ दीक्षितकी यह उक्ति पूरे तौरपर घटती है—

"वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥"

× × ×

सीरे जतननि सिसिर रितु सहि बिरहिन-तन-ताप।
बसिवेको ग्रीषम दिननि पऱ्यौ परोसिनि पाप॥ १॥

* * *

सखी नायकसे (अथवा सखीसे) नायिकाका विरह निवेदन कर रही है कि शीतलोपचारसे—ठंडे उपायोंसे-शिशिर ऋतु (अगहन—पूस)में तो विरहिणीके तनकी ताप पड़ौसियोंने

किसी तरह सहन की। पर अब ग्रीष्म (ज्येष्ठ—आषाढ़)के दिनोंमें उन्हें उसके पासमें बसना पाप, (दुःखप्रद) हो गया !

× × ×

आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति ।

साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति ॥ २ ॥

* * •

भावार्थ—जाड़ेकी रातमें भी, पानीसे भीगे कपड़ेकी आड़ करके (ओढ़कर या ओट करके) सारी सखियाँ प्रीतिके कारण हिम्मत कर करके, उस (विरहिणी)के समीप जाती हैं।

जाड़ेकी रातमें, जब कि शीताधिक्यसे ठिठरे हुए अङ्गोंको आग तपाकर ठीक करनेकी आवश्यकता पड़ती है, जलती हुई भट्टी, सुलगती हुई अंगीठी और दहकते हुए अलावके सामने बैठना नितान्त सुखकर प्रतीत होता है। विरहिणीके पास उसकी सखियाँ, प्रीतिसे प्रेरित होकर, हिम्मत कर करके गीले कपड़ेकी आड़में जाती हैं।

विरहतापकी प्रबलताका कुछ ठिकाना है ! विरहिणीके पड़ोसियोंने ठंडे उपायोंसे—धारागृहोंमें बैठकर, तहखानों और खसखानोंमें लेटकर, कर्पूरमिश्रित चन्दनपङ्क शरीरसे लपेटकर, जाड़ोंके दिन तो किसी प्रकार काट दिये। पर गर्मियाँ कैसे काटी जायँ ! गाँव छोड़कर भागना ही पड़ेगा !

× × ×

औंधाई सीसी सुलखि विरह बरति बिललात ।

बीचहि सूख गुलाब गौ छींटौ छुई न गात ॥ ३ ॥

* • * *

भावार्थ—विरहसे बलती हुईको कराहते और रोते देख-कर सखीने गुलाबजलकी सीसी उसके ऊपर उलट दी। पर बीचमें ही गुलाब जल सूख गया, शरीरपर एक छींट भी न गिरी।

विरहाग्निकी लपटें कितनी प्रचण्ड होंगी, जिन्होंने निरञ्ज देशकी सन्तप्त भूमिकी प्रखर उष्माकी तरह ऊपर ही सारे जलको सोख लिया, नीचेतक एक बूँद भी न पहुँचने दी !

× × ×

जिहि निदाघ दुपहर रहै भई माहकी राति।

तिहि उसीरकी रावटी खरी आवटी जाति ॥ ४ ॥

० ० ०

भावार्थ—जिस (रावटी)में ग्रीष्मकालकी दुपहर (मध्याह्न) भी माघकी रात्रि हुई रहती है, उसी खसकी रावटी (टट्टी या बंगले)में वह विरहिणी अत्यन्त औटी (उबली) जाती है !

\+ + +

कविवर भिखारीदासने विहारीलालके उल्लिखित १, २, ३, ४ दोहोंसे कतरन लेकर इस कवित्तकी कन्था तयार की है—

"एरे निरदई दई दरस तो देरे वह
ऐसी भई तेरे या विरह ज्वाल जागि कै,
'दास' आसपास पुर नगरके बासी उत
माह हू को जानत निदाहै रह्यो लागि कै।
लै लै सीरे जतन भिगाए तन ईठ कोऊ,
नीठि ढिग जावै तऊ आवै फिर भागि कै
दीसी मैं गुलाब जल सीसीमें मगहि सूखै,
सीसी यों पघिलि परै अंचल सो दागि कै॥"

(दास—शृंगारनिर्णय)

× × ×

हौं ही बौरी विरहबस कै बौरो सब गाम ।
कहा जानि ये कहत हैं ससिहि सीतकर नाम ॥५ ॥

० ० ०

भावार्थ—विरहके कारण मैं ही बावली हूँ, या सारा गाँव ही बावला है । क्या समझकर ये लोग चन्द्रमाको "शीतकर" (ठंडी किरणोंवाला) कहते हैं ।

विहारीके इस अतिप्रसिद्ध दोहेको देखकर पण्डितराज जगन्नाथका इसके भावसे मिलता जुलता यह पद्य याद आ जाता है—

"संग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा ।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं
मार्तण्डोयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥"

(भामिनीविलास)

० ० ०

चन्द्रोदयको देखकर विरही कहता है कि अंगारोंकी तरह तीक्ष्ण किरणोंसे भूमण्डलको भस्म करता हुआ यह तो प्रचण्ड मार्तण्ड निकल रहा है । कौन पशु है जो इसे चन्द्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दीख पड़ती है, वह शशलाञ्छन नहीं है, किन्तु रणभूमिमें सम्मुख लड़कर मरे हुए वीर क्षत्रियोंके द्वारा फटे हुए मध्यभागसे आकाशकी नीलिमा चमक रही है।

सहृदय सज्जनगण ! दोनों कवियोंके यहां वर्णनीय विषय एक ही है, पर दोनोंको उक्तियोंमें वक्रभेद स्पष्ट झलक रहा है ।

"मैं ही बावली हूँ, या सारा गाँव पागल है" इत्यादि सन्देहयुक्त कथनसे कहनेवालीकी उद्वेगदशा, विरहव्याकुलता, दीनता, आत्मविस्मृति, इत्यादि दशाका बोध होता है ।

विपत्ति और व्याकुलताकी दशामें मनुष्य संज्ञाशून्य सा हो जाता है, उसे अपने अनुभव और ज्ञानपर पूरा भरोसा नहीं रहता, प्रत्यक्षसिद्ध विषयोंपर भी सन्देह होने लगता है, निश्चयात्मक ज्ञान जाता रहता है। विहारीने विरहिणीकी उद्वेगदशाका यह बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। इस बयानमें क्याही भोलापन है! "मालूम नहीं इस जलानेवाले चन्द्रमाका नाम 'शीतकर' क्यों रखा गया है!" इस विवक्षित अर्थमेंसे "विरहिजनोंको दुःखप्रद—जलानेवाला" यह भाव शब्दद्वारा प्रतीत नहीं कराया गया, किन्तु "विरहबस" पदसे ध्वनिद्वारा बतलाया गया है।" यह विरहिजनोंको जला रहा है। इससे इसे "शीतकर" न कहकर "चण्डांशु" कहना चाहिए, इस प्रकार हेतुपुरःसर खुले कथनमें यह "सहृदयहृदयैकसंवेद्य" आनन्द नहीं रहता! विरहव्याकुल जनको उस उद्वेग और दैन्यदशामें इस हेतुवाद, या "कौन पशु इसे चन्द्रमा कहता है यह तो सूर्य निकल रहा है" इस प्रकारके "प्रौढिवाद"का साहस कैसे हो सकता है! विरहजन्य पागलपनकी दशामें यह शास्त्रीय ज्ञानगुदड़ी—(रणमें सम्मुख लड़कर मरा हुआ वीर सूर्यमण्डलको भेदन करके दिव्यलोकको प्राप्त होता है+) और वीररसोचित मीलों लम्बे समास कुछ वैसे अच्छे नहीं लगते जैसा कि "विरहके कारण मैं ही बावली हो रही हूँ, या सब गाँव बावला है। क्या समझकर ये लोग इस चन्द्रमाको शीतकर कहते हैं," यह सीधा सादा, भोला भाला, दैन्यदशोचित सन्देहात्मक कथन।

× × ×

+ द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र! सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ (म० भा०)

ह्यां तें व्हां व्हां तें यहां नैको धराति न धीर ।
निशि दिन डाढी सी रहै बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥ ६ ॥

* * *

भावार्थ—यहाँ से वहाँ जाती है और वहाँसे यहाँ आती है, जरा भी धीरज नहीं धरती। रात दिन जली सी रहती है, विरहपीड़ा अत्यन्त बढ़ी हुई है।

पीड़ाके लिए आगकी जलन प्रसिद्ध है। जले हुए आदमी को किसी ढब कल नहीं पड़ती। वह व्याकुलताका मारा इधरसे उधर, उधरसे इधर बेचैनीसे तड़पता फिरता रहता है।

"कल नहीं पड़ती किसी करवट किसी पहलू उसे।"

× × ×

इत आवत चलि जाति उत चली छ सातिक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरे से रहै लगी उसासनि साथ ॥ ७ ॥

* * *

भावार्थ—श्वास छोड़नेके समय छ सात हाथ इधर—आगेकी ओर—चली आते है और श्वास लेनेके समय छ सात हाथ पीछे चली जाती है। उच्छ्वासोंके झोंकोंके साथ लगी हिंडोलेसे पर चढ़ी झूलती रहती है।

तन्वीकी विरहकृशता और वियोगमें दीर्घोच्छ्वासोंकी बहुलता और प्रबलता कैसे अच्छे ढंगसे वर्णन की है! नायिका विरहमें इतनी कृश हो गयी है कि श्वासोंके हिंडोले-पर चढ़ी हुई, इधर से उधर झूलती रहती है।

विरह-कृशताका वर्णन महाकवि बिल्हणने भी अनुपम काव्य "विक्रमाङ्कदेवचरित"के नवम सर्गमें अच्छा किया है। यथा—

प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टि-
स्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः।

धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन
कम्पं यथा श्वाससमीरणेन ॥

* * *

राजासे "चन्द्रलेखा"के पूर्वानुरागका वर्णन करता हुआ दूत कहता है कि तुम्हारे वियोगसे उसकी शरीरलता इतनी कृश हो गयी है कि मकानके खम्भेसे टकरा कर लौटे हुए अपने श्वास-समीरणसे भी वह हिलने लगती है !

विहारीका वर्णन बिल्हणसे बहुत बढ़िया है। इन्होंने गृह-स्तम्भसे टकरा कर लौटी हुई श्वासवायुसे शरीरको सिर्फ कँपाया ही है। विहारीने श्वासोंके हिंडोले पर बिठला कर छ छ सात सात हाथ लम्बे झोंटे दिला दिये हैं। दया की जो आह की आंधीमें जिस्मको पत्तेकी मानिन्द उड़ा न दिया !

"जुरअत" का यह शेर भी दोहेकी तुलनाको नहीं पहुँचता—

"नातवां हूँ बस्कि × फुरक़तसे तेरी चूं बर्गे * काह ।
अब † सबा फेरे है इस ‡ पहलूसे उस पहलू मुझे ॥"

× × ×

कर के मींड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिनिहूँ नीठि पिछानी जाय ॥ ८ ॥

* * *

भावार्थ—हाथसे मसले फूलकी तरह वह विरहसे ऐसी मुरझा गयी है कि सदा समीपमें रहनेवाली सखियाँ भी उसे मुश्किलसे पहचानती हैं।

कोमलाङ्गी नायिकाकी विरह-विवर्णताको मसले हुए फूलकी उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। मसले या मले

× फुरक़त—वियोग। * बर्गेकाह—घासका पत्ता।
† सबा—हवा। ‡ पहलू—करवट।

हुए पुष्पको चतुर माली भी कठिनतासे शनाख्त कर सकता है कि यह क्या फूल है! जिसे हमेशा पास रहनेवाली सखियां भी मुश्किलसे पहचान सकें, उसकी दशा उस मले दले फूलसे क्या किसी प्रकार कम हो सकती है!

× × ×

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़तु नीच।
दीने हू चसमा चखनि चाहै लखै न मीच॥ ९॥

* * *

भावार्थ—मौत आंखों पर चश्मा लगा कर भी ढूँढ़ना चाहे तो भी उसे नहीं देख सकती। निकृष्ट विरहने उसकी ऐसी दशा कर दी है। पर वह प्रेमपन्थको इतने पर भी नहीं छोड़ती!

विरहजन्य कृशताकी पराकाष्ठा है। आंखों पर चश्मा चढ़ाकर भी मौत नहीं देख सकती!

"ज़फ़र" भी एक बार हिज्र (वियोग) में नातवानी (दुर्बलता-कृशता)के कारण ही क़ज़ा (मौत) की निगाहसे बच गये थे। शायद उस वक्त ढूंढनेवाली मौतके पास चश्मा नहीं था। वरना वह ज़रूर ढूंढ पाती, क्योंकि "ज़फ़र"की नातवानी, विहारीकी विरहिणीकी तरह परमाणुताको नहीं पहुँचती थी! ज़फ़रका शेर सुनिए—

"नातवानीने बचाई जान मेरी हिज्रमें।
कोने कोने ढूंढती फिरती क़ज़ा थी मैं न था॥"

* * *

"मैं न था" पद यह भी प्रकट करता है कि हज़रते "ज़फ़र" मौतके डरसे मौक़ा वारदात छोड़ कर शायद कहीं जा छिपे थे! इसलिए भी क़ज़ा उन्हें न पा सकी! पर विहारीकी

विरहिणी घटनास्थलसे भागी नहीं, किन्तु वहीं डटी है! "तऊ गैल न छाड़त" शब्द इस बातकी गवाही दे रहे हैं।

× × ×

निति संसौ हंसौ बचतु मानौ इहि अनुमान ।
बिरह अगनि लपटनि सकै झपट न मींच सिचान ॥१०॥

※ ※ ※

भावार्थ–नित्य प्रति सन्देह रहता है कि इस (वियोगिनी) का हंस (जीव) किस प्रकार बचा हुआ है? सो यही अनुमान ठीक है कि मृत्युरूपी बाज़ (श्येनपत्ती) विरहाग्निकी लपटोंसे डर कर, हंसरूपी जीव पर झपट नहीं सकता।

विरहाग्निकी ज्वालाएँ इतनी प्रचण्ड हैं कि उनके पास फटकते हुए मौतके भी पर जलते हैं!

× × ×

पजर्‌यौ आग बियोग की बह्यौ बिलोचन नीर ।
आठौं जाम हियौ रहै उड्यौ उसास समीर ॥ ११ ॥

※ ※ ※

भावार्थ—आठों पहर वियोगकी आगमें हृदय पजरता—जलता—रहता है, नेत्रोंके जल (आंसुओं)में बहता रहता है और श्वास-वायुके झकोरोंमें उड़ता रहता है।

ज़रासा दिल और इतनी मुसीबतोंका सामना! आगकी भट्ठी, जलकी बाढ़ और आंधीका तूफ़ान, इन सबमेंसे बारी बारी गुज़रना। आगसे बचा तो जल बहा रहा है। वहांसे छूटा तो आंधी उड़ा रही है। ऐसे मुक़ाबलेसे घबरा कर ही शायद किसीने यह प्रार्थना की है—

"मेरी क़िस्मतमें ग़म गर इतना था ।
दिल भी या रब ! कई दिये होते ॥"

* * *

महाकविराय सुन्दरने भी 'काम लुहारके हाथका लोहा' बनाकर इस मज़मूनको अपनी कविताकी सानपर चढ़ाया है-

"कबहूँ विरहागिनमें तचवै कबहूँ दृगनीरमें बोरि दियो ।
पियके बिछुरें हियरा इहि काम लुहारके हाथको लोह कियो ॥"

× × ×

गनती गनवे तैं रहे छतहू अछत समान ।

अलि ! अब ये तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान ॥१२॥

भावार्थ--गिनतीमें तो आनेसे रहे, इन प्राणोंका होना न होनेके बराबर है। हे सखी! अब इस (विरह दशामें) 'अवम' तिथिकी तरह ये प्राण, शरीरमें पड़े रहें।

जो तिथि घट जाती है वह अवम अर्थात् लुप्त तिथि कहलाती है। उसे भी याददाश्तके तौरपर तिथिपत्रमें ज्योतिषी लिख छोड़ते हैं। जैसे यदि दशमी तिथि घटी हो तो उसे भी नवमी और एकादशीके बीचमें यथास्थान लिख देते हैं। पर वह गिनतीमें नहीं आती, किसी काम भी नहीं आती। विरहिणी कहती है कि मेरे ये प्राण भी शरीरमें खाली भले ही पड़े रहें, पर अवमतिथिकी तरह इनका रहना केवल व्यर्थ है।

प्राणपतिके विना प्राणोंकी नाममात्रकी विद्यमानता, परन्तु उनकी व्यर्थता और अनुपयोगिता प्रकट करनेके लिए अवमतिथिकी उपमा जितनी अनूठी, अछूती और निराली है, उतनी ही अनुरूप और हृदयहारिणी भी है। ऐसी ऐसी उपमा जिनकी सतसईमें कमी नहीं है, विहारीला-

लको व्रजभाषाका कालिदास सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं।

× × ×

बिरह बिपति दिन परत ही तजे सुखनि सब अंग।
रहि अब लौं व दुखौ भये चलाचली जिय संग ॥१३॥

* * *

भावार्थ—विरह-विपत्तिका दिन पड़ते ही सब सुख तो इस शरीरका साथ कभीके छोड़कर चल गये थे। अबतक रहकर, शरीरका साथ देकर—दुःख भी अब जीके साथ चलनेको चंचल हो रहे हैं, वे भी जानेको तैयार बैठे हैं।

प्रियवियुक्त जनको सारे सुख तो वियोगके आते ही छोड़कर भाग जाते हैं। उनकी जगह दुःख आ घेरते हैं और वे ऐसा धरना धरकर बैठते हैं कि बिना जीको लिये नहीं टलते। "यह दर्दे सर ऐसा है कि सर जाय तो जाये।"

× × ×

विरहदशामें प्राणोंका भारभूत और दुःखप्रद प्रतीत होना, किसी विरहिणीकी इन उक्तियोंमें भी जो उसने अपने दूर-देशस्थ प्रणापतिको उद्देश करके कही हैं, अच्छे और निराले ढंगसे वर्णित है—

"तुम बिन एती को करे कृपा हमारे नाथ !
मोहि अकेली जानिकै दुख राख्यौ मो साथ ॥ १ ॥

* * *

पिय तन तज मिलतो तुम्हैं प्रान-प्रियाको प्रान।
रहती जो न घरी घरी औधि परी दरम्यान ॥ २ ॥

* * *

भेजत हौं यह पत्र सँग दूत हाथ दुखरास।
नहिं आओ तो राखियो प्रान आपने पास ॥ ३ ॥

* * *

तुम पहँ धावन तें प्रथम चलन कहत रहे प्रान।
पत्रोत्तर लगि इम इन्हें राखे अति सनमान ॥ ४ ॥"

× × ×

मरन भलौ बरु बिरह तें यह विचार चित जोय।
मरन छुटै दुख एक कौ बिरह दुहूँ दुख होय ॥ १४ ॥

भावार्थ—विरहकी अपेक्षा मरना बहुत भला है। यह बात चित्तमें विचार देखो, क्योंकि मरनेसे एक (मरनेवाले) का तो दुःख छूट जाता है, पर विरहमें दोनोंको दुःख होता है।

मौत जो सारे दुःखोंकी सिरताज है, उसे ज़िन्दगीपर क्या अच्छी तरजीह दी है। यह लेशालङ्कारका उत्कृष्ट उदाहरण और प्रतिभाका खासा नमूना है।

"छूट जाऊँ ग़मके हाथोंसे जो निकले दम कहीं।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगी पर तुम कहीं और हम कहीं ॥"
(ज़ौक़)

× × ×

मरिबे को साहस कियौ बढ़ी बिरह की पीर।
दौराति है समुहै ससी सरसिज सुरभि समीर ॥ १५ ॥

* * *

भावार्थ—विरहकी पीड़ा जो बढ़ी तो (विरहिणी) मरनेका साहस करके चन्द्रमाके सामने जाती है और कमलसे सुगन्धित पवनकी ओर दौड़ती है।

उद्दीपन विभावका यह क्या ही उम्दा उल्लेख है। विचित्रालङ्कारका क्या ही ललित लक्ष्य है। जो चीज़ें सुखका हेतु हैं, वही दुःखद हो रही हैं, उनसे ही मृत्यु माँगी जा रही है।

× × ×

सुनत पथिक मुँह माहनिसि लुएँ चलति उहि गाम ।
बिन बूझे बिन ही सुने जियति बिचारी बाम ॥ १६ ॥

*   *   *

भावार्थ—पथिकके मुँहसे यह सुनकर कि उस गाँवमें माघ मासकी रातमें भी लुएँ चलती हैं, (वियुक्त पथिक) बिना बूझे और बिना सुने ही स्त्रीका जीवित होना जान गया।

कोई दूरदेशस्थ वियुक्त पथिक अपनी प्राणप्रियाका मंगल संवाद सुननेके लिए चिन्तित है। मुद्दतसे घरकी ख़बर नहीं मिली। यह भी मालूम नहीं कि घरवाली जीवित है या उसके प्राणपखेरू प्रियको ढूँढनेके लिये प्रयाण कर चुके हैं। इसी समय उसके गाँवकी ओरसे आनेवाले कुछ बटोही आपसमें बैठे बातें कर रहे हैं कि "अमुक गाँवमें माघ मासकी रातमें भी लुएँ चलती हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।" यह सुनकर उसने अनुमान कर लिया कि उसकी प्रिया अवश्य जीवित है, अन्यथा माघ मासकी रातमें वहाँ लुएँ क्यों चलतीं ? मेरी विरहिणीके तनताप और विरहसन्तप्त निःश्वासने ही वहाँकी माघरात्रिको ज्येष्ठ आषाढ़का मध्याह्न बना रखा है। बेमौसम माघकी रातमें लुएँ चलनेका और कोई कारण होही नहीं सकता। इसलिए उसने उनसे इस विषयमें कुछ और पूछना या सुनना निरर्थक समझा, प्रियाको जीवित समझ, घर चलनेकी ठान ली।

×   ×   ×

एक और कविने भी किसी प्रवासीको वर्षाऋतुकी मूसलाधार वृष्टिमें भी उसके घरसे धूलके बगूले उठते रहने का समाचार किसीके द्वारा पहुँचाकर विरहिणीकी जीवित दशाका बोध कराया है—

"बरखत मेह अछेह अति अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेहतें उठत भभूरन धूरि॥"

* * *

विहारीका दोहा इससे कहीं भावभरा और गम्भीर है। क्योंकि यहाँ तो स्पष्टतापूर्वक प्रत्यक्षरूपमें स्वयं पथिकसे ही कोई उसके घरका वर्णन कर रहा है कि निरन्तर मूसला-धार मेह बरस रहा है, जिससे जल जङ्गल एक हो गया है। सर्वत्र पानी ही पानी दीखता है। खुश्की या धूलका कहीं नामोनिशान भी नहीं। परन्तु तुम्हारे घरसे इतनेपर भी धूलके बगूले उठ रहे हैं!

सम्भव है यह वक्ता दूत बनकर आया हो और उसकी नायिकाके विरह-सन्तापका अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करके उसे घर ले जाया चाहता हो। यद्यपि धूल उड़नेके कारणका—विरह-सन्तापका—उल्लेख यहाँ भी साफ शब्दोंमें नहीं है, तथापि वक्ताका इस प्रकार पथिकको अभिमुख करके कथन, गाँवभरमें केवल उसीके घरसे धूलके भबूलेका उठना, विरहसन्तापका बोध स्पष्ट रीतिसे अनायास करा रहा है।

अब जरा विहारीके विरहीपर दृष्टि डालिये। उसकी दशा बिलकुल इससे भिन्न है। वे पथिक जो उस रास्तेके गाँवकी लुओंका वर्णन आपसमें बैठे योंही आश्चर्य घटना समझकर कर रहे हैं, उन्हें मालूम नहीं, कि हमारे इस कथनको लुओं-वाले उस गाँवका कोई आदमी भी सुन रहा है। लुएँ उस गाँवमें क्यों चलती हैं? किस घरसे चलती हैं? वहाँ कोई विरहज्वालासन्तप्ता प्रोषितपतिका रहती है या नहीं? इत्यादि बातोंका उन्हें कुछ पता ही नहीं, वे इस क़िस्मका कोई ज़िक्र नहीं कर रहे जिससे प्रतीत होता हो कि वे एक

अनुभूत और आश्चर्यकारक घटनाका किसीको सुनानेको वर्णन कर रहे हैं। उनके कथनमें किसी प्रकारकी अत्युक्ति, बनावट या अतिरञ्जनाका कोई कारण किसी प्रकार भी लक्षित नहीं होता, उनकी बेलाग बातोंसे मालूम होता है कि सचमुच ही उस गाँवमें माघकी रातमें लुएँ चल रही होंगी। लुएँ चलनेके परम्परासे कारणीभूत उस सुननेवालेने इतने हीसे अपनी विरहविधुरा प्रियाके जीवित होनेका पक्का अनुमान कर लिया। लुएँ चलनेके कारणको वह समझ गया, उसे उस सुनी हुई आश्चर्य घटनासे समुत्पन्न अपने अनुमान-की सत्यतापर इतनी आस्था थी कि उसने उन कहनेवालोंसे अधिक पूछना या जिरह करना तक फ़िज़ूल समझा। चुप-चाप अपने घरकी राह ली।

गाँवभरमें लुएँ चल रही हैं और सिर्फ़ एक घरसे धूल उड़ रही है, दोनोंमें—"अन्तरं महदन्तरम्"।

× × ×

किसी संस्कृतकवि ने भी कुछ ऐसी ही घटनाका वर्णन दूसरे ढंगपर किया है—

"भद्रात्र ग्रामके त्वं वससि परिचयस्तेऽस्ति जानासि वार्ता-
मस्मिन्नध्वन्यजाया जलधररसितोत्का न काचिद्विपन्ना ?।
इत्थं पान्थः प्रवासावधिदिनविगमापायशङ्की प्रियायाः
पृच्छन् वृत्तान्तमारात्स्थितनिजभवनोऽप्याकुलो न प्रयाति॥"

× × ×

कोई पथिक प्रवासकी अवधि बीतनेपर बहुत दिनों बाद घर लौट रहा है, गांवके समीप पहुँच गया है, घरके पास ही बैठा है, पर आगे बढ़नेकी हिम्मत नहीं पड़ती, उसे सन्देह है कि प्राणप्रिया इस बीचमें कहीं चल न बसी हो, मालूम करके

चलना चाहिए। सामने कोई आरहा है, उससे पूछता है कि भई ! तुम इसी गांवमें रहते हो ? यहाँके लोगोंसे तुम्हारा परिचय है? यहाँका हाल कुछ जानते हो ? तुम्हें मालूम है यहाँ कोई 'प्रोषितपतिका' बादलोंकी घोर गर्जनासे उत्कण्ठित हो कर मर तो नहीं गयी है ?

इन पथिक महाशयके इस पूछनेके ढंगसे प्रतीत होता है कि आप कहीं चौदह वर्षका बनवास काट कर महाप्राणताकी कृपासे सही सलामत अभी लौटे आरहे हैं, इस बीचमें गांवकी हालत ही बदल गयी है, उसमें कहीं बाहरके कुछ नये लोग भी आ बसे हैं, या जो इनके सामने छोटे बालक थे, वह अब बढ़कर इतने बड़े हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते। इसी दशामें इस प्रकार पूछना सम्भव है। या ऐसा हो कि अपने गांवसे कहीं दूर रास्तेके किसी दूसरे गांवमें ही किसीसे पूछ रहे हैं—शकुन ले रहे हैं या अनुमानके लिये अवलम्ब ढूंढ रहे हैं, यहां ऐसी घटना हुई होगी, कोई प्रोषितपतिका मेघशब्दको सुनकर मर गयी होगी, तो वहां भी ऐसा हुआ होगा, नहीं तो नहीं। शकुन बांह पकड़ेगा, सहारा देगा, अनुमान अनुकूल होगा, तो चलेंगे, नहीं लौट चलेंगे !

कुछ भी हो, विहारीका चटपटा बयान सुन कर यह अटपटा व्याकुल वर्णन किसी प्रकार भी—" संस्कृतवाचा बलात्प्रेर्यमाणमपि—सहृदय–हृदयमन्दिरं न प्रयाति ।"

× × ×

चलत चलत लौं लै चले सब सुख संग लगाय ।

ग्रीषम बासर सिसिर निसि पिय मो पास बसाय ॥ १७ ॥

प्रोषितपतिका विरहिणी सखीसे कह रही है कि मानों चलते चलते प्रिय मेरे सब सुखों को अपने साथ लगाकर

लेगये, और ग्रीष्मके दिन, तथा शिशिर की रात्रियां, मेरे पास छोड़ गये। (१) सारे सुख प्रियके साथ चले जाते हैं, सुख-हीन वियुक्तको दिन और रात बड़े बड़े दीखने लगते हैं काटे नहीं कटते। गर्मियोंके दिन और जाड़ोंकी रातें बड़ी होती हैं। (२) "शिशिर ऋतुकी रात्रिमें ग्रीष्मके दिन रख गये हैं" अर्थात् जाड़े की रातमें भी ग्रीष्मकी गर्मी प्रतीत होती है। (३) "ग्रीष्मके दिनमें शिशिरकी रात्रि छोड़ गये हैं"—शीतके समान कामजन्य कम्प होता है। (४) दिन में विरह-से तपती हूँ, और रातमें कामसे कांपती हूँ।

× × ×

विद्वच्चक्रचूडामणि; कवितार्किकशिरोमणि महाकवि श्री-हर्षने दमयन्तीकी विरहदशाका वर्णन करते हुए लिखा है—

"अहो अहोभिर्महिमा हिमागमे-
ऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसांभरा
विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥"

* * *

अर्थात् आश्चर्य है कि उस कामपीडिता दमयन्तीके प्रति जाड़ोंके जरासे दिनोंमें भी दिन बड़े होगये, और गर्मियोंकी छोटी रातें, बड़ी लम्बी होगयीं।

श्रीहर्षमहाराजके इस कथनमें कोई ऐसी विशेषता या चमत्कारिता नहीं है, जिसपर "अहो" कहकर आश्चर्य प्रकट किया जाय! यहां "अहो" से अनुप्रासमात्रका ही आशय लिया जाना चाहिए। क्योंकि "स्मरार्दिता" दमयन्तीके प्रति वियोगदशामें दिन और रातका बड़ा प्रतीत होना, जैसा कि प्रत्येक वियुक्तको प्रतीत हुआ करता है, एक अतिप्रसिद्ध

तथा अनुभवसिद्ध घटना है, इसमें कुछ नवीनता या निराला-पन नहीं है। परन्तु विहारीके उक्त वर्णनमें बह्वर्थता और गम्भीरताके अतिरिक्त एक बांकपन है जो साफ़ झलक रहा है।

"सुखों को संग लगाकर ले जाना" ले जाने वालेके लौटनेपर सुखोंके लौटनेकी आशा दिलाता है। "ग्रीष्मके दिन और जाड़ोंकी रातको एक साथ छोड़ जाना" दो परस्पर-विरुद्ध बातोंके एकत्र समावेशका, एक बिलकुल नयी और असम्भवनीय घटना होनेपर भी कहनेवालीकी उस स्थितिमें यथार्थ प्रतीत होना, और कविका उसे इस प्रकार चुपचाप "अहो" "अहा" की आश्चर्य और विचित्रताद्योतक घोषणाके बिना, सादगी और सरलतासे बयान कर जाना, वर्णनवैचित्रीकी निराली और अनोखी छटा दिखला रहा है।

× × ×

मैं लै दयौ लयौ सुकर छुवत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर॥ १८॥

* * *

पूर्वानुरागमें नायिकाके विरहकी दशा सखी नायकसे कहती है कि मैंने ले जा कर अरगजा दिया, उसने अपने सुन्दर हाथमें लिया। पर छूते ही पानी छुन्न होकर जल गया। सो, हे लाल! तुम्हारा वह अरगजा—(कई सुगन्धित पदार्थोंके योग-से बनाया हुआ एक प्रकारका उबटना) उसकी छातीमें 'अबीर' होकर लगा।

प्रियप्रेषित पङ्कमय अरगजेको हाथमें लेते ही तापसे उसका पानी इस प्रकार छुन्नहोकर उड़ गया जैसे तत्ते तवे-

पर डाली हुई पानीकी बूँदें। वह जलार्द्र अरगजा सूखकर 'अबीर' बन गया और दीर्घोच्छ्वासकी वायुसे उड़कर छाती-पर बिखर गया! चलो ख़ैर, किसी प्रकार काम तो आ गया। अरगजा न सही अबीर सही। वह प्रेमोपहार किसी रूपमें हृदयसे स्वीकार तो कर लिया गया। भेजनेवालेके लिये यह कम सन्तोषकी बात नहीं है!
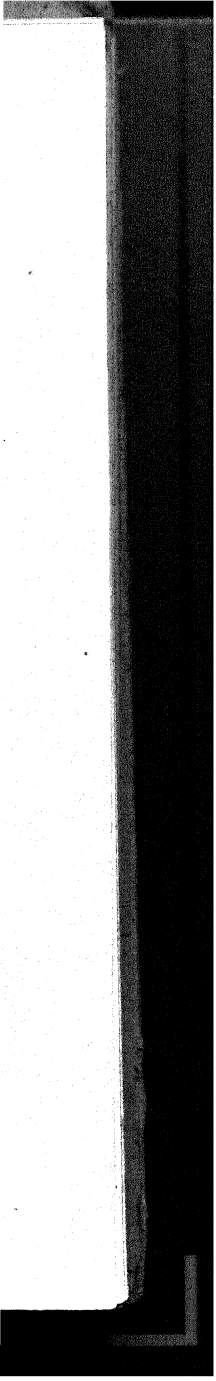
श्रीसातवाहनकी प्राकृत "गाथासप्तशती"में भी एक गाथा ऐसी ही है। भेद केवल इतना ही है कि इसमें विरहके ताप-का वर्णन है और उसमें संयोगके सात्त्विक भाव कम्प और प्रस्वेद का। यहाँ अरगजेका अबीर बन गया है, वहाँ अबीरका गन्धोदक-(सुगन्धित अर्क़ केवड़ा या गुलाबजल) हो गया है—

घेत्तूण चुएणमुट्ठिं हरिसूससिआएँ वेपमाणाए।
भिसणेमित्ति पिअअमँ हत्थे गन्धोदअं जाअम्॥४।१२॥
(गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानायाः।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम्॥)

* * *

हर्षोत्सुका और प्रेमावेशमें काँपती हुई कामिनीकी अबीरकी मूठ, जिसे वह प्रियतम पर चलाना चाहती थी, (सात्त्विक प्रस्वेदसे) हाथमें गन्धोदक हो गयी।

ख़ैर, कोई घबरानेकी बात नहीं। अबीरकी मूठ न मारी एक चुल्लू रंग डाल दिया। होली ही तो है!

दूसरे कवियोंका विरह-वर्णन

विहारीका विरहवर्णन कुछ नमूना सुन चुके, दूसरे कवियोंके विरह वर्णनकी विचित्र बानगी भी देखिए—

विरहताप

कवित्त—प्यारो परदेसको गनावे दिन जोतिषी सों
व्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खाँचतें,
सुनत सगुन तन तरुनीको मैन तयो
प्रान गयो पिघलि सरस काचे काँचतें।
सासु कह्यो इतै आउ रोचन रुचिर ल्याउ
अति हि दुखित कर गह्यो लाज पांचतें
थार गयो चटक पटक नारियर गयो
मुद्रा औंटि चाँदी भई विरहकी आंचतें॥

* * *

प्रिय परदेश जानेके लिये ज्योतिषीसे दिन पूछ रहा है, मुहूर्त ठीक करा रहा है, प्यारी, ज्योतिषीको लग्नकी रेखा खींचते व्याकुलतासे खड़ी देख रही है। शकुनका नाम सुनते ही उस गमिष्यत्पतिकाके शरीरमें कुछ ऐसी आग भड़की कि कच्चे कांचकी तरह प्राण पिघल गया। सासने बिदाईकी रस्मके लिए (उसी) बहूसे थालीमें रखकर नारियल आदि लानेको कहा, कहने सुननेसे किसी तरह वह यह चीजें ले तो आई, पर विरहाग्निकी आंचसे थाल चटक गया, नारियल पटक गया, और रुपया पिघलकर चांदी बन गया!

× × ×

ससिमुखी सूक गई तबतै व्याकुल भई
बालम बिदेसहु को चलिबो जबै कयो,

दूध दही श्रीफल रुपैया धरि थारि माहिं,
माता सुत-भाल जबै रोलि कै टीको दयो।
तांदुर बिसरि गयो बधुसे कह्यो ले आउ
तबतें पसीनो छुट्यो मन तनकों तयो,
तांदुर ले आई तिया आंगनमें ठाढ़ी रही
करके पसारवेमें भात हाथमें भयो।"

(ग्वाल कवि)

* * *

यही बात ग्वाल कविने भी कही है. यहां और चीज़ें तो पहले ही आगयी थीं, रोलीके साथ टीकेपर लगानेके लिये चावल रहगये थे. सासके हुक्मसे बहूजी वही लाई हैं। पर माताके हाथ तक वह नहीं पहुंचने पाये, लाने वालीके हाथमें पसीनेके गरम पानीमें उबलकर चावलोंका भात रँध गया है !

× × ×

कंचनमें आंच गई चूनि चिनगारी भई
भूषन भये हैं सब दूषन उतारिलै,
बालम बिदेस ऐसे बैसमें न लागि आगि
बरि बरि हियो उठै बिरह-बयारि लै।
परी परघर कित मांगन कों जै है आजु
आंगनमें चन्दा तें अँगार चार झारिलै,
सांझ भये भौन सँझवाती क्यों न देत आली
छाती तें छुवाय दियाबाती क्यों न बारिलै॥

* * *

"हिये विरहानलकी तपनि अपार उर,-
हार गजमोतिनको चटक चटक जात"

* * *

कोई प्रोषितपतिका विरहिणी, अपने तनतापकी दशा सखीसे कह रही है कि स्वर्णके आभूषण तनके तापसे इतने गरम होगये हैं कि उनमें जड़ी हुई चुन्नी चिनगारी बन गयी, इस लिये इन भूषणोंको जल्दी उतार। आज आग लानेके लिये दूसरे घर जानेकी क्या ज़रूरत है, आंगनमें खड़ी होकर चार अंगारी चन्द्रमासे क्यों न झाड़ ले? देखती नहीं कैसा दहक रहा है! सांझ हो गयी, दिया बालनेके लिये आग चाहिए? आग क्या करेगी? मेरी छातीसे छुवा कर दिया-बत्ती क्यों नहीं बाल लेती!

× × ×

कवित्त—सोरासों सँवारिकै गुलाब माहिं ओरा डारि
सीतल बयारि हूँ सों बार बार बरिये,
चैन न परत छिनु चम्पकतें चन्दनतें
चन्द्रमातें चांदनीतें चौगुनी कै जरिये।
'सुन्दर' उसीर चीर ऊजरेतें दूनी पीर
कमल कपूर कोरि एक ठौर करिये,
एते मानि बिरहागि उठी तनमांझ लागि,
सोई होति आगि जोई आगे लाइ धरिये॥

(सुन्दर)

* * *

विरहाग्नि इतनी प्रचण्ड हो उठी है कि जो चीज़ (ताप-शान्तिके लिये) आगे लाकर रक्खी जाती है, वही आग हो जाती है। शोरे और बरफसे ठंडा किए गुलाबजल और शीतलवायु-से और भड़कती है। चम्पकपुष्प, चन्दनलेप, चन्द्रमाकी चांदनी इनसे और चौगुनी जलती है, उसीर (खस) श्वेत वस्त्र, कमल, कपूर, ये सब व्यर्थ हैं और उलटा जलाते हैं।

+ + +

कवित्त—ऊधोजू सँदेसो नाहिं कह्यो जाइ कहा कहैं
जैसी करी कान्ह तैसी कोऊ न करतु है,
जीभ तो हमारे एक कहाँ लगि कही परै
जीमें जिती कहौं तिती क्योंहू ना सरतु है।
द्वारका बसतु हरि 'सुन्दर' समुद्र ही मैं
इहौ परवाह जाइ सिन्धुमें परतु है,
जानिहैं वे जमुना के जलही तें जाकी ज्वाल,
जलधिमें पर्‍यो बड़वानल जरतु है ॥
(सुन्दर)

* * *

गोपियां ऊधोजीसे कहती हैं कि कान्हकी करतूतोंको देखे संदेसा कहा नहीं जाता, कहें भी तो कैसे कहें, एक जीभसे, जीमें जितनी बातें भरी हैं वह कैसे कही जायँ! तुम जाओ, यह जमुनाका प्रवाह ही समुद्रमें * पहुंचकर द्वारकावासी कृष्णसे हमारी दशा कहेगा, जिसकी ज्वालासे समुद्रकी बड़वानल जल रही है। इससेही हमारे वियोगसन्तापका कुछ अनुमान कृष्ण कर सकेंगे। हमारी विरहसंतापज्वाला ही यमुनाके प्रवाहद्वारा समुद्रमें पहुंचकर बड़वानलके रूपमें जल रही है!

\+ \+ \+

कवित्त—बैठी है सखिन संग पियको गमन सुन्यो
सुखके समूहमें वियोग आग भरकी,

---

* आंसुओंका समुद्र

समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह कहकर।
हुए थे जमा कुछ आंसू मेरी आंखों से बह बह कर ॥ (मौदा)

"गंग" कहै त्रिविध सुगन्ध लै बह्यौ समीर
लागत हीं ताके तन भई व्यथा ज्वरकी।
प्यारीको परसि पौन गयौ मानसर पै सु
लागत हीं औरै गति भई मानसरकी,
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यौ भूमि दरकी ॥"

(महाकवि गंग)

* * *

गंग कवि कहते हैं कि प्रियके परदेश जानेकी बात सुन-कर 'प्रवत्स्यत्पतिका'के वियोगकी आग ऐसी भड़की कि उसे छूकर—गरम होकर—जो वायु मानसरोवरपर पहुंचा तो मानसरोवरके जलचर पक्षी और मछली आदि जलजन्तु, सब जल गये। सिवार जल कर राख हो गयी। पानी जलकर उड़ गया। कींच सूख गयी और भूमि दरार खाकर फट गयी!

× × ×

कवित्त—दूरही तें देखत बिथा मैं वा वियोगिनि की
आई भले भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवैंगी,
कहै "पदमाकर" सुनो हो घनस्याम जाहि
चेतत कहूं जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर सरितान को न सूखत लगैगी देर
एती कछु जुलुमिन ज्वाला बढ़ि आवैगी,
ताके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
गात ही छुवेतें तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ॥"

(पद्माकर)

* * *

घनश्यामसे कोई किसी वियोगिनीकी दशा सुना रही है कि मैं दूरहीसे उसकी व्यथा देखकर भाग आयी हूँ, उसके पास पहुँचकर देखती तो जल ही जाती। उसके तनतापकी बात क्या कहूँ, तुम मेरा शरीर ही छू देखो, फिर तुम्हें ताप न चढ़ आवे तो बात है। वह मूर्छामें बेसुध पड़ी है, इतनी ख़ैर है, होशमें आकर उसके मुँहसे कहीं कोई आह निकल गयी तो, तालाब और नदियोंको सूखते कुछभी तो देर न लगेगी !

× × ×

प्रलयकारी आह

कवित्त—"शंकर" नदी नद नदीसनके नीरनकी
भाप बन अम्बर तें ऊंची चढ़ जायगी,
दोनों ध्रुव छोरन लौं पलमें पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधिकी बनावट बचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी।

(पं० नाथूरामशंकरशर्मा "शंकर")

* * *

अत्युक्तिकी पराकाष्ठा है—मुबालग़ा हद्से परे पहुँच गया है। "शंकरजी"ने इस 'आह'के असरको "शंकर"के उस प्रलयकारी नेत्रकी अग्निके प्रभावसे भी ऊपर पहुँचा दिया।

वह इच्छापूर्वक प्रयत्नसे तीसरी आंख खोलकर संसारको भस्म करते हैं, यहाँ अचानक, अनायास ही ऐसा हुआ चाहता है!

"जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी"—
तो क्याहोगा? होगा क्या, महाप्रलय होजायगी—
"काहू विधि विधिकी बनावट बचैगी नाहिं"—

ब्रह्माकी सृष्टि किसी तरह नहीं बचेगी, आहकी आंचसे नदी, नद और समुद्रोंके पानीकी भाप बनकर आसमानसे ऊपर चढ़ जायगी। पृथ्वी पलभरमें दोनों ध्रुवोंके किनारों तक पिघल कर और घूम घूमकर धुरीकी तरह बढ़ जायगी! सूर्यसे, तारोंसे और चन्द्रमासे, अंगारे झड़ने लगेंगे, तमाम आकाशमण्डलमें आगही आग छा जायगी!

× × +

आहका भाड़

शेर—जो दाने-हाय अन्जुमे-गर्दूंको डाले भून।
उस आह शोलाख़ेज़को "इन्शा" तू भाड़ बाँध॥

(इन्शा)

* * *

'इन्शा' कहते हैं कि जो आह, आसमानके तारोंको अनाजके दानोंकी तरह भून डाले, उसे तू भाड़ बाँध—भाड़से उपमा दे।

× × ×

आहसे आसमानमें सूराख़

शेर—तारे तो ये नहीं मेरी आहोंसे रातकी,
सूराख़ पड़ गये हैं तमाम आसमानमें।

(मीर तक़ी)

* * *

मीर साहब फ़र्माते हैं, कि जिन्हें तुम तारे समझते हो, ये तारे नहीं हैं, मेरी रातकी आहोंसे आसमानमें सूराख़ (छिद्र) पड़ गये हैं, वही पड़े चमक रहे हैं !

× × ×

शेर—करूँ जो आह ज़मीं वो ज़माँ जल जाय।
सपहरे-नीलीका यह सायबाँ जलजाय॥ (मीर तक़ी)

* * *

मैं आह करूँ तो ज़मीन और उसपरके जीव जन्तु सब जल जायँ, यही नहीं, नीले आकाशका जो ऊपर यह 'सायबान' तना है, यह भी जल कर ख़ाक हो जाय।

× × ×

"फूँक दे सबको ज़मीं हो आसमाँ हो कोई हो,
हम नहीं ऐ आह ! तो सारा ज़माना हेच है।"

* * *

माफ़ कीजिए, ख़ुदारा इस आहको रोकिए। बेगुनाह ख़ल्के-ख़ुदाको तबाह न कीजिये। आप भी रहिये और ज़मानेको भी रहने दीजिये।

× × ×

"बिरहकी ज्वालन सौं बीजुरी जराइ डारौं,
स्वासनि उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरनि"

* * *

विरहिणीके इस विचार पर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। जरूर, विरहकी ज्वालासे, जलावा बिजलीको जला देना चाहिए और दीर्घोच्छ्वासकी आँधीसे, बेदरद बैरी बादलोंको उड़ा देना चाहिए।

× × ×

शेर—"उड़ाके आहका शोला कभी बनायँगे हम,
शबे-फ़िराक़में ख़ुरशीद आसमाँके लिये।" (ज़ौक़)

* * *

कहते हैं कि हम आहका शोला उड़ाकर कभी वियोगकी रात्रिमें आसमानके लिये सूर्य बनायँगे!

× × ×

शेर—न करता ज़ब्त मैं नाला तो फिर ऐसा धुआँ होता,
कि नीचे आसमाँके एक नया और आसमाँ होता।"
(ज़ौक़)

* * *

मैं अपने नालेको (दुःख-चीत्कारको) न रोक लेता तो फिर उससे ऐसा धुआँ होता कि इस आसमानके नीचे एक और नया आसमान बन जाता।

आपने बड़ी कृपा की, जो नाला ज़ब्त कर लिया, यह एक ही आसमान चैन नहीं लेने देता। दो हो जाते तो न जाने क्या होता।

× × ×

"नाला एक दममें उड़ा देवे धुएँ,
चर्ख़ क्या और चर्ख़की बुनयाद क्या? (मोमिन)

* * *

बेशक, आपका नाला ऐसा ही बाअसर है।

× × ×

तनतापसे पानीमें भाप

दोहा—सीतकाल जल माँझतें निकसत भाप सुभाय।
मानो कोऊ बिरहिनी अब ही गई अन्हाय॥

* * *

जाड़ोंके दिनोंमें जो नदी या तालाबके पानीसे भाप उठती है, इसपर क्या अच्छी "उत्प्रेक्षा" है। मानों कोई विरहिणी अभी इसमें न्हाकर गयी है, उसके तनतापसे जल इतना गरम हो गया है कि उससे भाप निकल रही है !

× × ×

दरयामें आबले

शेर—आबले पड़ गये दरयामें नहीं हैं ये हुबाब,
आशना जलके मगर आपका डूबा कोई ।

* * *

यह नदीमें बुलबुले नहीं हैं, किन्तु आबले पड़ गये हैं, कोई वियोगाग्निमें जला प्रेमी इसमें डूब मरा है, उसीकी आँचसे यह पानीके जिस्मपर आबले (छाले) पड़ गये हैं !

× × ×

शेर—अपने सोज़े-दिलसे ऐसा तावए-गर्दूं है गर्म,
सुबहके होते ही हर अख़्तर तवेकी बूँद है। (निकहत)

* * *

कहते हैं कि हमारे दिलकी आँचसे आसमानका तवा ऐसा गरम है कि सुबह होते ही (उसपर पड़े) सब तारे 'तवेकी बूँद' (दृष्टनष्ट) हो जाते हैं, (छन छनाकर छिप जाते हैं)

× × ×

जिगरका धुआँ

शेर—'नीला नहीं सपहर तुझे इश्तबाह है,
दूदे-जिगरसे मेरे यह छत सब सियाह है।''

(मीर तक़ी)

* * *

यह तुम्हें भ्रान्ति है कि आसमानका रंग नीला है, फिर यह काला क्यों दीखता है, इसलिये कि मेरे जिगरके धुँएँसे यह आसमानकी छत काली पड़ गयी है।

\+ + +

शेर—मेरे दूदे-आहसे यांतक ज़माना है स्याह।
आफ़ताबे-आसमां ज़ंगीके मुंहका ख़ाल है॥
(ज़ौक़)

मेरी आहके धुँएसे ज़माना यहाँ तक स्याह है कि सूर्य हबशीके मुंहका तिल मालूम देता है।

× × ×

दिलकी जलन

शेर—"यही सोज़े-दिल है तो महशरमें जलकर,
जहन्नुम उगल देगा मुझको निगल कर"
(अमीर मीनाई)

* * *

यही दिलकी जलन है तो क़यामतमें जहन्नुम (नरक) भी मुझे अपने अन्दर रख न सकेगा, वह भी निगल कर, गरमीके मारे बाहर उगल देगा!

× × ×

शेर—वाइज़ा! सोज़े-जहन्नुमसे डराता है किसे?
दाबे फिरते हैं बग़लमें दिल सा आतिशख़ाना हम।
(सौदा)

* * *

अजी वाइज़ साहब (उपदेशकजी) यह आप दोज़ख़की आगसे डराते किसे हैं? हमतो बग़लमें दिलसा आतिश-

ख़ाना—(हृदय जैसी दहकती भट्टी)—दाबे फिरते हैं। फिर तुम्हारे जहन्नुमकी आंच इसके सामने क्या चीज़ है। उसमें तो इससे हज़ारवां हिस्सा भी कहीं गरमी नहीं !

× × ×

हालीने भी "मुनाजाते-बेवा" में वैधव्यविरहयन्त्रणाके सामने नरकके दुःखको कैसा तुच्छ ठहराया है—

"जिसने रंडापा झेल लिया है,
डर उसे दोज़ख़का फिर क्या है !

* * *

विरहाग्निकी असह्यता

श्रीहर्षने विरहाग्निकी असह्यता, कितने अच्छे ढंगसे प्रमाणित की है—

"दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥"

(नैषध)

* * *

साधारण आगमें जलनेकी व्यथा, कुछ बड़ी संताप-व्यथा नहीं है, विरहाग्निकी व्यथा ही असह्य व्यथा है, अन्यथा विरहिणी स्त्रियाँ परलोकप्रवासी पतिसे मिलनेको दहकती हुई चितामें झटपट बेधड़क क्यों कूद पड़ती हैं।

× × ×

चन्द्रोपालम्भ

रात्रिराज ! सुकुमारशरीरः
कः सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं
चन्द्रकान्तदृषदोपि गलन्ति ॥
(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित)

* * *

हे रात्रिराज चन्द्र ! तुम्हारी इन किरणोंको भला कौन सुकुमारशरीर—(नाज़ुक बदन) सह सकता है। इन्हें—जिनका स्पर्श पाते ही—ज़रा छूते ही, चन्द्रकान्त पत्थर भी पिघल पड़ते हैं !

जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे सूर्यकान्तमणिसे आग निकलने लगती है, इसी प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर चन्द्रमणिसे पानी टपकने लगता है। बड़ी सुन्दर सूक्ति है।

× × ×

येन स्वेन करेण शोकदहने संदीप्य काष्ठावलीं
निःक्षितौ द्विजदम्पती प्रतिदिनं यो वारुणीं सेवते ।
पद्मिन्याश्च सुवर्णहारमकरोद्दारा गुरोराहृताः
संसर्गश्च कपालिना सखि न किं दोषाकरे दूषणम् ॥

* * *

बड़ा बढ़िया 'श्लेष' है। पाँचों महापातक ऐसी खूबीसे चन्द्रमाके सिर थोपे गये हैं कि जिनका जवाब नहीं हो सकता।

कोई सखी विरहिणीसे कहती है कि इस 'दोषाकरमें' (चन्द्रमामें) वह कौनसा दोष (ऐब) है जो नहीं है ? सुन,

इसने अपने हाथसे काठकी ढेरीमें शोकाग्निसे आग लगाकर उसमें द्विजदम्पतीको झोंक दिया है। प्रतिदिन वारुणी (मद्य) का सेवन करता है। पद्मिनीके सुवर्णको इसने चुराया है, गुरुकी स्त्री (बृहस्पतिकी पत्नी तारा)का अपहरण किया है और कपालीके साथ रहता है। इस तरह पाँचों 'ऐबशरयी' इसमें हैं।

धर्मशास्त्रमें पाँच महापातक गिनाये गये हैं—

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।"

* * *

अर्थात् १ ब्रह्महत्या, २ सुरापान, ३ चोरी, ४ गुरुपत्नी-समागम और ५ महापातकियोंका संसर्ग।

श्लोकमें, कर, काष्ठावली, द्विजदम्पती, वारुणी, पद्मिनी, सुवर्ण, कपाली और दोषाकर, ये सब शब्द श्लिष्ट हैं।

'कर'—हाथ और किरण। 'काष्ठावली'—काष्ठका समूह और दिशाओंका समूह। 'द्विजदम्पती'—ब्राह्मण ब्राह्मणी और चकवा चकवी। 'पद्मिनी'—स्त्री और कमलिनी। 'सुवर्ण' स्वर्ण और सुन्दरवर्ण। 'कपाली'—वाममार्गी और शिव। 'दोषाकर'—चन्द्रमा और दोषोंकी खान।

× × ×

कवित्त—एरे मतिमन्द चन्द धिग है अनन्द तेरो
जो पै बिरहिन जरि जात तेरे तापतें,
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर
तीसरे कपालि संग देखौ सिर छापतें,
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहान तेरो
वारुणीके बासी भासी रविके प्रतापतें,

बाँध्यो गयौ मथ्यो गयौ पियो गयौ खारो भयौ
बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पापतें ॥
(मतिराम)

* * *

मतिरामका यह चन्द्रोपालम्भ भी बहुत अच्छा है, खासकर इसका चौथा चरण बहुत उत्तम है। कुपुत्र (चन्द्रमा) के पापसे ही बेचारे बाप (समुद्र) की यह सारी दुर्दशा हुई कि कभी वह मथा गया (देवताओं द्वारा) कभी बांधा गया (रामचन्द्र द्वारा) और कभी पीकर खारी बनाया गया (अगस्त्य द्वारा)।

× × ×

सायं नायमुदेति वासरमणिश्चन्द्रो न चण्डद्युति-
र्दावाग्निः कथमम्बरे किमशनिः स्वच्छान्तरिक्षे कथम्।
हन्तेदं निरणायि पान्थरमणीप्राणानिलस्याशया
धावद्घोरविभावरी-विषधरीभोगस्थ-भीमो मणिः ॥

* * *

इस समय सायंकाल है, इसलिये यह सूर्य तो निकल नहीं रहा, और चन्द्रमा 'शीतरश्मि' है, उसमें यह उष्णता—दाहक ताप—कैसा? अतः यह सूर्य भी नहीं, चांद भी नहीं। तब क्या यह दावानल (दौं) है? पर उसका आश्रय तो बन है, वह ऊपर आकाश में कहां? फिर क्या यह 'अशनि'—बिजलीकी आग—है? नहीं, वह तो मेघमें होती है, इस समय तो आकाश स्वच्छ—मेघरहित—है, इस कारण यह अशनि भी नहीं।

ओः! मालूम हो गया, प्रोषितपतिका विरहिणीके प्राणवायुके पान करनेकी इच्छासे दौड़ी आती हुई घोर रात्रिरूप साँपनके फनकी यह भयानक मणि है, और कुछ नहीं।

यह एक लौकिक प्रवाद है कि रातमें एक ख़ास किस्मका सांप, अपने फनकी मनके चाँदनेमें ओस चाटने और हवा खाने निकला करता है। इस श्लोकके चौथे चरणमें ऐसी ही सांपनसे मतलब है। सांपका आहार वायु है—सांप हवा खाकर रहता है—यह भी एक मानी हुई बात है।

रात—साँपन है, चांद, उसके फनकी मन है, वियोगिनीका प्राणवायु उसका आहार है। यही इसका सार है।

इसी श्लोकसे मिलते जुलते भाववाला एक फ़ारसी शेर मिर्ज़ा ग़ालिबने भी कहा है—

"दर हिज्र तरब् बेश कुनद् ताबो तबम्रा,
महताब कफ़े मारे स्याहस्त शबम्रा ॥

* * *

अर्थात् वियोगमें सुखकी सामग्री उद्दीपक होकर व्याकुलता और सन्तापको और बढ़ाती है। वियोमरात्रिकी चांदनी मेरे लिये काले सांपका फन है। वियोगमें चांदनी रात—काले सांपके फनकी तरह काली और डरावनी मालूम होती है।

× × ×

ज़ौक़ने भी खूब कहा है, चांदनीका क्या अच्छा कफ़न बनाकर "अफ़सुर्दादिल"—दुःखितचित्त वियुक्तको उसमें लपेट कर लिटाया है—

अफ़सुर्दा-दिलके वास्ते क्या चांदनीका लुत्फ़
लिपटा पड़ा है मुर्दा सा गोया कफ़नके साथ।"

* * *

सवैया

सेत सरीर हिये बिष स्याम कला फनरी मन जान जुन्हाई
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटत जाहि वियोगिनि ताई।

सीसतें पूँछलौं गात गर्यौ पै डसे बिन ताहि परै न रहाई
सेसके गोतके ऐसे हि होत हैं चन्द नहीं या फनिन्द है माई ॥
(गंग)

* * *

गंगने चन्द्रमाको शेषनागके गोत्रका श्वेतसर्प बनाकर उससे वियोगिनियोंको डसवाया है। कोई वियोगिनी कहती है कि यह चन्द्र नहीं, जिसका शरीर श्वेत है ऐसा फणीन्द्र—नागराज—है, कालिमा, विष है। कला, फन है। ज्योत्स्ना, मणि है। (दसो दिशाओंमें फैली हुई) किरणें - लपलपाती जीभें हैं, जिसे वियोगिनी देखती है, उसेही काटता है, विषकी तीव्रतासे सिरसे पांवतक इसका शरीर गल गया है, पर तौ भी काटे बिना इससे नहीं रहा जाता।

× × ×

सवैया

प्रीतम गौनु किधौं जियगौनु कि भौनु कि भारु [ड़] भयानक भारो
पावस पावक फूल कि सूल पुरन्दरचाप कि 'सुन्दर' आरो।
सीरी बयारि किधौं तरवारि है वारिदवारि कि बान विषारो,
चातक बोल कि चोट चुभै चित, इन्द्रबधू कि चकोरको चारो ॥
(सुन्दर)

× × ×

प्रियतमके गमनपर प्रोषितपतिका कहती है कि यह प्रीतमका गमन है कि जीका जाना है। यह भवन (मकान) है कि भयानक भाड़ है। यह पावस (वर्षा) है कि पावक (अग्नि) है। ये फूल हैं कि सूल। यह पुरन्दरचाप (इन्द्रधनुष) है कि बढ़ईका आरा। यह शीतल वायु है कि तलवार। यह

मेंहकी बून्दें हैं कि विषमें बुझे बाण। यह चातकका बोल है कि चितमें चुभनेवाली चोट। इन्द्रबधू (बीरबहूटी) है कि चकोरका चारा (आग) है।

× × +

सवैया

भोर भये मथुराको चलेंगे यों बात चली हरिनन्दललाकी
बोलि सकी न सकोचनितें सुनि पीरी भई मुखजोति तियाकी।
हाथ टिकाइ ललाटसों बैठी इहै उपमा कवि 'सुन्दर' ताकी,
देखै मनो तिय आयुके आखर और कछू हैं रहे बच बाकी॥
(सुन्दर)

* * *

प्रातःकाल 'नन्दलला' मथुरा जायँगे, यह सुनकर संकोचके मारे कुछ कह न सकी, मुंह पीला पड़गया, हाथसे माथा पकड़े सोचमें बैठी है, मानो हाथमें आयुकी रेखा देख रही है कि आयुकी रेखा समाप्त होगयी कि अभी कुछ बाकी है।

× × ×

प्राणदान

जिहि ब्राह्मन पिय गमनकौ सगुन दियौ ठहराइ।
सजनी ताहि बुलाइ दै प्रानदान लैजाइ॥८२५॥
(रसनिधि)

* * *

प्रियके गमनका मुहूर्त्त बतलानेवाले ब्राह्मणको क्या अच्छा दान देनेका संकल्प किया है, "सजनी ताहि बुलाइ दै प्रानदान लै जाइ"। "तुरत दान महाकल्यान" !

× × ×

पौमें हियमें होड़

आजु सखी हौं सुनति हौं पौ फाटत पिय गौन।
पौ में हियमें होड़ है पहिलै फाटत कौन॥

* * *

क्या अच्छी होड़ लगी है। देखें पहले कौन फटता है। पौ फटती है कि हृदय! पौ फटना—सूर्योदयसे पूर्व, पूर्वदिशाकी "नभलाली"को कहते हैं।

× × ×

कृशताका कारण

"यावद् यावद्भवति कलया पूर्णकायः शशाङ्क-
स्तावत्तावद्द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद्यावन्न भवति सखे! पूर्णिमा तावदेहि॥"

* * *

ज्यों ज्यों चन्द्रमा कलासे पूर्णमण्डल होता जाता है, वह कान्तिमय अङ्गोंवाली मृगाक्षी क्षीण होती जाती है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मा उसके शरीरका सार लेकर चन्द्रमाको बनाता है। इसलिये जबतक पूर्णिमा नहीं आती तबतक पहुँचो, जल्दी करो। पूर्णिमातक उसकी समाप्ति हो जायगी।

× × ×

प्राण क्यों नहीं निकलते!

तव विरहमसहमाना सा तु प्राणान् विमुक्तवती।
किन्तु तथाविधमङ्गं न सुलभमिति ते न मुञ्चन्ति॥

* * *

तुम्हारे विरहको न सहकर उसने (वियोगिनीने) तो

कभीके प्राण छोड़ दिये हैं, उन्हें विदा कर दिया है, पर प्राण उसका पिण्ड नहीं छोड़ते, इस लालचमें अटके पड़े हैं कि ऐसा सुन्दर शरीर हमें और कहाँ मिलेगा ?

× × ×

कृशताकी पराकाष्ठा !

उद्धूयेत नतभ्रूः पक्ष्मनिपातोद्भवैः पवनैः ।
इति निर्निमेषमस्या विरहवयस्या विलोकते वदनम् ॥

* * *

कृशांगी विरहिणीको उसकी सखी, टकटकी बांधे देख रही है, पलक नहीं झपकाती, इस डरसे कि पलक मारनेसे पैदा हुई हवासे कहीं वह कृशांगी उड़ न जाय !

× × ×

"बरुनी बयार लागै जनि उड़ि जाय शेष,
सखीको समाज अनिमेष रहियतु है"
(कृष्णकवि)

विहारीका कवित्व और व्यापक पाण्डित्य

कविके विषयमें किसी विद्वान्‌का कथन है कि "कवि प्रकृतिका पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहितके लिए यजमानके समस्त कुलाचारों और रीति रिवाजोंका अन्तरङ्ग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कविको भी प्रकृतिके रहस्यों-का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणद्वारा ऐसी बातें चुन सकते हैं जिनपर दूसरे मनुष्योंकी दृष्टि नहीं जाती,

जाती भी है तो तत्त्वतक नहीं पहुँचती, उनसे कोई ऐसी बात नहीं निकाल सकती, जो साधारण प्रतीत होनेपर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होनेपर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बारकी देखी भाली होनेपर भी नवीन चमत्कार दिखानेवाली हो। प्रकृतिके छिपे और खुले भेदोंको सर्वसाधारणके सामने मनोहर रूपमें प्रकट करना ही कविका काम है। "अज्ञेयमीमांसा" करने बैठना, या आकाशके तारे तोड़ने दौड़ना, कविका काम नहीं है। कभी कभी कविको ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकोंका काम है। कविका काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्दःशास्त्रके नियमोंसे अभिज्ञ होकर वर्ण, मात्राके कांटेमें मपी तुली पद्यरचनाका नाम कवित्व नहीं है (जैसा कि आजकल प्रायः समझा जाने लगा है *)

---

* इसपर नीलकण्ठ दीक्षित क्या अच्छा कह गये हैं—

"मत्वा पदग्रन्थनमेव काव्यं
मन्दाः स्वयं तावति चेष्टमानाः।
मज्जन्ति बाला इव पाणिपाद-
प्रस्पन्दमात्रं प्लवनं विदन्तः॥"

* * *

अर्थात् कविताके तत्त्वसे अनभिज्ञ (कोरे तुकबन्द लोग) केवल पदयोजना (तुकबन्दी) को ही काव्य मानकर काव्यनिर्माणकी चेष्टा करते हुए उन बालकोंकी तरह डूबते हैं, जो हाथ पैर पटकनेको ही तैरना समझकर अथाह पानीमें कूद पड़ते हैं!

× × ×

सूक्ष्म दृष्टिसे प्रकृतिके पर्यवेक्षण करनेकी असाधारण शक्ति रखनेके अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रोंका ज्ञान भी कविके लिये आवश्यक है। जैसा कि कवितामर्मज्ञोंने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥"

* * *

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम् ॥"

* * *

अर्थात् न ऐसा कोई शब्द है न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न कोई ऐसी कला है, जो काव्यका अङ्ग न हो, इसलिये कविपर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है! इस सब भारको अपनी लेखनीकी नोकपर उठानेकी जो शक्ति रखता है, वही महाकवि है।

यह सब बातें (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) विहारीकी कवितामें प्रचुर परिमाणमें पायी जाती हैं, सतसई पढ़नेसे प्रतीत होता है कि विहारीका प्रकृतिपर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। मानवप्रकृतिका उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत-साहित्यका पाण्डित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृतके महारथि कवियोंके मुकाबलेमें उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्योंकी छायापर रचना करके, नवीन चमत्कार लाकर उन आदर्श पद्योंको विच्छाय बना दिया है—जैसा कि छायापद्योंके उदाहरणोंसे विदित हो चुका है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनोंमें भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था, जैसा कि आगेके अवतरणोंसे सिद्ध है।

विहारीकी प्रतिभाका विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समानरूपसे उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्करकी प्रभाकी तरह वह प्रत्येक पदार्थपर पड़ती थी। यही नहीं, जहां सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँचतीं, वहां भी वह पहुँचती थी। "जहां न जाय रवि वहां जाय कवि' इस कथनकी पुष्टि विहारीकी कवितासे अच्छी तरह होती है। सूर्यकी किरणें आलोकग्राही पदार्थपर पड़कर ही अपने असली रूपमें प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं। परन्तु विहारीकी अद्भुत प्रतिभाका प्रकाश जिस पदार्थपर भी पड़ा, उसेही अपने रूपमें चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास नीति, और दार्शनिक तत्त्वोंसे लेकर बच्चोंके खिलौने, नटोंके खेल, ठगोंके हथकण्डे, अहेरीका शिकार, पौराणिककी 'धार्मिकता,' पूजारीका 'प्रसाद' वैद्यकी परप्रतारणा, ज्योतिषीका 'ग्रहयोग' सूमकी कंजूसी, जिसे देखिए वही कविताके रंगमें रँगा चमक रहा है।

इस जगह सबके उदाहरण देना कठिन है, बात बहुत बढ़ जायगी, इसलिये इस प्रकारके कुछ नमूनोंसे ही सन्तोष करना होगा। किसी काव्यपर कुछ लिखते हुए प्रारम्भमें उस काव्यसे सुन्दर सूक्तियोंके नमूने देनेकी रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें,—इस प्रकरणमें बानगीके तौरपर कुछ सूक्तियोंके नमूने सतसईसे उद्धृत करें—पर इस इच्छासे विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एक तो अनेक सूक्तियाँ तुलनात्मक समालोचनामें और विरहवर्णनमें आगयी हैं, कुछ इस प्रसंगमें आ जायँगी, कुछ सतसईसंहारमें मिलेंगी। इसलिये पृथक् देनेकी कुछ आवश्यकता न रही, दूसरे, "सतसई" में किसे कहें कि यह "सूक्ति" है और यह साधारण

उक्ति है ! 'इस खांडकी रोटी'को जिधरसे तोड़िए–उधरसेही मीठी है, इस जौहरीकी दूकानमें, सबही अपूर्व रत्न हैं। बानगीमें किसे पेश करें ! एकको खास तौर पर आगे करना, दूसरेका अपमान करना है, जो सहृदयताकी दृष्टिमें हम समझते हैं अपराध है।

रुचि-भेदसे किसीको कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसीको शब्दालंकार पसन्द है, किसीको अर्थालंकार, कोई वर्णनवैचित्रीपर रीझता है तो कोई सादगीपर फ़िदा है। कोई 'रस' पर मरता है तो कोई बन्ध-सौष्ठवपर जान देता है। कोई 'पदार्थ'का उपासक है तो कोई 'पदावलि'के पांव पूजता है—

"रसं रसज्ञाः कलयन्ति वाचि
परे पदार्थानपरे पदानि ।
वस्त्रं कुविन्दा वणिजो विभूषां
रूपं युवानश्च यथा युवत्याम् ।" *

* * *

सतसईके विषयमें स्वर्गीय राधाकृष्णदासजीकी यह सम्मति सोलह आना सत्य है—

"यह सतसई भाषाकी कविताकी टकसाल है" और

---

† 'रसज्ञ' रसिक, कवितामें रस ढूँढते हैं, दूसरे पदार्थ(विषय) को देखते हैं, तीसरे पदलालित्यपर दृष्टि देते हैं। जिस प्रकार किसी युवतिको देखकर युवा, उसके रूपको सराहते हैं, जुलाहे (वस्त्रके व्यापारी) वस्त्रकी तारीफ़ करते हैं और सर्राफ़ आभूषणोंपर परखकी नजर डालते हैं।

विहारीलालके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीराधाचरणजीकी इस उक्तिमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

'यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उड्गन केशवदास' हैं तो विहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टिसे कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीचमें जो लोकोत्तर भावोंकी विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषापर विहारीका असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्दरचना इतनी मधुर है कि सूरदासको छोड़ कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है। सतसईके सम्बन्धमें व्रजभाषाके किसी पुराने पारखीकी यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

"व्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि बिसाल।
सबकी भूषन सतसई रची विहारीलाल॥"

व्रजभाषाके मर्मज्ञोंका विदग्ध हृदय इस कथनकी सत्यताका साक्षी है। व्रजभाषाको सिर्फ सूंघकर परखनेवाले कुछ महापुरुषोंकी दिव्य दृष्टिमें "इसकी भाषा वैसी बढ़िया" चाहे न हो, पर भाषाके जौहरी भावसे भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषापर लट्टू हैं। इस समय जब कि खड़ी बोलीके जोशीले नौजवानोंकी ब्रिगेडने व्रजभाषाके 'बिज़न' का बिगुल बजाकर क़तलेआम मचा रखा है, खड़ीबोलीकी किरातपुरीके तोतेतक जब इसे देखकर 'दारय', 'मारय', 'प्रस', 'पिब', कहकर चिल्ला रहे हैं, तब व्रजभाषाके सौष्ठवकी दुहाई देना, नकारखानेमें तूतीकी आवाज पहुंचानेके बराबर

है। ब्रजभाषाके मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसईकी भाषा कैसी कुछ है, और जो नहीं जानते वे किसीके समझानेसे भी क्या समझेंगे ?

× × +

गणितका ज्ञान

कहत सबै बैंदी दिये आंक दसगुनो होत ।
तिय लिलार बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥

* * *

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत ।
बंक बिकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत ॥

* * *

गणितके मूल सिद्धान्तका कविताके रूपमें कितना मनोहर निदर्शन है। गणितके सिद्धान्तसे अपने मतलबकी बात कितने अच्छे ढंगसे सिद्ध की है ! बिन्दु (शून्य) देनेसे अंक दसगुना हो जाता है। और तिरछी बिकारी लगानेसे दाम के रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि ही जानता है। गणित शास्त्रमें दश-गुणोत्तरा संख्या रखनेकी चाल है। इकाईको दससे गुनकर दहाई और उसे दससे गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दश गुणोत्तर संख्या बनाते हैं। पर यहाँ विहारीजीके गणितमें कुछ दूसरा ही चमत्कार है—यहाँ दशगुणित नहीं असंख्य-संख्या-गुणित अंक (उद्योत) पैदा होजाते हैं ! यह कविकी प्रतिभा का ही काम है !

× × ×

ज्योतिषका चमत्कार

सोरठा—

मङ्गल बिन्दु सुरंग, ससिमुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥ ४५१

* * *

इस सोरठेमें विहारीने अपने ज्योतिषज्ञानका परिचय बड़े मनोहर रूपमें दिया है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जब बृहस्पति और मङ्गलके साथ, चन्द्रमा एक राशिपर आता है, तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

"गुरुभौमसमायोगे करोत्येकार्णवां महीम् ॥"
(अर्घप्रकाश)

* * *

ज्योतिषके इस तत्त्वको कविने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषोंको जितना आनन्द इस भौतिक वृष्टिसे होता है उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयोंको इस कविता-मृत-वर्षासे होता है।

आजकल वर्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है। लोग मुँह उठाए चातक बने वर्षाकी बाट जोह रहे हैं। यदि कोई ज्योतिषी एक राशिमें इन ग्रहोंकी स्थिति दिखला कर आसन्न-भाविनी वृष्टिके सुयोगका सुसमाचार सुनावे तो भी कविताके भूखे भावुक भक्तोंको इतना हर्ष न हो, जितना कविताके इस योगसे होसकता है!

माथेपर लगी लाल बेंदी, मंगल है। मुख, चन्द्रमा है। उसपर केसरका (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सबने एक नारी(स्त्री, राशि)में इकट्ठे हो कर संसारके नेत्रोंको रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मंगल का रंग लाल होता है इसीलिये उसका 'अंगारक' और 'लोहि ताङ्ग' नाम है। सो यहां बेंदी है। बृहस्पतिका वर्ण पीला है। वह यहां केसरका तिलक है। मुखकी चन्द्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस—जल और शृंगार "रसो जलं रसो हर्षो रसः शृंगार उच्यते)।"

यह सोरठा श्लेषानुप्राणित समस्तवस्तुविषयसावयव रूपकका और कविके ज्योतिष ज्ञानका उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि ग़ालिबने भी (नीचेके शेरमें) ज्योतिषके फलादेशकी परीक्षा, आशिक़ोंकी क़िस्मतपर करनी चाही है, और मौलाना हालीने इसे कविकी प्रतिभाका उत्तम उदाहरण बतला कर कहा है कि 'आशिक़' अपनी धुनमें इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलबकी सूझती है. ज्योतिषीने जो साल (वर्ष) को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसारकी अन्य घटनाओंपर क्या होगा. इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं, वह देखना चाहता है कि देखें आशिक़ इस साल बुतोंसे क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं!

शेर—देखिए पाते हैं उश्शाक़ बुतोंसे क्या फ़ैज़,
इक बिरहमनने कहा है कि यह साल अच्छा है।

(ग़ालिब)

× × ×

सनि-कज्जल चख-झख लगनि उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ॥३६८॥

* * *

ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जन्मसमयमें यदि शनि, गुरुकी राशि—अर्थात् धन या मीनमें, और स्वराशि—मकर

या कुम्भमें, तथा उच्चराशि—तुलामें, हो तो इस सुलग्नमें जन्म लेनेवाला मनुष्य 'नरपति' होता है। जैसा कि लिखा है—

"गुरुस्वर्त्तोच्चस्थे नरपतिः।"

(वराहमिहिर, बृहज्जातक)

कविके स्नेह-बालककी जन्म-कुण्डलीमें देखिए यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—

आंखका काजल शनि है। चख-चच्छु, मीन है,—(शनिका रंग नीला है, और मीन, नेत्रका उपमान है, यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोगमें जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देहरूप देशपर अधिकार जमाकर, राजा बनकर, क्यों भोग न करेगा। अवश्य करेगा। ज्योतिषकी बात कभी भूठ हो सकती है! ज्योतिषके फलादेशमें किसीको सन्देह भी हो सकता है, पर विहारीके इस ज्योतिषमें सन्देहका अवसर नहीं है।

× × ×

तिय-तिथि तरनि-किसोर वय पुन्यकाल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत बैस सन्धि संक्रोन ॥ १८ ॥

* * *

इस दोहेमें संक्रान्तिके पुण्यप्राप्य पर्वका कितना अच्छा रूपक है। इस रूपकके 'ब्रह्मकुण्ड'में रसिक भक्तोंके मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

× × ×

पत्रा ही तिथि पाइयतु वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन ओप उजास ॥ ४६ ॥

* * *

गनती गनबे तैं रहे छुत हू अछुत समान।
अलि अब ये तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान ॥ ४३१ ॥

* * *

इन दोहोंमें " तिथिपत्र " पर कविताकी दृष्टि डाली गयी है। तिथिपत्रके भाग्य खुल गये हैं !

× × ×

वैद्यक-विज्ञान

सोरठा-"मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वह ई रोग निदान, वहै वैद औषध वहै ॥ ३६५ ॥

* * *

कविताके नलकेमें वैद्यक-विज्ञानका 'आसव" खींचकर इस सोरठेकी शीशीमें भर दिया है ! वैद्यकमें और है क्या ! नाडीज्ञान, रोगनिदान, औषध और वैद्य। मूल बातें यही तीन चार हैं, बाकी इसकी व्याख्या है।

नारी—(नाड़ी)—ज्ञानसे क्या अच्छा रोगका निदान किया है !

"वहई रोग निदान, वहै वैद्य औषध वहै"

वही रोगका निदान (आदि कारण) वही वैद्य—चिकित्सक और वही औषध है !

× × ×

' यह तर्ज़ अहसान करनेका तुम्हींको ज़ेब देता है।
मरज़में मुब्तला करके मरीज़ोंको दवा देना "
(अकबर)

* * *

" मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का,
उसीको देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले "
(ग़ालिब)

* * *

"यह बिनसत नग राखि कै जगत बड़ौ यस लेहु ।
जरी विषम ज्वर जाइये आय सुदर्शन देहु " ॥ ३०० ॥

* * *

इस नष्ट होते हुए नग(रत्न–कामिनीरत्न)को बचाकर जगतमें बड़ा यश प्राप्त करो, विषम ज्वरमें जलती हुईको 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधिने विषमज्वरका रूप धारण किया है, उसकी निवृत्तिके लिये सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

वैद्यकमें विषमज्वरपर "सुदर्शन" चूर्ण एक प्रसिद्ध योग है। यथा—

" एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम् ।
ज्वरांश्च निखिलान् हन्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥
पृथग्द्वन्द्वागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान् ।
सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत् ॥ "

(शार्ङ्गधरसंहिता)

× × ×

इतिहास-पुराण-परिचय

ये दोहे कविके इतिहास-परिचयमें पुष्ट प्रमाण हैं—

बिरह-बिथा-जल परस बिन बसियत मो हिय-ताल ।
कछु जानत जलथंभ बिधि दुर्योधन लौं लाल ॥ ३४८ ॥

* * *

दुर्योधनको 'जलस्तम्भनविधा' सिद्ध थी। उसीके प्रतापसे वह युद्धके अन्तमें कई दिनतक तालाबमें छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कवितामें आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहिणी कहती है—

हे लाल ! दुर्योधनके समान तुम भी कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो, तभी तो, विरह-व्यथा-जलके स्पर्शसे बचे रहकर मेरे हृदय-सरोवर में (आरामसे) बैठे हो ! हृदयमें रहते हो पर उसमें भरे विरह व्यथाके जलका—विरह-व्यथाका—तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता ! बड़े बेपीर हो। (चिकने घड़े हो !)

× × ×

पिय बिछुरन को दुसह दुख हरखि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहि बाल ॥ ३५ ॥

* * *

" रह्यो ऐंचि अन्त न लह्यो अवधि दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं पांचाली को चीर" ॥ १२५ ॥

* * *

इसी भाव की एक संस्कृत कवि की यह सूक्ति है—

"अनलस्तम्भनविद्यां सुभग ! भवान्नियतमेव जानाति।
मन्मथशराग्नितप्ते हृदि मे कथ मन्यथा वसति ॥ "

* * *

अर्थात् हे सुभग ! तुम अवश्य ही " अग्निस्तम्भन विद्या " जानते हो, अन्यथा कामबाणाग्निसे तप्त मेरे हृदयमें कैसे रहते हो !

बहुत कुछ भावसाम्य होनेपर भी बिहारीकी उक्ति इससे कहीं चमत्कृत है। दुर्योधनकी उपमा, हिय-ताल का रूपक, बहुत ही अनुरूप, और सुन्दर है। " बिरह-बिथाजल परस बिन " वाक्यने भावमें जान डाल दी है। यदि तुम्हें मेरे हृदयमें भरे व्यथा-जलका कुछ भी स्पर्श होता तो इस प्रकार कभी उपेक्षा न करते ! श्लोकमें यह बात नहीं है। विदग्धहृदयमेवात्र प्रमाणम् !

बसि सकोच-दसबदन बस सांच दिखावति बाल ।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनिकी ज्वाल ॥२६२॥

* * *

रामायणकी प्रसिद्ध घटना 'अग्निपरीक्षाका' उल्लेख इस दोहेमें कितनी उत्तमतासे किया है !

विवश होकर सीताजीको रावणके यहां रहना पड़ा था। वहाँसे छुटकारा पानेपर उन्होंने अपने सत्यकी परीक्षा अग्निमें प्रवेश करके दी थी। यहां संकोच (लज्जा-संचारी) प्रियदर्शनमें बाधक होनेसे रावण है, लगन—दृढ़ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना—(सोधति पद श्लिष्ट है–देह शुद्ध करना और स्मरण करना)–तनशोधन है।

अर्थात् उसे संकोचने ही अबतक तुमसे नहीं मिलने दिया, संकोच ही मिलनेमें बाधक था, प्रेमका अभाव नहीं, उसका तुममें अविचल सच्चा प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगनकी अग्निमें बैठ कर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है, सन्देह छोड़ कर उसे अङ्गीकार करो।

× × ×

नीतिनिपुणता—

दुसह दुराज प्रजानिकौं क्यौं न बढ़ै दुख दंद
अधिक अंधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चंद ॥६०५॥

* * *

जब 'दुअमली' होती है—प्रजापर दुहरे शासकोंका शासन होता है—तो प्रजाके दुःख बेतरह बढ़ जाते हैं, संसारके इतिहासमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फ़क़ीर एक गुदड़ीमें गुज़ारा कर लेते हैं. पर दो राजा एक 'रज़ाई'में

नहीं रह सकते, प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्य-वश ऐसा हुआ है, प्रजापर विपत्तिके बादल छा गये हैं। प्रजापीडन परा काष्ठाको पहुंच गया है।

बिहारीने यह बात एक ऐसे दृष्टान्तसे समझायी है जिसे सब कोई सदा देखते हैं पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमावसके दिन अन्धकारके आधिक्यका क्या कारण है? यही दुअमली। उस दिन आकाशके दो शासक—सूर्य और चन्द्र—एक राशिमें इकट्ठे होते हैं। जिससे संसारमें आदर्श अन्धकार छा जाता है।

सवैया

एक रजाई समै प्रभु द्वै सु तमोगुनको बहु भांति बढ़ावत,
होत महादुखवृंद प्रजानको और सबै शुभ काज थकावत।
"कृष्ण" कहै दिननाथ निसाकर एकही मण्डलमें जब आवत,
देखौ प्रतच्छ अमावसको अंधियारो कितौ जगमें सरसावत॥

(कृष्णकवि)

\+ \+ \+

कहै इहै श्रुति सुमृति सो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हि राजा पातक रोग॥ ६०८॥

* * *

श्रुति, स्मृति और स्याने—नीतिनिपुण—लोगोंकी नीति, सब इसमें एक स्वरसे सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग ये तीन 'निसक'—निःशक्त-निर्बलको ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं! ज्ञानाग्निकी प्रचण्ड ज्वाला, उनके पापपुञ्ज को तृणसमूहकी तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकोंका ज्ञानहीन मनुष्यके लिये प्राणान्त प्रायश्चित्त बतलाया है,

प्रचण्ड ज्ञानी, (प्रबल शासक जातिके समान) उससे एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञानबलहीनको पातक दबाते हैं। देहबलहीनको रोग दबाते हैं, और पराक्रमहीन—शासनबलरहित—जातिको राजा दबाते हैं। संसारका इतिहास इसमें साक्षी है।

"सर्वो बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम्।
सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि ॥"

(महाभारत)

× × ×

बसै बुराई जासु तन ताहि कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि छाड़िये खोटे ग्रह जप दान ॥६०७॥

* * *

संसारमें सीधे सच्चे और भले आदमीका गुज़ारा नहीं, उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपञ्चीकी सब जगह पूजा होती है, परपीडनमें जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है, जिसने छलबलसे दूसरोंको दबाकर अपनी धाक बिठाली, सिक्का जमा लिया, उसीका लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे, एक कोनेमें पड़े सड़ते रहते हैं, उनकी ओर कोई आंख उठा कर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं-(शनैश्चरादि) जिनसे किसीको हानि पहुंच सकती है—उन्हींके नामपर जप और दान किया जाता है। भलेको भला कहकर ही छोड़ देते हैं। अजी यह तो स्वभावसे ही साधु हैं, माधोके लेनेमें न ऊधोके देनेमें।

दार्शनिक तत्त्व

सोरठा—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहां॥"

*　　*　　*

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद'के समान "प्रतिबिम्बवाद" वेदान्तशास्त्रका एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठेमें कविने वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद"को कविताके सांचेमें ढालकर कितना कमनीय रूप देदिया है। संसारकी असारता दिखानेके लिये काँचका दृष्टान्त यहां कैसा चमक रहा है, इसमें संसारकी असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है!

इस दृश्य प्रपञ्चके वेदान्तमतानुसार ये पांच अंश हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥"

(पञ्चदशी)

*　　*　　*

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पांच अंश हैं। इनमें पहले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय—अंश ब्रह्मका रूप है। और पिछले दो—नाम और रूप, जगत्का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थमें सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्मका रूप है, जो सत्य है। घट पटादि नाम और आकार, संसारका रूप है, यही मिथ्या है।

यह जगत् कांचके शीशेकी तरह कच्चा—क्षणभंगुर है। ज्ञानकी ज़रा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमें वही एक ब्रह्म प्रतिबिम्बित हुआ

दीख रहा है, यह सब उसीका विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नाना-भावकी पार्थक्यप्रतीतिका कारण नाम, रूप, मिथ्या है। ' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तारात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"। इत्यादि, शतशः श्रुतियां इस तत्त्वका प्रतिपादन डंकेकी चोट कर रही हैं।

× × ×

अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तनि के संग॥ ६७०

❋ ❋ ❋

संसार-सागरसे पार होनेके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंकी संगति भी एक मुख्य उपाय है। यही बात इस दोहेमें एक मनोहर श्लेषमें लपेटकर निराले ढंगसे कही गयी है। 'तरौना' कानके एक आभूषणका नाम है, जिसे तरकी या ढेढ़ी भी कहते हैं। 'बेसर' नाकका प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। इस दोहेमें कविने श्लेषके बलसे बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते हैं कि श्रुति (कान) रूप एक अंगका सेवन करनेवाला तरौना, अबतक "तर्‌यौना ही है" और 'मुक्तनिके संग बसि' मोतियोंके साथ रहकर 'बेसर'ने 'नाकबास' प्राप्त कर लिया, नाकमें स्थान पा लिया। इसका दूसरा 'प्रतीयमान' अर्थ है कोई किसी मुमुक्षुसे कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओंकी संगति करो, श्रुतिसेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र नहीं तरोगे। देखो यह कानका तरौना श्रुति रूप एक अंगका कबसे सेवन

कर रहा है, पर अब तक 'तस्यौना ही रह्यो'—तरा नहीं, तरौना ही बना है। और बेसरने "मुक्तनिके संग बसि"—मुक्तों की संगति पाकर 'नाक बास लह्यौ'—वैकुण्ठ—सालोक्य मुक्ति—प्राप्त कर ली।

अथवा कोई केवलश्रुतिसेवी किसी मुमुक्षुसे कह रहा है कि एक अंग श्रुतिका सेवन करते हुए तुम अबतक नहीं तरे—विचार तरंगोंमें गोते खारहे हो और वह देखो अमुक व्यक्तिने मुक्तोंकी सत्संगतिसे 'बेसर' अनुपम—नाकवास बैकुण्ठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर ली।

दोहेके 'तस्यौना' 'श्रुति' 'अंग' 'नाक' 'बेसर' 'मुक्तनि' ये सब पद श्लिष्ट हैं।

संगतिकी महिमासे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी भगवद्भक्तोंको सत्संगतिकी महिमा बड़े समारोहसे समझायी है। पर इस चमत्कारजनक प्रकारसे किसीने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। विहारी अपने कविताप्रेमियोंकी नब्ज़ पहचानते हैं, वह जानते हैं कि "अपने बावले"को कैसे समझाया जाता है—रसलोलुप कविताप्रेमी सत्संगतिकी महिमा किस रूपमें सुनना पसन्द करेंगे। रातदिन जो चीज़ें प्रेमियों की नज़रमें समायी रहती हैं उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कविके लिये यही उचित है। नीरस उपदेशपर रसिक-रोगी कब कान देता है—सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमीको विषयासक्तिका दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो इसके लिये किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानीका दृष्टान्त देनेको वह इतिहासके-पन्ने पलटने नहीं बैठता, वह उस विषयीकी दृष्टिमें बसी हुई चीज़-

को सामने दिखाकर झट पट बोल उठता है कि देखा, विषया-सक्तिकी दुरन्तता !

"स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं
कान्ताकचा मोक्षपथं प्रपन्नाः।
नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धा
अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः ॥" *

× × ×

जोगजुक्ति सिखई सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन ॥ ४५७ ॥

* * *

इस दोहेमें योगदक्ष काननसेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थकी समाधि है।

जिस प्रकार किसी सद्गुरु महामुनिसे योगकी दीक्षा पाकर कोई सुज्ञान पुरुष प्रिय—परमप्रेमास्पद—ब्रह्मसे अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन—वनका सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनीके नयन, महामुनि मदनसे 'योगयुक्ति' प्रिय-संगमकी युक्ति—सीखकर कानों का सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट हैं। "योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु"के अनुसार मुनिके पक्षमें योगका अर्थ ध्यान है। नेत्रके पक्षमें संगति।

---

* स्नेह (तेल। ममता) दूर करके और 'धूम'—(केशसुगन्धित करनेकी धूप—और धूमपा मुनियों का धूम) पान करके, कामिनीके केशोंने मुक्ति पायी थी—(सुखाने को खोले गये थे—और मुक्तिमार्गमें प्रवृत्त हुए थे) कि नितम्बके संगसे फिर बन्धनमें आ गये—बंध गये, और जन्ममरण के बन्धनमें पड़ गये।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर ब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ ॥६८०॥

* * *

इस दोहेमें कविने परम सूक्ष्म कटिको अलख परब्रह्मकी उपमा देकर कौतूहलजनक कमाल किया है। पूर्वार्धमें ब्रह्म-दर्शनके उपायोंका निर्देश करनेवाली एक सुप्रसिद्ध श्रुतिको किस मार्मिकतासे निराले ढंग पर व्यक्त किया है। सुनिये, वह श्रुति यह है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

* * *

यह भगवती मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्यमहाराजका उप-देश है कि, पहले—"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "नित्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे आत्माका श्रवण करे—आत्मा कैसा है, यह सुने—फिर 'आत्मा ऐसा हो सकता है या नहीं' इसका अनुमानसे विचार करे। तदनन्तर उस निर्णीत स्वरूपका निरन्तर ध्यान करे। यह संक्षेपमें ब्रह्मसाक्षात्कारका प्रकार है। उक्त श्रुतिकी ही व्याख्या इस श्लोकमें की गयी है—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय इति दर्शनहेतवः ॥"

* * *

श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मके सम्बन्धमें सुना, अनुमानके द्वारा उसके सच्चिदानन्द स्वरूपको जाना, निरन्तर ध्यानद्वारा किसी प्रकार इस तत्त्वको बुद्धिमें ठहराया। फिर भी ब्रह्म ऐसा अलक्ष्य (अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षा-त्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनीकी कमर) भी कुछ ऐसी ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्दप्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—"सनम! सुनते हैं तेरे भी कमर है"—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है, तो यह शरीरप्रपञ्च—स्तनशैल, मुखचन्द्र,—आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं? (ब्रह्म नहीं है तो यह विश्वप्रपञ्च,—हिमालयादि पर्वत, चन्द्रादि ग्रह-मण्डल—किसमें स्थित हैं—कल्पित हैं)—इसलिए कटि-ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्वको—कटि-ब्रह्मके सत्तास्वरूपको निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धिमें ठहराते हैं। फिर भी "अलख लखी नहीं जाय"—उसका साक्षात्कार नहीं होता, नज़र नही आती, दिखलायी नहीं देती—"कहां है किस तरफ़-को है किधर है"—यही कहते रह जाते हैं!

"सूछम कटि परब्रह्म सी अलख लखी नहीं जाय।"

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है! परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। लखी नहीं जाय, साधारणधर्म। 'सी' या 'लौं' वाचक। देखा वाचक! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है!

"कोऊ 'सुकवि' कहलावनहारे, 'आचार्य' या 'दोहामेंतें 'कटि' को काटकर 'गति' बनावतु हैं, अरु कटिवर्णन करने-हारे बेचारे लल्लूलाल पर "इसमें लल्लूलाल कटिका वर्णन ठूँसते हैं" कहकर कटाक्ष करतु हैं!"—
पर हमारी मन्दबुद्धिमें 'सुकवि' जी का यह आक्षेप नितान्त निस्सार है, 'कटि' की जगह 'गति' रखनेमें दोहेका चमत्कार शशशृङ्ग हो जाता है। कुछ भी कवित्व नहीं रह जाता, कोरा वेदान्तवाद रह जाता है।

× × ×

हिन्दी संसारके सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान

कविराज श्रीयुत पण्डित नाथूराम शंकरजी शर्मा 'शंकर'ने भी दार्शनिक कविताके रूपमें अनोखे ढंगपर "कमरकी अकथ कहानी" कही है, कटिका चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी—"पासके गये पै एक बूंद हू न हाथ लगै
दूरसों दिखात मृगतृष्णिकामें पानी है,
"शंकर" प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर
जान पड़े अम्बरमें नीलिमा समानी है।
भावमें अभाव है अभावमें धौं भाव भस्यो
कौन कहे ठीक बात काहूने न जानी है,
जैसे इन दोउनमें दुबिधा न दूर होत
तैसे तेरी कमरकी अकथ कहानी है॥"

* * *

जनाब "अकबर" ने भी अपने ख़ास रंगमें क्या ख़ूब फ़र्माया है—

× × ×

"कहीं देखा न हस्ती[1] वो अदमका[2] इश्तराक[3] ऐसा,
जहांमें मिस्लें[4] रखती ही नहीं उनकी कमर अपना।"

× × ×

पण्डितराज जगन्नाथने वेदान्तियोंके 'जगन्मिथ्यात्ववाद' और माध्यमिकोंके 'शून्यवाद'को लक्ष्यमें रखकर कटिवर्णनमें अद्भुत दार्शनिक चमत्कार दिखलाया है—

"जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।

---

१ हस्ती—सत्ता, भाव। २ अदम—अभाव। ३ इश्तराक—मेल, सम्बन्ध। ४ मिस्ल—सादृश्य।

इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसन्देहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे !"

× × ×

"अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणित-महायुक्ति-निवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असत्ख्याति-व्याख्यादिकचतुरिमाख्यातमहिमा-
ऽवलम्बे लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्त-सरणिः ॥"

(लक्ष्मीलहरी)

* * *

इसी प्रकार श्रीहर्षने भी खूब कहा है—

"सदसत्संशयगोचरोदरी"

× × ×

"ईशाणिमैश्वर्य-विवर्तमध्ये !" (नैषध)

× × ×

जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यौं आंखिन सब देखिये आंखि न देखी जाहिं ॥६७०॥

* * *

यह सब जगत् (जिसकी सत्तासे स्थित और) जिसके प्रकाशसे प्रतिभासित हो रहा है, अपनी मायासे रचकर जो इसे दिखा रहा है, वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जाता, नहीं दीख पड़ता। आंखसे सब कुछ देखा जाता है, सबको आँखसे देखते हैं, पर स्वयं आंख (अपने आपको) नहीं दीखती। आंखको आँखसे नहीं देख पाते।

कितनी पतेकी बात बतलायी है, कैसा सुन्दर दृष्टान्त है। यह जितना सहज और सरल है, उतना ही निगूढ़ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है! इसकी व्याख्यामें बहुत कुछ कहा जा सकता है

विहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पन्थके भी प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिए, कैसे नावकके तीर हैं—

'पतवारी माला पकरि और न कछू उपाव।
तरि संसार पयोधिकौं हरि नामैं करि नाव ॥६७२॥

* * *

कैसा अच्छा रूपक बांधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरिनामको नाव बना और जपमालाकी पतवार पकड़, बस इस संसार समुद्रको तरजा, और कोई उपाय पार उतरनेका नहीं है।

× × ×

"तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहिं बाट।
निपट विकट जब लगि जुटे खुटहिं न कपटकपाट ॥६७४॥

* * *

कितनी मनोहर रचना है, कर्णकटु 'टकार'की बहार इस जगह कितनी मधुर मालूम दे रही है। कपटी 'भक्त'को क्या फटकार बतलायी है।

जबतक कपटके विकट किवाड़ जुटे हैं, तबतक इस मन-रूप मन्दिरमें हरि किस रास्तेसे आवें। ज़रा सोचो तो, लोहेके फाटकसे मकानको मजबूतीके साथ बन्द कर-रक्खा है, और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अन्दर पहुँचकर तुम्हें कृतार्थ करे! "ई ख़यालस्तो महालस्तो जनूं"

× + ×

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाँचे वृथा साँचे राँचे राम ॥ ६६९ ॥

* * *

इस दोहेके दण्डप्रहारसे भण्डभक्तिका भाँडा फोड़ दिया है!

× × ×

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हि चंग रंग गोपाल॥ ६७४॥

* * *

बिलकुल नयी बात कही है। साकार या सगुणके उपासक, निराकार या निर्गुणके उपासकोंपर ताना मारा करते हैं कि निर्गुणकी उपासना हो ही नहीं सकती। विहारी कहते हैं कि गुणविस्तार करनेके—सगुणोरूपकी उपासनाके—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं। उसके गुण अनन्त हैं, कोई पार नहीं पासकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागरमें ढूँढता है, कोई वैकुंठमें खोजता है, कोई कैलाशपर, और कोई कहीं। पर निर्गुणोपासनामें वह पासही प्रकट होजाता है, जहां ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है। चंगकी—पतंगकी डोरीको जितना बढ़ाओ उतनाही पतंग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास आ पड़ता है। 'चंग रंग'—चंगकी तरह। कोई इसका अर्थ यह भी करते हैं—'गुन विस्तारन काल'—में—सत्त्वरजस्तमोलक्षण गुणावृत पुरुषोंसे वह (ईश्वर) दूर रहता है और जो 'निर्गुण' हैं—'गुणातीत हैं' उनके निकटमें ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीतामें कहा है—

"गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥"

(गीता-१४।२०)

* * *

पर इस अर्थमें चंग रंगकी संगति बिगड़ जाती है।

× × ×

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि ।
तुमहुँ कान्ह मनौ भये आज कालके दानि ॥ ६६० ॥

* * *

बड़ी 'शोख़ी' है । "दान" कहते हैं नटके ढोलियाको, नट बढ़ियासे बढ़िया तमाशा दिखाता है-जानपर खेलकर एकसे एक कठिन कला करके दिखाता है, पर ढोलिया, ढोलपर डंका मारकर बराबर यही कहता रहता है कि "यह कला भी नहीं बदी, यहभी नहीं बदी" ।

भक्त ईश्वरसे कहता है कि पहले तुम थोड़ेसे गुणपर रीझ जाते थे—झूठमूठ भी किसीके मुंहसे तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेड़ा पार लगा दिया, पर अब हम नाना प्रकारकी भक्तिसे—अपनेमें अनेक सद्गुण सम्पादन करके—तुम्हें रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते । मालूम होता है तुम भी नटके ढोलिया बन गये हो, हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना, भक्ति और सत्कर्मपर 'यह भी नहीं बदा' कहकर उपेक्षा कर रहे हो !

अथवा आजकलके दानी जिस तरह दानपात्र-(याचक)में सौ मीन मेख निकालकर-"तुममें यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इसलिये हमारी सहायताके तुम पात्र नहीं हो," इत्यादि बहाना करके दानपात्रको कोरा टाल देते हैं, ऐसा ही बरताव तुम अपने दीन भक्तोंके साथ करने लगे हो ।

× × ×

कबको टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय ।
तुमहूँ लागि जगतगुरु जगनायक जगबाय ॥ ६६१ ॥

* * *

संसार बड़ा स्वार्थी है। यहां कोई किसी दीन दुखीके करुणक्रन्दनपर कान नहीं देता, इसी संसारकी हवा, मालूम होता है, हे 'जगत गुरु, जगनायक स्याम' ! तुम्हें भी लग गयी। तभी इतने बेपीर होगये हो !

"कबको टेरत दीनरट होत न स्याम सहाय"

दोष-परिहार

कई विवेचक महानुभावोंने विहारीकी कवितामें कई प्रकारके दोषोंकी उद्भावना भी की है। विहारीकी कविता सर्वथा दोषरहित है, उसमें कोई भी दोष नहीं है, यह बात नहीं है। मनुष्यकी कोई भी रचना ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें दोषोंका सर्वथा अभाव हो। कविकुलगुरु कालिदासकी कवितातकमें जब ढूंढनेवालोंने दोष ढूंढ निकाले हैं, उनके अनेक पद्योंमें अनेक प्रकारके दोष व्यक्तिविवेककार, और काव्यप्रकाशकारने दिखलाये हैं, तब यदि विहारीकी कवितामें भी कुछ दोष पाये जायँ तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

सतसईके प्राचीन टीकाकारोंने-(अमरचन्द्रिकाकार तथा अनवरचन्द्रिकाकारने)—कहीं एकाध जगह प्रायः ध्वनि व्यञ्जनाके तारतम्यसे बहुत सूक्ष्म रीतिपर—"यहां गुणीभूत व्यङ्ग्य है, इससे यह अवर काव्य है। या "यहां विभावकी व्यक्ति क्लिष्टतासों होतु है याते रसदोष है" इत्यादि कहा है। पर कुछ आधुनिक टीकाकार और लेखक इससे आगे बढ़े हैं। उन्हें कई नये दोष भी विहारीकी कवितामें दीख पड़े हैं। यहां ऐसेही 'दोषों' पर विचार करना है, जो हमारी सम्मतिमें दोष नहीं

'दोषाभास' हैं। दोष समझनेवालोंकी समझका दोष है।

उनमें पहला दोष बिहारीकी भाषाके सम्बन्धमें है। कुछ लेखकोंकी राय है कि "बिहारी बुंदेलखण्डमें पैदा हुए थे, या वहाँ कुछ दिनों रहे थे इसलिए उनकी भाषामें बुंदेलखंडी शब्द पाये जाते हैं। बिहारी बुन्देलखण्डी थे, या ब्रजवासी, यह विषय उनकी जीवनीसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसपर जीवनी लिखते समय विचार किया जायगा। यहां केवल उन्हीं शब्दोंपर विचार करना है कि जिनके आधारपर उन्हें बुंदेलखण्डनिवासी या बुंदेलखण्डप्रवासी बतलाया जाता है, जिसके कारण बिहारीकी भाषाके शुद्ध व्रजभाषा होनेमें सन्देह किया जाता है। यह मान लेनेपर भी कि बिहारी कुछ दिन बुंदेलखंडमें रहे थे, उनकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा हो सकती है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि "अनीस"का ख़ानदान कई पुश्त पहलेसे देहली छोड़कर लखनऊ आ रहा था। अनीस देहलीसे बाहर पैदा हुए, वहीं तालीम पायी, फिर भी उनकी ज़बान ठेठ देहलवी ज़बान मानी जाती है। तमाम उम्र लखनऊ में रहते हुए भी उनकी ज़बानपर लखनवी रंग नहीं चढ़ा। जिन शब्दों और महावरोंमें देहली और लखनऊकी भाषामें भेद है, उनका प्रयोग वह देहलवी तर्ज़पर ही करते थे। किसी शब्दपर यदि कोई लखनवी कुछ कहता तो उसके जवाबमें "अनीस" कह देते थे कि "यह मेरे घरकी ज़बान है। हज़रात लखनऊ इस तरह नहीं फ़रमाते"। इससे सिद्ध है कि ज़बानके जौहरी जानसे ज़्यादह ज़बानकी आनपर जान देते हैं। कहीं भी रहें, वह भाषाको सांकर्य दोषसे बराबर बचाते हैं। बिहारीकी भाषाको बुन्देलखण्डकी भाषा, प्रमाणित करनेके लिये दो शब्द हैं, जिन्हें "शृगालरोदन न्याय"से प्रायः

सबने दोहराया है। उनमें* एक है—*लखबी*, जानबी। दूसरा—*प्यौसाल* ।

'लखबी' शब्दके प्रयोगपर व्रजभाषाके प्रवीण पारखी कई महापुरुषोंने आपत्ति की है। किसीने कहा है 'यह शुद्ध व्रज-भाषा नहीं है, फिर कहा है "यह व्रजभाषा ही नहीं है," किसीने इसमें बुँदेलखंडी भाषाकी बू बतलाकर विहारीको व्रजभाषासे ही नहीं व्रजभूमिसे भी 'जलावतन' करनेकी चेष्टा की है। मैं यहां अभी विहारीके देश-कालपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा, पर इतना अवश्य कहूंगा कि यदि लखबी, जानबी, मानबी, शब्दोंके प्रयोगके कारण विहारीकी भाषा, शुद्ध व्रजभाषा नहीं, तो फिर व्रजभाषाके बाबा आदम सूरदासजीकी भाषा भी शुद्ध व्रजभाषा नहीं। उन्होंने भी यह "अपराध" किया है—

रागनट—"मोहि तोहि *जानिबी* नंदनन्दन जब वृन्दावनतें गोकुल जैबो"......

(सूरसागर, दानलीला)

और यदि इन शब्दोंके प्रयोगके कारण ही विहारी बुंदेल-खंडी थे, तो श्रीतुलसीदासजी और भिखारीदासकी जन्म-भूमिके लिये भी बुंदेलखंडका कोई गांव ढूँढ लेना चाहिए—

---

* बा० राधाकृष्णदास (कविवर बिहारीलालमें) पं० अम्बिका-दत्तजी व्यास, (बिहारी बिहारमें) मेसर्स मिश्रबन्धु (अपने 'विनोद'में) बराबर इस बारेमें एक दूसरेकी ताईद करते चले गये हैं। पर—

"दिलमें कुछ इंसाफ़ करता ही नहीं कोई बुज़ुर्ग।
होके अब मजबूर मैं इस राज़को करता हूं फ़ाश॥"

श्रीतुलसीदासजीने भी ऐसा प्रयोग किया है—

"परिवार पुरजन मोहि राजहि प्राणप्रिय सिय *जानबी*,
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि *मानबी*।"

(रामायण—बालकांड)

कविवर भिखारीदास (जो प्रतापगढ़ अवधके निवासी थे) जिनकी भाषाके सम्बन्धमें मिश्रबन्धुओंकी राय है कि–

"दासकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है" (मि० ब० वि० ६६५)

"इनका बोलचाल (?) भी बहुत श्लाघ्य है" (६६५)"

इन्होंने भी इन "ठेठ बुंदेलखंडी" शब्दोंका प्रयोग किया है—

" जाती है तूँ गोकुल गोपाल हूँ पै " जैबी " नेकु
आपनी जो चेरी मोहि जानती तू सही है,
पाय परि आपुही सों " पूछबी " कुसल छेम
मोपै निज ओरते न जात कछु कही है।
" दास " मधुमासहूके आगम न आये तबै
तिनसों संदेसनिकी बातै कहा रही है,
एतो सखी " कीबी " यह अंब बौर "दीबी" अरु,
" कहिबी " वा अमरैया राम राम कही है।"

(काव्यनिर्णय)

* * *

शृंगार-सतसईकार रामसहायदासने भी (जो " बासी कासी खास " थे) इन शब्दोंको बरता है—

"छुन बिछुरन चित चैन नहिं चलन चहत नँदलाल।
अब 'लखिबी'री होति है याको कौन हवाल ॥ ६७ ॥"
"लखत कलाधर 'देखबी' कामिनिमान सयान ॥ २६७ ॥"

(शृंगारसतसई)

* * *

इसी प्रकार 'बोधा' कवि भी कहते हैं—

सवैया-

"खरी सासु घरी न छमा करि है, निसिबासर त्रासन हीं मरबी,
सदा भौंहें चढ़ाये रहे ननदी यों जिठानी की तीखी सुने जरबी।
कबि बोधा न संग तिहारो चहैं यह नाहक नेह फँदा परबी,
बड़ी आंखें तिहारी लगें ये लला लगि जायं कहूँ तो कहा करबी॥"

* * *

कई भाषाशास्त्रियोंका यह भी अखण्ड सिद्धान्त सुना गया है कि *प्योंसाल* शब्दकी जन्मभूमि भी खालिस बुंदेलखण्ड है। इसीके बलपर वह विहारी वेचारेको बुंदेलखण्डमें धकेल रहे हैं! पर यह सरासर ज़बरदस्ती है। हम देखते हैं, यह शब्द अबतक, इधर रुहेलखंडके कई जिलोंमें और व्रजके आस पास ही नहीं खास व्रजमें भी बराबर इसी रूपमें और इसी अर्थमें बोला जाता है, और ऐसे लोगोंकी ज़बानसे सुना जाता है, जिन्होंने बुंदेलखंड कभी नक्शेमें भी नहीं देखा, जो स्वप्नमें भी बुंदेलखंड नहीं गये। उनमेंसे बहुतोंने तो बुंदेलखंडका शायद नामतक भी न सुना हो!

"कुछ ग्राम्य दोष"

साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यासजीने एक जगह एक नये प्रकारके "ग्राम्यदोष" की विहारीके काव्यमें कल्पना की है—

"ज्यौं कर त्यौं चुँहटी चले ज्यौं चुँहटी त्यौं नारि।
छबि सौं गतिसी लै चलति चातुर कातनिहारि॥५७१॥"

* * *

इस दोहेपर व्यासजीने यह टिप्पनी जड़कर "दादे-सखुनवरी" दी है—"*चरखे कातनेका वर्णन कुछ ग्राम्य दोष है* "

बार बार सोचनेपर भी व्यासजीकी इस आज्ञाका अर्थ हमारी समझमें कुछ नहीं समाया ! चरखा कातनेका वर्णन होनेसे ही यह "ग्राम्यदोष" कैसे हो गया ! प्राचीन आचार्योंने तो 'चरखा कातने'की गणना कहीं ग्राम्यदोषमें की नहीं। भौंडे ढंगपर अनुचित शब्दोंमें किसी बातको कहना ग्राम्यदोष * माना गया है। फिर गांवमें ही चरखा काता जाता है, इसलिये ही यह ग्राम्यदोष है, यह भी नहीं, चरखा शहरोंमें भी काता जाता है, शरीफ़ घरानोंमें भी इसका रिवाज है।

फिर कवि इस बातके पाबन्द भी नहीं हैं कि वह शहरवालोंके ही रस्मो रिवाजका राग गावें (चाहे वे कैसे ही बेहूदा हों) चरखा कातनेसे ही किसीको गँवार या गँवारी नहीं कहा जा सकता। वेदमें चरखा कातने और कपड़ा बुननेवालियोंको "देवी" कहा गया है, और "देवी" कभी गँवारी नहीं हो सकती—

"ओं या अकृतन्न वयं या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥" (मन्त्रब्राह्मण।१।१।६)

* * *

विहारीने ही यह चरखा कातनेके वर्णनका 'गँवारपन' किया हो सो भी नहीं, संस्कृत कवियोंने भी ऐसा किया है—

---

* साहित्यदर्पणकारने पददोषके प्रकरणमें "ग्राम्यत्वं यथा—'कटिस्ते हरते मनः'। अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः" लिखा है—इसपर रामचरण तर्कवागीशने 'ग्राम्य'का यह लक्षण किया है—"ह्यालिकसाधारणप्रसिद्धार्थकशब्दो ग्राम्यः।" यह लक्षण चरखाकातनेपर किसी तरह नहीं घट सकता।

"रे रे यन्त्रक मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा॥" *

* * *

"विप्रः सपक्षो ह्युपवीतधारी
युक्त्या स्वरार्थं भ्रमयन् स्वहस्तम्।
शिष्योस्मि नार्या न तु रोदनं मे,
शब्देन वेदाध्ययनं करोमि।" †
(सुभाषितावलि)

* * *

चरखा कातनेका ही नहीं, संस्कृत कवियोंने "धान कूटने"-का वर्णन भी किया है। इसे शायद "जङ्गली" दोष कहा जाय!

"विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली-
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्वन्धुराः।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरःस्थल-
त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनीगीतयः।"

* * *

इसलिये साहित्याचार्यजीका विहारीके चरखा कातनेके

---

* चरखेके शब्दको उसका रोना मान कर कोई कहता है कि—मियाँ चरखे! क्यों रोते हो! यह स्त्रियां तो ज़रा तिरछी नज़रके इशारेसे ही अच्छे अच्छोंको नाच नचा देती हैं, फिर इनके हाथमें पड़कर तो जो दुर्दशा हो कम है।

† चरखा जवाबमें कहता है कि मैं उपवीतधारी (चरखेपर लिपटी माल यहाँ जनेऊ है) ब्राह्मण हूँ, इस विदुषी नारीका शिष्य हूँ, हाथ हिला हिला कर ऊँचे स्वरसे वेदपाठ कर रहा हूँ, रो नहीं रहा।

वर्णनको 'ग्राम्यदोष' बतलाना, कुछ भी 'नागरिक गुण" नहीं समझा जा सकता।

× × ×

'रूपक'का अनौचित्य !

' विरहविथा-जल परस बिन " इस (३:८ वें) दोहे पर व्यासजीने यह टिप्पनी दी है—

"इस दोहेमें व्यथाको जल बनाया सो स्त्रीलिङ्गको पुंलिङ्गसे रूपक अनुचित है। यदि 'विरह दुःखजल" पाठ होता तो अच्छा होता (विहारी विहार ११७ पृ०)

हम कहते हैं, साहित्याचार्यजी यह टिप्पनी न देते तो अच्छा होता। "विरहदुःखजल" पाठ होता तो अच्छा न होता, बुरा होता। उस दशामें यह पाठ विहारीका न होता, व्यासजीका होजाता। फिर यह व्रजभाषा न रहती, आजकलकी खड़ी बोली होजाती, व्रजभाषाके कवि "दुःख" नहीं लिखते 'दुख' लिखते हैं। ऐसा होनेमें (दुख लिखनेमें) मात्राकी टांग टूटकर दुखने लगती।

अब रही लिङ्गभिन्नताके अनौचित्यकी बात। व्यासजीका यह कहना कि "स्त्रीलिङ्गको पुंलिगसे रूपक अनुचित है" यह भी उचित नहीं। अचेतनके रूपणमें लिङ्गसाम्यकी परवा कवि लोग नहीं करते। यदि यह आवश्यक होता तो महाकवि बाण (जिनके विषयमें "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् " की उक्ति प्रसिद्ध है, जिनके सामने विहारीको और व्यासजीको भी अदबसे सिर झुकाना चाहिए,) "नयन" (नपुंसकलिंग)को "नदी" (स्त्रीलिंग)के साथ कभी रूपण न करते। उन्होंने "हर्षचरित"में ऐसा किया है—

"आयत-नयन नदीसीमान्तसेतुबन्धेन .... घोणावंशेन ......विराजमानं......युवानमद्राक्षीत् ।"

उपमेय और उपमानके लिङ्गवचनादिके साम्यका ध्यान रखना "उपमा"में अत्यावश्यक समझा गया है। पर इसके व्यतिक्रमके उदाहरण भी महाकवियोंके काव्योंमें मिलते हैं—

"त्याज्यो दुष्टः प्रियोप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ।"

(रघु० । १ । २८ ।

यहां उपमेय 'प्रियः' पुंलिंग है, और उपमान "अङ्गुली" स्त्रीलिंग ।

इसीलिये आचार्य दण्डीने कह दिया है--

"न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो "न धीमताम् ।"

(काव्यादर्श)

* * *

इस कारण विहारीका उक्त "विरह-विथा-जल" रूपक सर्वथा उचित है। इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं ।

× × ×

"तमाखूके वर्णनकी चाल"

"ओठ उचै हाँसी भरी दृग भौंहनकी चाल ।
मो मन कहा न पी लियो पियत तमाखू लाल ॥ २८२ ॥"

* * *

इस दोहेपरव्यासजीकी टिप्पनी है—

"यह दोहा अनवरचन्द्रिकामें नहीं है। पुराने कवियोंमें तमाखू गांजे आदिके वर्णनकी चाल न थी, इस कारण इस दोहेके विहारीकृत होनेमें सन्देह भी है।"

(विहारी विहार पृ० ८४)

अनवरचन्द्रिकामें न होनेसे इसके विहारीकृत होनेमें सन्देह नहीं होसकता, जबकि अन्य अनेक टीकाओंमें यह है।

विहारीके समय तमाखू पीनेका रिवाज अच्छी तरह-से होगया था। इसलिये इसके वर्णन करनेकी चाल भी होसकती है। यह कोई ऐसी बात नहीं जिससे इसके विहारीकृत होनेमें सन्देह किया जा सके। विहारीके पूर्ववर्ती या उनके समकालीन किसी हिन्दी कविने तमाखूका वर्णन नहीं किया, इससे विहारी भी उसका वर्णन न करें, यह कोई कारण नहीं है। व्यासजीकी इस टिप्पनीको पढ़कर नीलकण्ठ दीक्षितकी यह सूक्ति याद आ जाती है—

अचुम्बितोल्लेखपथप्रवृत्ता-
नसंप्रदायेन कवीन् क्षिपन्ति।
पथा प्रवृत्तान् प्रहतेन चैव
पश्यन्त्यवज्ञामुकुलीकृताक्षाः।"

* * *

अर्थात् यदि कवि नये ढंगपर अपूर्वतासे किसी ऐसे विषयका वर्णन करे जो पहले कवियोंने नही किया है, तब तो उसपर 'संप्रदायविरोध'का आक्षेप किया जाता है। और यदि उन्हीं बातोंको दोहराता है, जिनका वर्णन पुराने कवि कर गये हैं, तो यह कहकर उसकी अवज्ञा की जाती है कि इसमें कुछ नवीनता नहीं, यह तो पुराने कवियोंने भी कहा है—

"गरचे क़न्दीले-सखुनको मँढ़ लिया तो क्या हुआ,
ढांचकी तो हैं वही अगले बरसकी तीलियां।"

* * *

"तमाखूका वर्णन संस्कृत कवियोंने भी किया है—

"बिडौजाः पुरा पृष्टवान् पद्मयोनिं
धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति।
चतुर्भिर्मुखैरुत्तरं तेन दत्तं
तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः।"

*　　　*　　　*

"कचिद्धुका कचित्थुका कचिन्नासाग्रवर्तिनी।
एषा त्रिपथगा गंगा पुनाति भुवनत्रयम्॥"

×　　　×　　　×

"अश्लीलता औ बीभत्स"

बहक न इहिं बहनापने जब तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबील हू चील्ह घौंसुवा मास। २३१

*　　　*　　　*

इसपर व्यासजीका 'फुट नोट' है—

"यह दोहा शृङ्गारसप्तशतीमें नहीं है। इसमें कोई उत्तम उक्ति नहीं है, अश्लील औ बीभत्स प्रगट है।"

(बि० बि० पृ० ७०)

अपनी अपनी रुचि ही तो है, व्यासजीको इसमें कोई उत्तमता नहीं दीखती, हम समझते हैं यह ऐसी उत्तम उक्ति है, जैसी होनी चाहिए।

किसी दुष्टा कुटनीके फेरमें पड़ी हुई, सती कुलबधूको हितू सखीका उपदेश है कि तू इसके-(कुटनीके)-बहनापन (मित्रता)पर मत बहक, सावधान हो। इसकी कुसंगतमें पड़कर, आज नहीं तो कल, तेरा विनाश—(पातिव्रत धर्मका नाश)—हुआ धरा है, देख, सँभल जा, याद रख, चीलके घोंसलेमें मांस बड़े प्रयत्न करनेपर भी नहीं बच सकता!

ऐसे सुन्दर उपदेशमें, समझमें नहीं आता. "अश्लीलता" और "बीभत्स" किधरसे आ घुसे ?

"चीलके घोंसलेमें मांस नहीं बचता" यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, जो ऐसे ही अवसरपर कही जाती है, जहां किसी चीज़का बचना असम्भव हो।

"दिरमो दाम अपने पास कहां, चीलके घोंसलेमें मास कहां।"

(ग़ालिब)

*   *   *

यह "लोकोक्ति"का "मांस" कुछ असली "मांस" नहीं है, न इसका उल्लेख ही ऐसे बुरे ढंगपर हुआ है, जिसमें बीभत्सताकी बू आती हो, या जिसे देखना या सुनना आंख और कान गवारा न कर सकते हों।

"प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ! ते तदा"

*   *   *

साहित्यदर्पणके इस उदाहरणका ध्यान करके शायद यहां अश्लीलता समझ ली गयी है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है। यहां (दोहेमें) "नाश"से नायिकाके "शरीरका विनाश" किसी तरह नहीं समझा जा सकता। 'कुटनी' कोई भिड़न या नाका (मगर) नहीं है, जो उसे फाड़कर खा जायगी, या निगल जायगी ! यहां "नाश"से मतलब पातिव्रतधर्म-विनाश से है। अमंगल अश्लीलतावाले अर्थकी ओर—(शरीरविनाश-की ओर)-ध्यान जा ही नहीं सकता। "महावरे"की श्लक्ष्णता पर "श्लेष"का दूसरा पहलू चस्पां ही नहीं हो सकता।

"स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ"

रघु० ७। ३१।

*   *   *

"आमिष" शब्दका प्रसिद्ध अर्थ "मांस" है, पर यहां "*प्रमदामिषं*"में "स्त्रीके मांस या स्त्रीरूप मांसको छीननेके लिये "राजलोक" (प्रतीयमान चीलकी या बाजकी तरह, अथवा शिकारी कुत्ते या भेड़ियेकी तरह!) रास्ता रोक कर खड़ा हो गया।" ऐसा कोई भी पाठक नहीं समझता। यद्यपि "आमिष"का प्रसिद्ध अर्थ मांस है, दूसरा अर्थ "भोग्यवस्तु" अप्रसिद्ध है—(आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि), तथापि प्रसंगवश इस अप्रसिद्ध अर्थ "स्त्रीरूप भोग्यवस्तु"की ओर ही ध्यान दौड़ता है।

फिर विहारीका उक्त दोहा तो बहुत ही स्पष्ट है। उसमें न अश्लीलताकी ओर ध्यान जा सकता है, न महावरेकी वजहसे बीभत्सताकी ही गन्ध आ सकती है।

यदि किसीको इतनेपर भी अश्लीलता और बीभत्स ही सूझ पड़े, तो भी कोई हानि नहीं। ऐसे प्रसङ्गपर—कुटनीके चंगुलमें फँसकर कुलवधूके प्राणाधिक धर्मके विनाशकी आशंकापर—सखीको यही कहना चाहिए था, और इन्हीं ज़ोरदार शब्दोंमें कहना चाहिए था। धर्म-विनाशकी सम्भावनासे उत्पन्न आवेशमें, बनावटी "अश्लीलता"की परवा हर्गिज़ नहीं की जा सकती।

"इति सर्वं रमणीयं, नात्र दोषकणिकाया अप्यवकाशः।

किमुत इयत्योर्बीभत्साश्लीलतयोः कबन्धताडकासोदर्ययोः।"

× × ×

"उत्तम उक्ति नहीं है"

"तो ही निरमोही लग्यौ मो ही अहै सुभाव।
अन आये आवै नहीं आये आवे आव" ॥ ३५२ ॥

* * *

"तेरा (ही) मन, निर्मोही है (लग्यो मो ही) उससे मेरा हृदय लगा सो मेरे मनका भी यही स्वभाव हो गया, तुमारे आये बिना मन हमारे पास नहीं आता, तुमारे आये से आवेगा इसलिये आव"। ऊपरके दोहेकी यह (उल्लिखित) व्याख्या करके व्यासजी लिखते हैं कि—

"इस दोहेमें न प्रसाद है न उत्तम उक्ति है"—

प्रसादका तो यह दोहा अच्छा खासा उदाहरण है, सुनते ही समझमें आ जाता है, शब्द सीधे सादे हैं। व्यासजीने पूर्वार्धके अन्तमें "यहै सुभाव" का "अहै स्वभाव" बनाकर कुछ उलझन पैदा कर दी है, इससे इसके प्रसादमें कुछ फ़रक़ ज़रूर आ गया है, पर इसमें दोहेका दोष नहीं है।

भाव भी इसका सरल है, झट समझमें आ जाता है। इसमें उत्तम उक्ति भी अच्छी है, क्योंकि नायकके निष्ठुर मनके साथ मिलनेके कारण उत्पन्न हुई अपने मनकी निष्ठुरताके कथन-पूर्वक उपालम्भ द्वारा नायकमें अपने मनकी अत्यासक्ति व्यङ्ग्य है। और अपने मनके बुलानेके बहानेसे प्रियप्राप्तिरूप इष्ट सिद्ध होता है, इसलिये यहां "पर्यायोक्त" अर्थालङ्कार है—

"पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद् व्याजेनेष्टसाधनम्॥"

(कुवलयानन्द। ६६)

* * *

इसके अतिरिक्त शब्दालङ्कार-अनुप्रास भी बड़ा बढ़िया है। इस प्रकार इन दोनों अलंकारोंकी तिलतण्डुलवत् "शब्दार्थालंकार संसृष्टि" है—

"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।"

(साहित्यदर्पण। ६८)

* * *

इस तरह जब इस कवितामें व्यङ्ग्य भी है, दुहरे अलंकारोंका चमत्कार भी है। शब्द भी सुन्दर हैं, प्रसाद भी स्पष्ट है, भाव भी 'मनोहर' है। फिर भी—इतनेपर भी—यह "उत्तम उक्ति" क्यों नहीं?

"पुराणरीति-व्यतिक्रम और रसाभास"

मेसर्स मिश्रबन्धुओंने लिखा है कि—

"काव्यके पूर्णज्ञ होनेपर भी बिहारी उसकी रीतियोंके बहुत अधीन नहीं रहते थे"। (हिन्दी नवरत्न पृ० २३२)

न रहते होंगे, पर आपने इस बातको किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया। कोई प्रमाण ऐसा—(पुराणरीति-व्यतिक्रमका)—आप पेश कर भी देते तो भी उसके उत्तरमें महाकवि बिल्हणका यह प्रसिद्ध पद्यरत्न दिखला कर सहृदय समाजका सन्तोष किया जा सकता था—

"प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-
व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥"

(विक्रमाङ्कदेवचरित)

* * *

मिश्रबन्धुओंकी सम्मतिमें बिहारीने पुराणरीतिका व्यतिक्रम किया है। कहाँ किया है इसका आप लोगोंने यह पता दिया है—

"मरणावस्थामें रसाभास समझकर बहुतेरे कविगन (?) मूर्छाही का वर्णन कर देते हैं......परन्तु बिहारीने मरणका ही वर्णन कर दिया है—

"कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननके ईस ।
विरह ज्वाल जरिबो लखे मरिबो भयो असीस ॥"

* * *

विहारी ने तो नहीं पर आपने इसमें मरणका वर्णन बतला-कर अपनी समझकी सीमाका व्यतिक्रम जरूर किया है, और समझदारोंको "सखुनफ़हमी मिश्रबन्धुवां मालूम शुद्" कहनेपर मजबूर किया है। इस दोहेमें मरणवर्णनका कहीं पता भी तो नहीं. यह आपलोगोंने बिलकुल बेपरकी उड़ायी है। महाराजगण ! यह "विरहनिवेदन" है "मरणनिवेदन" नहीं ! विरह ज्वालमें जलनेके साथ मरनेका 'कम्पेरीज़न' (तारतम्य या मिलान) किया गया है। मरनेके दुःखसे कहीं अधिक दुःख इस विरहवेदना-में बतानेसे तात्पर्य है। सखी कहती है कि हे प्राणोंके ईश हरि ! उसकी दशा क्या कहूँ, कुछ कही नहीं जाती। उसे विरह ज्वाला-में जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद)के समान है। यहां मरनेसे विरहज्वालाके जलनेमें, दुःखाधिक्य व्यङ्ग्य है। अर्थात् इस दशामें रहनेसे मरना कहीं अच्छा है।

"मृतेरप्यधिकं दुःखं तस्यास्तत्त्वं द्रुतं व्रज" इति भावः ।

* * *

"छूट जाये ग़मके हाथोंसे जो निकले दम कहीं ।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगीपर वह कहीं और तुम कहीं ॥"

× × ×

'बहुतेरे कविगन' (?) मूर्च्छाहीका नहीं स्पष्ट मरणका वर्णन भी कर देते हैं। देखिए मरणका वर्णन ऐसा होता है—

"कुसुमकार्मुककार्मुकसंहितद्रुतशिलीमुखखण्डितविग्रहाः ।
मरणमप्यपराः प्रतिपेदिरे किमु मुहुर्मुहुर्गतभर्तृकाः ॥
(माघ ६।१६।)

* * *

कादम्बरीमें बाणने एक बार नहीं कई बार, मरणका वर्णन किया है। पुण्डरीक, वैशम्पायन, चन्द्रापीड और शूद्रक इन सबके मरणका उल्लेख है।

उद्दीपन विभावके "दौरात्म्य" से मरे हुए किसी वसन्त पथिककी मृत्युकी 'तफ़तीश' "रोमल" "समिल" नामक दो कवियोंने—(जो मिश्रबन्धुओंकी तरह मिलकर कविता किया करते थे!)—इस प्रकार की है—

"नव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः।
आः ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैरारब्धकोलाहले,
नूनं साहसिकेन चूतमुकुले दृष्टिः समारोपिता॥"

× × ×

"निन्द्य भाव"

"बिहँसि बुलाय लगाय उर प्रौढ़ तिया रस घूमि,
पुलकि पसीजति पूतको प्यौचूम्यो मुँह चूमि।"

---

* किसी मुसाफिरकी लावारिस लाशको आमके वृक्षके पास पड़ी देखकर रोमल सोमल नामक दो कवि, उस पथिककी इस प्रकार अचानक मृत्युके कारणपर खड़े विचार कर रहे हैं कि यह कैसे मरा। यदि किसी बीमारीसे मरता तो लाश दुबली होती, पर ऐसा नहीं है, यदि किसी शस्त्रसे घायल होकर मरता तो कहीं खूनके धब्बे होते, वह भी नहीं, यदि किसी विषैले जन्तु सर्पादिके काटनेसे मरा होता तो मुँहसे लार टपकती, झाग आते, ऐसा भी नहीं, फिर यह मरा कैसे? ओः मालूम हुआ, इस आमकी मञ्जरीको जिसपर भौंरे गुंजार रहे हैं इसने नजर भरकर देखा है, इसीसे गरीबकी मौत हुई है।

"यहां पुत्रमें भी पतिभाव आ गया है, जो निन्द्य है ।"

(हिन्दी नवरत्न पृ० २३४)

इस दोहेके प्यालेमें श्रृंगार रस भरा छलक रहा है ।

विहँसना, और उर लगाना कायिक अनुभाव (अनुराग-व्यञ्जक चेष्टा) । "पूतको पियचूम्यो मुख" उद्दीपन विभाव । प्रौढ़ तिया. और (तरुण) पिय, आलम्बन विभाव । 'रस' (प्रीति, रति) स्थायी भाव । 'हर्ष' संचारी भाव । पुलकना पसीजना, 'सात्त्विक' भाव । सब एक जगह पास पास मौजूद हैं । 'पिय'की मौजूदगीमें 'पुत्रमें पतिभाव' कैसे आगया ज़रा सोचिये । इसमें कुछ भी निन्द्य नहीं है, सब स्तुत्य है । उद्दीपनता, प्रियके चूमे हुए मुखमें है । प्रियके मुखका उस मुखपर चुम्बनस्पर्श हुआ है, इस सम्बन्धसे-प्रियके मुखस्पर्शसम्बन्धसे-वह सात्त्विक भावका कारण हुआ है । प्रियसे सम्बन्ध रखनेवाले जड़ पदार्थ भी सात्त्विक भावके कारण होजाते हैं । जैसे—

"हित करि तुम पठयो लगे वा बिजनाकी बाय ।
टरी तपन तनकी तऊ चली पसीने न्हाय ॥ ३०३ ॥"

* * *

यहां व्यजनमें या व्यजनकी वायुमें "पतिभाव" नहीं आगया है । प्रियने वह पंखा भेजा है, इसलिये उसकी हवासे पसीना आ रहा है । सात्त्विक भाव हो रहा है । इसी प्रकार—

"गुड़ी उड़ी लखि लालकी अंगना आंगन माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरै छुवत छबीली छाँह ॥ २५५ ॥"

* * *

यहां भी 'गुड़ी' (पतंग)की छाँहमें 'पतिभाव" नहीं आगया है । इसी तरह—

"भेटत बनत न भावतौ चित तरसत अति प्यार।
धरति उठाय लगाय उर भूषन बसन हथ्यार॥"

* * *

यहां भी 'भूषन, बसन' और "हथियार"में पतिभाव नहीं आ गया है।

बालकका आलिंगन और चुम्बन, नायिकाओंके अनुरागेङ्गित-प्रकरणमें (वात्स्यायन कामसूत्रमें और साहित्य-ग्रन्थोंमें) उल्लिखित है। यथा—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम्॥"

(साहित्य-दर्पण।३।१२०)

इसीका उदाहरणस्वरूप विहारीका उक्त दोहा है—

सवैया

"पूरण प्रेम उमाहते प्यारी फिरै सब मांझ हिये हुलसाती,
पूतको आनन चूम्यो पिया तिय चूमत ताहि महारसमाती।
चाहि उतै मुसकाय बुलाय हिये सुख पाय लगावति छाती
गात पसीज रोमांचित होति भई अनुरागके रंगमें राती॥"

(कृष्णकवि)

× × ×

"नेचर निरीक्षणमें ग़लती"

"इनके नेचरनिरीक्षण (?) में केवल एक स्थानपर ग़लती समझ पड़ती है—

"पावस घन अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत लखि चकई चकवान॥"

* * *

"*परन्तु वर्षाऋतुमें चक्रवाक नहीं होते।* बहुतसे लोग

कष्टकल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, परन्तु हम उस अर्थको अग्राह्य मानते हैं।"

(हिन्दी नवरत्न, पृ० २२५)

नहीं महाशयगण! बन्धुगण! ऐसा न मानिये, ऐसा नहीं है। बिहारीके 'नेचर-निरीक्षण'में नहीं, हमें तो यहाँ आपकी समझ-में साफ़ ग़लती समझ पड़ती है। "वर्षामें चक्रवाक नहीं होते" यह आपने किससे सुना है? वर्षामें "चक्रवाक" क्या हो जाते हैं? क्या एकदम मर जाते हैं? आख़िर वह क्या हो जाते हैं? कहीं चले जाते हैं? या उनका उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है? आप लोग कहीं चक्रवाकका अर्थ 'हंस' तो नहीं समझ बैठे! (जिस प्रकार एक टीकाकार एक जगह रामायणमें "पिक"-का अर्थ "चातक कर गये हैं)—' वर्षामें चक्रवाक नहीं होते' इससे आपलोगोंका कहीं यह मतलब तो नहीं है कि वर्षामें कवि लोग चक्रवाकका वर्णन नहीं करते, इसलिये बिहारीका यह वर्णन 'कविसमयविरुद्ध' है। पर ऐसा भी नहीं है, कवि लोग वर्षामें चक्रवाकका वर्णन बराबर करते हैं। संस्कृतके कवियोंने भी ऐसा वर्णन किया है—

"अकालजलदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम्।
चक्रवाकयुगं रौति रजनीभयशंकया॥"

(सुभाषितावलि)

* * *

"घनतर-घनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके
सवितुरथ हिमांशोः संकथैव व्यरंसीत्।
विरहमनुभवन्ती संगमञ्चापि भर्त्रा
रजनि-दिवस-भेदं चक्रवाकी शशंस॥"

(सुभाषितरत्न-भाण्डागार)

* * *

पिछले पद्यका भाव विहारीके दोहेसे बिलकुल मिलता जुलता है।

वर्षामें चक्रवाककी स्थिति सिद्ध करनेके लिये विहारीके इस दोहेपर बहुतसे लोग तो क्या किसी एक 'लोग'को भी कष्टकल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है, फिर दोष निकालनेके लिये कष्टकल्पना करनेकी किसीको क्या ज़रूरत पड़ी है!

सुरतिमिश्रने अमरचन्द्रिकामें इस दोहेपर प्रश्नोत्तर, बेशक लिखा है। वह भी इसलिये नहीं कि वर्षामें चक्रवाक नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है कि—

"जब पावसके घने अन्धकारमें इतनी सघनता है कि रातमें और दिनमें कोई भेद ही नहीं समझ पड़ता, तो फिर चकवी चकवा कैसे दीख पड़ते हैं? जिन्हें देखकर रात दिनका भेद जाना जाता है। चकवी चकवा भी तो उस अन्धकारमें अदृष्ट रहने चाहिएँ।"

इसके समाधानमें अमरचन्द्रिकाकारने "लखि" पदका सम्बन्ध सम्बोध्य पुरुषके साथ जोड़ा है।

अर्थात् तुम देखो पावसके घने अन्धकारमें देखनेवालेको रात दिनका कुछ भेद नहीं सूझ पड़ता, "चकई चकवानि रात द्योस जान्यो परै"—चकवी और चकवाहीको यह भेद जान पड़ता है। जब दिन होता है तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी चकवा आपसमें मिलते हैं। जब रात होती है तो बिछुड़ते हैं।"

किसीने "लखि" पदका लाक्षणिक अर्थ सुनना किया है। अर्थात् चकवा चकवीका शब्द सुनकर रात्रि दिवसका भेद जाना जाता है, इसी अर्थके आधारपर उक्त दोहेपर कृष्णकविका यह सुन्दर सवैया है। और किसी प्रकारकी

"कष्टकल्पना" किसीने नहीं की। आशा है अब आप लोग भी इसे 'ग्राह्य' मानने लगेंगे।

"अम्बुद आनि दिसा बिदिसा सगरे तमहीको बितान सो तान्यो,
मेचक रंग बसे जगमें अति मोद हिये निसिचारिनि मान्यो।
पावसके घनके अँधियारमें भेद कछू न परै पहिचान्यो,
द्यौस निसाको विवेक सु तौ चकई चकवानके बोलतें जान्यौ॥"

× × ×

मेसर्स मिश्रबन्धु फिर फ़रमाते हैं—

"सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने गर्भवती नायिकाका वर्णन नहीं किया है, पर बिहारीने वह भी कहा है।"

"दृग थिरकौहैं अधखुले देह थकौहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियत दुखित गरभके भार॥"

(हिन्दी नवरत्न पृ० २३२)

* * *

जी नहीं, आप लोग कुछ भूलते हैं, सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने भी गर्भवती नायिकाका वर्णन किया है। "भी" को "वह" के आगेसे हटाकर "और लोगोंने" के सामने रखिए, अर्थात् "केवल बिहारीने ही नहीं और लोगोंने भी वह कहा है" ऐसा कहिए!

बाणने भी हर्षचरितमें और कादम्बरीमें ऐसा वर्णन किया है, और कालिदाससे अधिक किया है। हिन्दी कवि भी इस बारेमें एकदम चुप नहीं रहे हैं, महाकविराय सुन्दरने भी इसका वर्णन किया है। (१०६ पृष्ठपर सुन्दरका कवित्त देखिये) †

---

†इसके अतिरिक्त आप लोगोंने—(मेसर्स मिश्रबन्धुओंने)—बिहारी-पर और भी कुछ कृपा की है। बिहारीके "नेचरनिरीक्षणमें बहुधा अरुची-

रात्रिमें भ्रमरभ्रमण—

दोहा—अरी खरी सटपट परी विधु आधे मग हेरि।
संग लगे मधुपन लई भागन गली अँधेरि ॥१६२॥

* * *

सवैया—

"स्याम निसा सखि तैसोई साज सिंगारकै हौं पिय पास चली री,
त्यौं अधगैल उदोत भये ससि देखत मो मति सोच लगी री।
पंकज छाँड़ि सुगन्धके लोभ लगी संग भौंरनकी अवली री,
ताही समै मग भागनि आयकै छाय लई उन कुंज गली री॥"
(कृष्णकवि)

* * *

विहारीके उक्त दोहेमें (जिसकी व्याख्या कृष्णकविके इस सवैयामें है) कृष्णाभिसारिका रूपगर्विताका वर्णन है। इसमें रात्रिके समय भ्रमरभ्रमणकी चर्चा है, इसपर कोई 'रातमें भौंरोंका उड़ना कालविरुद्ध दूषण', समझकर आक्षेप करते सुने गये हैं। पर ऐसा समझना उचित नहीं है। रातमें भौंरोंका वर्णन कवि लोग बराबर करते हैं। जैसा नीचे उद्धृत तीन पद्योंके प्रमाणसे सिद्ध है।

माघके वर्णनमें—"प्रणदितालिनि" वाक्यमें—मधुके प्यालेपर भौंरे गुँजार रहे हैं। दूसरे पद्यमें चन्द्रमा माननीके मानको

कता और शोहदई मिली, बतलायी है, बिहारीकी भक्तिको वितण्डामात्र कहा है। उसे "कादर्यां"पनकी उपाधि दी है, गुण्डोंका सा चित्र बनाकर (हिन्दी नवरत्नमें) उनके चरित्रपर कलंककालिमा पोतनेकी गर्हणीय दुश्चेष्टा की है। इसका विचार बिहारीकी जीवनी लिखते समय किया जायगा।

मारनेके लिये खिलते हुए कुमुदके कोषसे 'अलिश्रेणि'की तलवार खींच रहा है। केशवदासके कवित्तमें भौंरोंकी भीड़ फाड़े खाती है—

(१)

"क्रान्तकान्त-वदन-प्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि *प्रणदितालिनि* शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥"

(माघ १० । ३)

* * *

(२)

"अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोषनिःसर*दलिश्रेणीकृपाणं* शशी ॥"

(साहित्यदर्पण ७म, परिच्छेद)

* * *

(३)

कवित्त—"दुरि है क्यों भूषन बसन दुति यौवनकी
देह ही की जोति होति द्योस ऐसी राति है.
नाहक सुबास लागे ह्वै है कैसी केसव,सु-
भावहीकी बास *भौंर भीर* फारे खाती है,
देखि तेरी सूरतिकी मूरति बिसूरति हौं
लालनके दृग देखिबेको ललचाति है,
चलि है क्यों चन्दमुखी कुचनको भार भये
कचनके भार तो लचक लंक जाति है ॥"

(केसव–रसिकप्रिया)

सतसई-संहार

सहृदय पाठकगण! यह बात अतिप्रसिद्ध है कि ब्रज-भाषाके साहित्यमें "विहारी-सतसई"का दर्जा बहुत ऊंचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट काव्य-गुणोंकी वह खान है, व्यङ्ग्य और ध्वनिका आकर है। संस्कृत-कवियोंमें कवि-कुल-गुरु भगवान् कालिदास जिस प्रकार शृंगार-रस-वर्णन, प्रसाद-गुण, उपमालङ्कारादिके कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, उसी-प्रकार हिन्दी-कवियोंमें श्रीयुत महाकवि विहारीलालजीका

इस ग्रन्थके १२ वें पृष्ठमें—(वक्तव्यमें)—निवेदन किया गया है कि संवत् १९६७ में लेखकको सतसईकी एक टीकापर समालोचना लिखनी पड़ी, जो " सतसईसंहार "शीर्षक लेखमालाके रूपमें सालभरतक प्रयागकी 'सरस्वती'में प्रकाशित होती रही" इत्यादि—

उक्त समालोच्य टीकाके कर्ता विद्यावारिधि पण्डित ज्वालाप्रसादजी मिश्र, दुःख है कि अब इस संसारमें नहीं हैं, फिर भी उनकी टीकाकी यह समालोचना (सतसईसंहार) जो इस पुस्तकके साथ प्रकाशित की जाती है, इनसे कोई यह न समझे कि लेखकको विद्यावारिधिजीसे कोई व्यक्तिगत विशेष द्वेष था, जो अब भी उनके पीछे पड़ा है। यह बात नहीं है। लेखकको विद्यावारिधिजीसे जो कुछ कहना सुनना था, वह उनकी उस कृतिके सम्बन्धमें था, जो अब भी ज्योंकी त्यों बनी है, जिससे कि आज भी सर्वसाधारणका भ्रममें पड़ना सम्भव है। इस कारण अनेक सहृदय समालोचनाप्रेमी माननीय मित्रोंके आग्रहपूर्ण अनुरोधसे विवश होकर "सतसईसंहार"को इस ग्रन्थमें सम्मिलित करना पड़ा है।

आसन सबसे ऊंचा है। शृङ्गाररस-वर्णन, पदविन्यास-चातुर्य्य, माधुर्य्य, अर्थगाम्भीर्य्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणोंमें वह अपना जोड़ नहीं रखते। ब्रजभाषाकी मधुरता तो जगत्प्रसिद्ध ही है, फिर उसमें विहारी-की कविता! "हेम्नः परमामोदः" सोना और सुगन्धका योग है! अथवा रत्नजटित स्वर्णके कटोरेमें मिसरीका शर्बत, नहीं, अमृतरस, भरा हुआ है, जिसका पान करते ही मन तन्मय होजाता है। आलङ्कारिकोंने जो काव्यरसको 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना है, उसकी सत्यताका साक्षी अन्तःकरण बन जाता है।

परन्तु बड़े खेद और दुर्भाग्यका विषय है कि कुछ अनधिकारी महापुरुषोंने उस कटोरेमें धूल और कीचड़ मिलाकर उसे दूषित और भ्रष्ट करनेका काम प्रारम्भ कर दिया है! इस सभ्यताकी सदीमें प्राचीन महाकवियोंके न जाने कौनसे दुष्कर्मोंका फल उन्हें मिल रहा है, जो इस प्रकार उनकी कविता-कामिनीपर बलात्कार किया जा रहा है! उनकी कीर्त्ति-चन्द्रिकामें कालिमा पोतनेके नित नये नये ढंग निकल रहे हैं! मानो आजकलके इसी करुणोत्पादक दृश्यको दिव्य-दृष्टि द्वारा देखकर कवि-तार्किक-शिरोमणि *श्रीवाचस्पतिमिश्र*, ऐसे महापुरुषोंसे यह हृदयद्रावक प्रार्थना कर गये हैं, वाचक वृन्द! ज़रा हृदय थामकर सुनिए—

"क्रूराः ! कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः*

कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम्।

---

*"हे क्रूर पुरुषो! हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि निरर्थक—असत्य वचनोंकी धूल बरसा बरसा कर, दूसरोंकी कीर्तिरूप नदियोंको

अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै-
र्मा माविलीकुरुत कीर्त्तिनदीः परेषाम् ।"

* * *

धन्य थे ऐसे उदार-हृदय महानुभाव, जो अपना शरीर देकर भी औरोंकी कीर्त्ति बचानेका प्रयत्न करते थे !

इस समय इस प्रकारके प्रयत्नकी और भी अधिक आवश्यकता है ।क्योंकि पूर्वकालमें किसीकी कीर्त्तिको कलङ्कित करनेके इतने सुलभ साधन कहां थे, जितने कि अब हैं ! इन साधनोंमें प्रेसको सबसे मुख्य समझना चाहिए । दूसरे देशोंमें योग्य मनुष्योंके हाथमें प्रेसका प्रबन्ध हानेसे उन देशों-को प्रेससे चाहे लाभ ही लाभ पहुँचा हो, परन्तु हमारे हत-भाग्य देशको इससे जहां थोड़ा बहुत लाभ पहुँचा है, वहां प्रायः हानि अधिक पहुँची है । इसीके द्वारा तो भ्रष्ट और अशुद्ध पुस्तकोंका प्रचार दिन दिन बढ़ रहा है! इसीके प्रसाद-से तो प्राचीन महाकवियोंके काव्योंकी कलङ्क-स्वरूप महा-अशुद्ध टीकाएं प्रचार पा रही हैं ! यन्त्रालयाध्यक्ष या तो अनभिज्ञतासे, या लोभान्ध होकर, साहित्यको भ्रष्ट करनेवाले इस अनर्थकी ओर ध्यान नहीं देते ।

सर्वसाधारणके धन तथा समयकी रक्षा करनेवाले *सत्समालोचकों*के अभाव अथवा मौनसे, यह व्यापार सांक्रामिक रोगकी तरह और भी तेज़ीसे बढ़ रहा है । इसके रोकनेके लिए एक अच्छे 'समालोचक पत्र'की आवश्यकता है, जिसमें

गदली मत करो । इसके बदले मैं अपना यह शरीर तुम्हारी भेट करता हूँ, जैसे चाहो इसपर प्रहार करो, काटो छांटो । इस प्रकार तुम्हारी बुरी वृत्ति भी चरितार्थ हो जायगी और, दूसरोंकी कीर्ति भी बच जायगी ।"

प्राचीन काव्योंपर निकलनेवाली दुष्ट टीकाओंकी अच्छे प्रकार समालोचना की जाया करे। पर यह हो कैसे! इस ओर लोगोंका ध्यान ही नहीं, यदि कोई किसी ऐसी पुस्तककी समुचित समालोचना करनेका साहस कर भी बैठे, तो समालोच्य विषयपर पक्षपातरहित होकर ध्यान देना तो एक ओर रहा, उलटा बेचारे समालोचकके ही पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं! हिन्दी-साहित्य-जगत्में इसके उदाहरणोंकी कमी नहीं है।

अस्तु। तथापि हमें यथाशक्ति प्राचीन कवियोंकी कीर्त्ति-रक्षाका उपाय करना चाहिए, उनकी प्राण-प्रिया कविताको अनधिकारियोंके बलात्कारसे बचानेका प्रयत्न करना चाहिए. फल ईश्वराधीन है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

पाठक महोदय! पण्डितराजकी यह उक्ति—

"नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते छिद्यन्ते चन्दनद्रुमाः॥"

* * *

आजकल, कालिदास और विहारीलालकी दशापर भली भांति चरितार्थ हो रही है। अन्य कवियोंको छोड़ कर, कुछ लोग इन्हीं दोके पीछे पड़े हैं।

बहुत लोगोंकी राय है कि "किसीकी कृतिमें दोषोद्घाटन करना बुरी बात है। मनुष्यका कोई काम सर्वथा निर्दोष हो ही नहीं सकता। इसलिए जिस प्रकार हंस पानीमेंसे दूध ग्रहण कर लेता है, वैसे ही मनुष्यको भी सारग्राही होना चाहिए।

अथवा—

"धावतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ॥"

अर्थात् दौड़ते हुए आदमीका कहींपर गिर जाना सम्भव है। वहां बुरे आदमी तो गिरनेवालेपर हँसने लगते हैं और अच्छे आदमी, उसे सँभालते हैं।

यह मत बहुत ठीक है, ऐसाही होना चाहिए। परन्तु जहां 'पानी'में दूध बिलकुल ही न हो, 'दूध'के स्थानमें 'सेलखड़ी' या 'खड़िया मिट्टी' घुली हुई हो, (जिससे दूधका भ्रम होता हो !) वहांसे हंस क्या ग्रहण करे ? और जो आदमी साफ सुथरी सड़कपर चलता हुआ भी बार बार पद पदपर ठोकरें खाकर मुहके बल गिरता है, उसे कोई कहांतक सँभाले ! उससे तो यही कहना पड़ेगा कि "भई ! पहले तुम अपना इलाज कराओ, टांगोंमें बल आने दो, फिर, चलनेकी कोशिश करना। तुममें चलने फिरने-तककी ताक़त तो है नहीं, और तुम आंख मींचकर दौड़ना चाहते हो, यह अच्छा नहीं करते।"

और यदि वह चलने फिरनेमें असमर्थ आदमी, किसी दूसरे पुरुषके ऐसे पात्रको जिसमें कि उस पात्रके स्वामी-का सर्वस्वभूत और सर्वोपयोगी कोई रसमय पदार्थ भरा हो, इस दौड़धूपमें लेकर गिर पड़े, तो इस दशामें वह स्वयं तो चोट खायगा ही, पर उस पदार्थको भी नष्ट भ्रष्ट कर देगा !

अर्थात् कोई मनुष्य यदि अपनी स्वतन्त्र-रचनामें किसी विशेष प्रकारकी त्रुटि रहने देता है, या भारी भारी अशुद्धियां करता है, तो इससे वह अधिकतर अपनी ही हानि करता

है। अपने ही ग्रन्थको अनुपादेय बनाता है, और अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करता है। परन्तु यही बात यदि किसी प्राचीन ग्रन्थकी टीका या अनुवादमें की जावे तो अनुवादक या टीकाकार अपनी अज्ञताका प्रकाश करनेके साथ साथ ग्रन्थकर्त्ताके नामको भी कलंक लगता है, उसे ऐसी पबलिकमें जो उससे अच्छी तरह वाक़िफ़ नहीं है, बदनाम करता है. और उसपरसे सर्वसाधारणकी श्रद्धाको कम करता है। क्या ऐसी अवस्थामें भी चुप ही रहना ठीक है?

"मनागनभ्या वृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी ।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ॥"

* * *

किसी पुस्तककी दस बीस साधारण अशुद्धियां क्षन्तव्य होसकती हैं, पर जो पुस्तक सब प्रकारके दोषोंसे "सर्वांगभूषित" हो और "सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट हो जाय" इस निमित्त सर्वसाधारणके उपयोगार्थ बनी हो, उसके गुण दोष, सर्वसाधारणपर अवश्य प्रकट होने चाहिएँ।

*सतसई*की वह टीका जिसपर हम इस समय कुछ लिखना चाहते हैं, खेद है कि इसी प्रकारकी है। उसमें दोहोंके अर्थों-

---

"जो क्षमाशील पुरुष है, वह कई बार थोड़ा थोड़ा अपराध करनेवालेको, या एक बार बहुतसा अपराध करनेवालेको, भले ही क्षमा करदे, पर बार बार और एकसे एक बढ़कर अपराध करनेवाले आदमीको कोई कहांतक क्षमा करे?"

का अनर्थ और भावोंका अभाव है। यद्यपि टीकाकार महाशय अलङ्कारोंका नाम नकल करते गये हैं, जिससे यह तो पता चल जाता है कि यहां अमुक अलङ्कार था, पर उन्हें इस प्रकार तोड़ा मोड़ा गया है कि उनकी सूरत नहीं पहचानी जाती!

"दिल चाक चाक करके मुझसे वह कह रहे हैं।
यह दिल अगर तेरा है पहचान सामने है॥"

* * *

'कौन किससे कह रहा है' अथवा किसका वर्णन है, इस अत्यन्त आवश्यक बातको, जिसे सब प्राचीन टीकाकारोंने लिखा है, और जिसके निर्देशकी 'सतसई' जैसे कोषात्मक काव्यकी टीकामें बड़ी ज़रूरत है, बिलकुल ही छोड़ दिया है। मूलपाठको भी शुद्ध नहीं रहने दिया। उसे भी बहुधा भ्रष्ट करके सन्निवेशित किया है। यह दशा दस पांच जगह नहीं, किन्तु प्रायः सब ग्रन्थमें आदिसे अन्ततक समानरूपसे वर्तमान है।

उसमें यदि कोई खूबी है तो यही है कि वह एक सुप्रसिद्ध यन्त्रालयमें, मोटे काग़ज़पर, सुपाठ्य अक्षरोंमें, छपी है। अकारादिक्रमसे दोहोंका सूचीपत्र भी उसमें है, और बस। हां, कहीं कहीं कोई कोई दोहा जो दुर्दशासे बच गया है, उसे भी *"अपदोषतैव विगुणस्य गुण:"*के अनुसार गुण मान सकते हैं। समालोच्य पुस्तकका पूरा पता देनेके लिए, हम उसके टाइटिल पेजको ही यहाँ नक़ल किये देते हैं। ज़रा ध्यानसे पढ़िए—

" बिहारी–सतसई ।

भावार्थप्रकाशिकाटीकासहित

जिसको

विद्वद्वृन्दशिरोमणि—विद्यावारिधि श्रीमत् पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रने अति ललित मधुर मुग्धटीकासे सर्वाङ्गभूषित किया है ।

वही

नायकाभेद–अलंकारवर्णनसमेत,

(प्रथमवार)

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानामें

मुद्रितकर प्रगट किया ।

कार्तिक संवत् १९६०, शके १८२५ "

पाठकवृन्द ! अघटनघटनापटीयसी भगवती भवितव्यता बड़ी प्रबल है ! आदमी सोचता कुछ है और हो कुछ जाता है ! वह एक सुन्दरीको 'अतिललित मधुर मुग्ध, 'अलंकारों'-से सर्वाङ्गभूषित करना चाहता है पर उलटा उसका सिर मूँडकर उसे अतिविकृताकार बना डालता है !

जिस प्रकार समुद्रमें पड़कर वाडव-ज्वालासे भागीरथीका सुधासे भी मधुर जल, खारी होजाता है, वही दशा विद्या-वारिधिजीकी ज्वालाके प्रसादसे विहारीकी अमृत-प्रवाहिणी कविता-तरङ्गिणीकी हो गयी है! कोई ऐसा आदमी जो विहारीकी कविताको मूलपर नहीं समझ सकता, या जिसने उसकी अन्यान्य टीकाएँ नहीं पढ़ी हैं, वह यदि विद्यावारिधिजीकी टीकाको पढ़कर अपनी राय क़ायम करना चाहे तो यही कहेगा कि—

"बहुत शोर सुनते थे पहलूमें दिलका,
जो चीरा तो एक क़तरए-खूं न निकला !"

" जिस सतसईकी इतनी प्रशंसा सुनते आते हैं, जिसपर इतने कवि विद्वानोंने टीकाएँ लिखी हैं, क्या वह यही सतसई है, जिसकी " अति ललित मधुर मुग्धटीका " हम 'विद्यावारिधिजीसे सुन रहे हैं।"

उस पुरुषकी यह धारणा ठीक उसी प्रकारकी होगी, जैसे कि कोई पुरुष, पण्डितराजकी गंगालहरीमें—

"सुधातः स्वादीयः सलिलभरमातृप्ति पिबतां,
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम्॥"—

इत्यादि वचन पढ़कर गंगोत्तरी, हृषीकेश आदि स्थानोंमें गंगाका दर्शन और जलपान न करके 'गंगासागर-संगम'-पर पहुँचकर गंगोदकके बारेमें अपनी राय क़ायम करे!

अन्य प्राचीन टीकाओंकी मौजूदगीमें इस अपूर्व टीकाकी क्या आवश्यकता थी, इसका कारण स्वयं विद्यावारिधिजीसे सुनिये। कहते हैं—

"परंतु इन टीकोंमें पद्य रचना विशेष और गद्यरचना न्यून होने-

से कठिनपर कठिनाई पड़नेसे वे सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं हुए हैं, और इसीकारण अतिरसीली होनेसे भी सतसई घर घर नहीं विराजती है, सर्वसाधारण की बुद्धिमें कविवर का आशय प्रगट होजाय इसी निमित्त सर्वसाधारणके उपयोगी भावार्थप्रकाशिका टीका निर्माण कर साथमें कठिन शब्दोंके अर्थ अलंकारादि लक्षण पर और स्वनिर्मित दोहोंमें लिख कर पुनरुक्तिसे उसका विस्तार नहीं किया है, और विभाव अनुभावादि का उल्लेखमात्र करके उसके समझनेके निमित्त "साहित्य परिचय" नामका एक पृथक् प्रबन्ध लिखा है, भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो इसपर विशेष दृष्टि रक्खी है,......"साहित्य-परिचयसे काव्यलक्षण रसनिरूपण नायकाभेद अलंकारादिका ज्ञान पाठकोंको सहजमें हो जायगा"........."परन्तु भावार्थ अक्षरार्थ जानने लिए पाठकों को यह अति उपयोगी होगा ऐसी मुझे दृढ़ आशा है........" (भूमिका)

यह तो आगे चलकर मालूम होगा कि आपके टीके(?)से कविवरका आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें किस प्रकार प्रकट हुआ है! अथवा और गुम हुआ है, पर एक आपने बड़ी ही दया की, जो "स्वनिर्मित दोहे लिखकर पुनरुक्तिसे उसका विस्तार नहीं किया"! महाराज! आपकी तो गद्य-हिन्दी ही नहीं समझी जाती, फिर आपके 'स्वनिर्मित' दोहे कौन समझता? न मालूम उनके लिए कितने टीकों (?) की ज़रूरत होती! अब भी आप अच्छे समझे, "जो कठिन पर कठिनाई नहीं डाली"! यह वाक्य लिखकर आपने लोगोंके एक बड़े भारी भ्रमको दूर कर दिया। सम्भव था कि कोई यह समझ बैठता कि आप पद्यमें टीका नहीं लिख सकते, इसलिए गद्यमें लिखी है। सो अब लोग जान गये कि यह बात नहीं, कि आप

पद्य नहीं लिख सकते, किन्तु सर्वसाधारणपर दया करके ऐसा नहीं किया। इसके लिए आपको बहुत बहुत धन्यवाद है।

अच्छा, अब ज़रा सावधान होकर, विद्यावारिधिजीका "साहित्य-परिचय" सुन लीजिये। कहते हैं—

"सतसई में साहित्य विषयक जो वर्णन आया है उसको संक्षेपसे वर्णन करते हैं साहित्य दर्पणमें 'वाक्यरसात्मककाव्यम्' और काव्यप्रकाश में "तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंकृति: पुन: क्वापीति" और रसरहस्यके कवि कहते हैं।

जगते अद्भुत सुखसदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।

....

......इसमें जगत्में अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कारकाही नाम काव्य कथन हुआहै, ..."

ज़रा ठहरिये, इतनी जल्दी एक सांस पाठ कर जानेसे सर्वसाधारण न समझ सकेंगे। पहले यह बताइये कि श्रीमान्ने यह दो संस्कृत-वाक्य क्यों उद्धृत किये थे? इनसे क्या अपराध हुआ जो आपने इनकी बाततक न पूछी? सर्वसाधारण इसका कुछ अर्थ न समझे! कहीं यह बात प्रकट करनेके लिए ही तो इन्हें तकलीफ़ नहीं दी गयी कि जिससे सर्वसाधारण जान जायँ कि आपकी पहुँच 'साहित्यदर्पण" और 'काव्यप्रकाश'तक है? अस्तु। महाराजजी! *'वाक्यरसात्मककाव्यम्'* यह वाक्य कौनसे 'साहित्यदर्पण'में है? विश्वनाथवाले साहित्यदर्पणमें तो "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह पाठ है! सम्भव है, आपकी पुस्तकमें वैसा ही पाठ रहा हो, तब *'वाक्यरसात्मककाव्यम्'* इस 'समस्त-पद'का अर्थ क्या होगा ?

और "*तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंक्वतिः पुनः क्वापीति*।" ×
इसमें "*तददोषै*" (?)का सम्बन्ध किसके साथ है ? तथा
"*सगुणवनलंक्वतिः*" (?) क्या चीज़ है? कृपा करके कुछ बतलाइये
तो? "*जिस कवितामें रस सुख लोकोत्तर चमत्कारहै वही
काव्य कहाताहै*" आपके इस लोकोत्तर वाक्यसे जाना
जाता है कि 'कविता' और 'काव्य'में कुछ भेद ज़रूर है, सो
आप ही जानते होंगे।

पाठकगण! 'साहित्य-परिचय'में आगे चलकर जो दोहे
लिखे हैं, वे टीकाकारके अपने तो हैं नहीं, क्योंकि वह स्वयं
अपने दोहे न लिखनेका कारण बतला चुके हैं, पर आपने
यह भी नहीं लिखा कि वे कहांसे लिये गये हैं। इसके अति-
रिक्त जो कुछ है वह प्रायः 'साहित्यदर्पण'के कुछ श्लोकोंका
अतिदूषित अनुवाद है। कहीं कहीं आपने अपनी ओरसे
भी कुछ कुछ बढ़ाया है। '*साहित्यदर्पण*'का नाम लेनेकी
आपने ज़रूरत नहीं समझी। ऐसी दशामें यह अच्छा ही
हुआ, नाम ले देनेसे साहित्यदर्पणकी कौनसी इज्ज़त बढ़
जाती! उसे और लज्जित ही होना पड़ता! "*वाक्यरसात्मकका-
व्यम्*"की दुर्दशापर ही उसे अफ़सोस है, कि ऐसी दशामें
उसे क्यों बदनाम किया गया! अस्तु। रसोंका कुछ नीरस
हाल लिख कर आप फ़र्माते हैं—

"इसके आगे काव्यकी ध्वनि व्यंजना लक्षण (?) का विस्तार
होता है परन्तु हम सतसईमात्रका विषय संक्षेपसे दिखाते हैं"
(सा० प० पृ० २४)

× यह राख, मिश्र-महोदयकी प्रमाद-ज्वालामें जले हुए इस
स्वर्गवासी वाक्य की है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"

फिर इससे आगे चलकर ३०वें पृष्ठपर लिखते हैं—

"इसके आगे ध्वनि अर्थ लक्ष्य व्यंजना आदिके अनेक विषय चलते हैं परन्तु यहां अब प्रयोजनीय अलंकार विषय कहते हैं ।"

चलते होंगे, आपके रामको इससे क्या प्रयोजन ! उधर न देखिए, अंगूर खट्टे हैं ! आप 'सतसईमात्र'का विषय संक्षेपसे दिखाइए। आपने तो ध्वनि आदिका नाम लेकर उनकी याद भी व्यर्थ दिलाई। अब जब कि आप ज़िक्र छेड़ ही बैठे तो बातपर बात याद आगयी। क्यों महाराज ! 'सतसई-मात्र में "ध्वनि, व्यञ्जना या लक्षणाका पता नहीं ? अर्थात् अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, ये शब्दकी तीनों शक्तियां, और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य, ये तीन प्रकारके अर्थ, सतसईमें नहीं हैं ? इसीलिये आपने अपने 'साहित्यपरिचय'में (जो 'सतसईमात्र'का विषय समझानेके लिये लिखा गया है !) इनको स्थान नहीं दिया ? फिर उसमें और है क्या ? ब्रजभाषाके जाननेवाले बड़े बड़े विद्वान् तो कहते हैं कि सतसई अत्युत्कृष्ट काव्य है। और काव्यके दो ही उत्तम भेद हैं, जैसा कि साहित्य-दर्पणकार, लिखते हैं—

"काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यञ्चेति द्विधा मतम् ।"

आप 'ध्वनि' आदिको 'सतसईमात्र'का विषय ही नहीं बतलाते, इससे उसकी काव्यता भी गयी ! आपने अपनी इस प्रतिज्ञाको टीकामें खूब निबाहा है। चाहिए भी ऐसा ही। आदमी जो बात कहे, उसे साङ्गोपांग पूरी उतार दे। आपकी टीका पढ़नेसे यही प्रतीत होता है कि सतसईमें ध्वनि आदि कुछ नहीं। इस दशामें यदि कोई आपसे कुछ कहने लगे तो आप कह सकते हैं कि "भई! तुम पहले मेरी टीका आद्योपान्त पढ़ जावो। उसमें यदि कहीं भी ध्वनि आदिका गन्ध तुम्हें

मिल जाय, तब मुझसे कहना ! सतसईको मैं जैसा समझता हूँ वैसी ही उसकी टीका की है, लोगोंकी रायका मैं ज़िम्मेदार नहीं, वह उसे कैसा ही समझा करें" ठीक है, बस हम भी चुप हैं।

अच्छा, अब साहित्य-परिचय सुनिए। २६ पृष्ठपर नायिकाओंका भेद बतलाते हुए विद्यावारिधिजी आज्ञा करते हैं–

"और अधीरा कठोर वचन कहती है यह सबमें लगालेना"।

बहुत अच्छा, जो आज्ञा, सबमें लगा लेंगे। "अर्थात् धीरा कठोर वचन कहती है, अधीरा कठोर बचन कहती है, धीराधीरा कठोर वचन कहती है, कहांतक गिनावें नायिकामात्र कठोर वचन कहती है. कठोरवादिता उनका स्वाभाविक गुण है, वह उनसे किसी प्रकार, किसी अवस्थामें दूर नहीं हो सकता !" क्यों महाराज ! इसी प्रकार लगा लें न ?

"प्रगल्भा याद धीरा होती है तो क्राध छिपा कर बहुत आदर दिखाती है"

आपके इस वाक्यमें भी वह लगा लें ? तब तो यों कहना होगा—"प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है, कठोर वचन कहतो है" ! पर यदि कोई इसका अर्थ पूछने लगे तो क्या कहा जाय ? कठोर वचन कहकर आदर कैसे दिखाया जाता है ? ख़ैर कुछ चिन्ता नहीं. कह देंगे कि विद्यावारिधिजीकी ऐसी ही आज्ञा है –

"अविद्यावारिधीयन्तु भवाति यथान्यासमेवास्तु ।"

× × ×

"स्वाधान-भर्तृका" का विलक्षण लक्षण सुनिये—

"जो अपने स्वामीके सदा प्रेममें आधीन रहे यह स्वाधीन-भर्तृका।" (सा० प० पृ० २७)

यह लक्षण किस साहित्यमें लिखा है ? ज़रा इस शब्द-

की व्युत्पत्तिपर तो ध्यान दीजिए। विश्वनाथजीसे तो पूछिए वह क्या कहते हैं —

"कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदान्तिकम्।

विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ॥"

अर्थात् रतिगुणाकृष्ट कान्त जिसके पाससे न टले, वह 'स्वाधीनभर्तृका' है। आपकी बोलीमें 'जिसके प्रेमके आधीन (?) सदा स्वामी रहे वह। (स्वाधीनो भर्त्ता यस्याः सा, 'नद्यृतश्चेति कप्)

'प्रोषितभर्तृका' का लक्षण भी सुनने लायक है—'जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो *उसकी* कामार्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है" '*उसकी*' किसकी ? जिस (पुरुष)का पति कार्यवश परदेश गया हो (वह स्वयं घरपर ही मौजूद हो ?) उस पुरुषकी स्त्री प्रोषितभर्तृका, अथवा जिस (स्त्री)का पति परदेश गया हो उस (स्त्री)की-(वह स्वयं नहीं किन्तु उसकी स्त्री !!) कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है !! तीसरी तरह आपकी इस 'उसकी'की खपत हो नहीं सकती !

विद्यावारिधिजी ! यह आप किस लोककी रीतिका वर्णन कर रहे हैं ? इस लोकमें तो *पतिका पति*, या *स्त्रीकी स्त्री*, होते नहीं ! ! !

पाठकवृन्द ! "जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो, वह कामार्त्ता स्त्री "प्रोषितभर्तृका" कहाती है।"

इस सीधी सी बातको अपनी अपूर्व शब्दस्थापना द्वारा विद्यावारिधिजीने कैसा जटिल बना दिया ! आपको आशा है कि यह विहारीके काव्यका ठीक अर्थ करेंगे !

× × ×

अच्छा, अब भाव आदि का भी कुछ कुछ भाव विद्यावारिधिजीसे सुन लीजिए—

"भाव—निर्विकारात्मक चित्तमें पहला विकार (विभाव ?) भ्रूनेत्रादि के विकारसे सम्भोगकी इच्छा प्रगट करनी थोड़ा संलक्ष्यका विकार हाव है। खेलादिके अत्यन्त प्रगट विकारका नाम हेला है।"

वाचकमहोदय ! इन लक्षणोंका भाव आप समझे ? विकार और भ्रूनेत्रके बीचों बीच, ब्रैकिटके बरान्डेके अन्दर जो यह 'विभाव देव' विराजमान हैं, यह बेचारे किसके यहां महमान हैं ? और यह "खेलादिका अत्यन्त प्रगट विकार" क्या बला है ? साहित्यदर्पणमें तो—

"हेलात्यन्तसमालक्ष्य-विकारः स्यात् स एव तु ।"

अर्थात् जिसमें विकारके चिह्न अतिस्पष्ट प्रतीत होने लगें ऐसा भाव ही "हेला" कहलाता है। इसमें खेल कूदका कहीं नाम भी नहीं। "लीला"का ललित लक्षण सुनिए—

"अंगवेष अलंकार धारणपूर्वक प्रीतियुक्त प्रेमभरे वचन कह कर प्रियकी अनुकृतिका नाम लीला है।"

क्या बात हुई ? 'अङ्गवेष अलङ्कार धारणपूर्वक' इसका क्या अर्थ हुआ? 'अङ्गधारणपूर्वक, वेषधारणपूर्वक इत्यादि, यही अर्थ होगा न ? पर 'वेषधारण, अलंकारधारण' का तो कुछ अर्थ हो भी जायगा, इस 'अंगधारण' का क्या होगा ? और प्रीतियुक्त प्रेमभरे वचन कह कर' यहाँ प्रीति और प्रेममें क्या भेद है ? पाठक ! यह अपूर्व लीलामयी व्याख्या साहित्यदर्पणके जिस श्लोककी है, वह यह है—

"अंगैर्वेषैरलंकारैः प्रेमाभिर्वचनैरपि ।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः॥"

× × ×

अब 'विलास' की बारी (शामत) आयी—

"इष्टके देखनेसे यान, स्थान, आसनादि तथा मुखनेत्रादि-की विशेष विचित्रताका नाम विलास है।"

कैसा अच्छा लक्षण है! इष्ट, यान, आसन, स्थान, इन पदोंका अर्थ लिखनेकी आपने ज़रूरत नहीं समझी! "इष्ट" वस्तु अनेक प्रकारकी होती है। यथा–धन, विद्या, स्त्री, पुत्र आदि। इसी प्रकार "यान" भी व्योमयान, धूमयान आदि भेदसे अनेक प्रकारका होता है। 'स्थान'के भी कई अर्थ हैं, यथा कण्ठताल्वादि, गृह आदि। रहा आसन, सो वह भी कुशासन, ऊर्णासन, पीठासन, तथा वीरासन, उग्रासन और सिंहासन आदि अनेक भेदोंमें विभक्त है!

साहित्यदर्पणके जिस श्लोकका यह 'सरस' अनुवाद वारिधिजीने किया है, वह इस प्रकार है—

"यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासस्स्यादिष्टसन्दर्शनादिना॥"

अर्थात् प्रियको देखने आदिसे, (प्रियाके) चलने, खड़े होने, और बैठनेमें, तथा मुखनेत्रादिकी क्रियामें कुछ विशेषता—तबदीली—आजाय इसका नाम "विलास" है।

× × ×

"मोट्टायित" का लक्षण सुनिए—

"प्रीतमकी कथादिमें भाव रखकर कान आदिके खुजाते जानेका नाम मोट्टायित है"।

अर्थात् विद्यावारिधिजीके मतसे इस भाव (मोट्टायित)में "कान आदिका खुजाते जाना" लाज़मी शर्त्त है, मोट्टायितका प्रधान लक्षण है! परन्तु सतसईके २५१ वें दोहेकी चोटीपर

विद्यावारिधिजीने स्वयं "मोट्टायितहाववर्णन" लिखा है, उसमें इस 'कान खुजाते जाना' का पता नहीं, देखिए—

"सकुचि सरकि पिय निकट तैं, मुलकि कछुक तन तोरि ।
कर आँचरकी ओट कर जमुहानी मुख मोरि ॥"

इसके अतिरिक्त शिवराम-त्रिपाठिकृत "रस-रत्नहार"में मोट्टायितके उदाहरणमें "नवसाहसाङ्कचरित"का यह सुन्दर श्लोक दिया है—

"चित्रवर्त्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥"

* * *

इसमें भी 'कान आदि खुजाते जाना' नहीं आया। विश्वनाथने भी "कर्णकण्डूयनादिकम्" लिखा है, अर्थात् कान खुजाना आदि ।

× × ×

"कुट्टमित" का सिर अनर्थके मूसलसे किस प्रकार कूटा गया है, सो देखिए—

'प्रीतमके केश स्तन अधरादिके स्पर्श करनेसे जो सम्भ्रमसे हाथ पैरका विधूनन है, उसको कुट्टमित कहते हैं।' (२९ पृ०)

"प्रीतमके केश स्तन.............." यह आप क्या कह गये ? खूब, "पुंस्त्वेव योषिद्भ्रमः" ! आपकी पदविन्यास-चातुरीकी बलिहारी ! !

"शिरःकरविधूननम्"—' सिर और हाथका हिलाना 'की जगह आप लिखते हैं "हाथ पैरका विधूनन", 'शिरः'का (अर्थ) आपने "पैर" कर दिया ! और 'विधूनन'को ज्योंका त्यों ही रहने दिया ! परन्तु यह न सोचा कि "हाथ पैर हिलाना"

हिन्दीमें, उद्योग करनेको कहते हैं, और केवल 'हाथ हिलाना' या 'सिर हिलाना' अनिच्छाद्योतक क्रिया है।

× × ×

अच्छा आगे सुनिए—

"मुग्धा कन्या केवल देखती है, बहुत पूछनेसे कुछ कहती है।"

केवल देखती है? और कुछ नहीं करती? सुनती भी नहीं? और कान भी नहीं खुजाती क्या? यह 'मुग्धा कन्या' क्या बात? देखती है कहती है, इन एकवचनात्मक क्रियाओंसे मालूम होता है कि 'मुग्धा'को आपने कन्याका विशेषण ही माना है, तब तो श्रीमान्के मतमें 'प्रौढा कन्या' भी होती होगी? इसीलिए तो कन्याके साथ 'मुग्धा' विशेषण लगानेकी ज़रुरत हुई! पर साहित्यदर्पणके ३य, परिच्छेदकी ११२वीं, कारिकाकी उत्थानिकामें "अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि" यह लिखा है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मुग्धा' और 'कन्या' भिन्न हैं। क्योंकि 'मुग्धात्व' 'नवोढ़ा'में भी होता है, केवल कन्यामें ही नहीं।

× × ×

दूतीका लक्षण सुनिए—

"·········भक्तिमान् (?) तत्वज्ञाता (?) स्मृतिवान् (?) मधुरभाषी (?)······दूती होनी चाहिए।"

सो तो ठीक है, पर स्त्रीलिङ्ग दूती शब्दके विशेषणात्मक ये शब्द भी इस प्रकार होने चाहिएँ—भक्तिमती, तत्त्वज्ञा, या 'तत्त्वज्ञात्री स्मृतिमती, मधुरभाषिणी इत्यादि। आगे जैसी आपकी आज्ञा।

× × +

अच्छा, अब सिर्फ "विदग्धा (?) अनुप्रास" और "वृत्त्य-नुप्रास" का लक्षण आपके साहित्यपरिचयमेंसे और सुन लीजिए—

जहाँ बहुतसे वर्ण एकबार फिर आवैं वह "विदग्धा अनुप्रास है"
"अनेक व्यंजनका एकधास्वरूपसे वा बारंबार अनेक प्रकार क्रमसे एक व्यंजनका बारबार समभावसे जो वर्तना है उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं"।

ज़रूर कहते होंगे, पर आपकी स्पेशलट्रेनकी धड़धड़ाहटमें कुछ समझ नहीं पड़ता कि आप क्या कह रहे हैं और क्या कह गये !!

× × ×

विद्यावारिधिजी भूमिकामें लिखते हैं कि "टीका करते समय हमने कई सतसई सन्मुख रक्खीं।" परन्तु आपकी टीका पढ़कर मालूम होता है कि आपका यह वाक्य या तो उस परिपाटीको देखकर लिखा गया है, जो प्रायः आजकलके टीकाकार, संशोधक और ग्रन्थसम्पादकोंमें पड़ गयी है कि किसी पुस्तककी टीकाके या संशोधन और सम्पादनके समय चाहे उन्होंने एक ही प्रति उस ग्रन्थकी देखी हो, पर अपनी बहुदर्शिता दिखलानेको "यह पुस्तक लिखते या सम्पादन करते समय हमने अनेक पुस्तकें सामने रक्खी थीं" इत्यादि लिख देते हैं, और यदि बहुत सी पुस्तकें वास्तवमें आपने सम्मुख रक्खीं तो वह सब रस्म अदा करनेके तौरपर सिर्फ सामने रक्खी ही रहीं, उनसे लाभ उठाने या उन्हें समझनेकी आपने ज़रा भी कोशिश नहीं की, या समझ ही नहीं सके। अन्यथा सतसईकी यह दुर्दशा न होती। यह पिछली बात (न समझ सकनेकी) ही कुछ ठीक प्रतीत होती है, क्योंकि सतसईकी अन्य बहुतसी टीकाएँ, चाहे आपने सामने न भी रक्खी हों पर इसमें तो

ज़रा सन्देह नहीं कि 'लालचन्द्रिका' आपने ज़रूर सामने रक्खी और उसीको देख देखकर अपनी टीका रची। इस बातका प्रमाण आपकी टीकामें स्थान स्थानपर मिलता है। प्रत्येक दोहेकी टीकामें "अलङ्कारोंके नाम" और कहीं कहीं जो "दोहे" लिखे गये हैं, यह सब 'लालचन्द्रिका'से ही लिया गया है। कहीं कहींपर उसकी इबारततक ज्योंकी त्यों नक़ल कर दी है। पर इस बातको आपने कहीं स्वीकार नहीं किया। जो अवश्य कर्त्तव्य था।

"अन्य-वर्ण-परावृत्त्या बन्ध-चिह्ननिगूहनैः ।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥" (बाणभट्ट)

× × ×

यद्यपि विद्यावारिधिजीने प्रायः प्रत्येक दोहेकी टीकामें कुछ न कुछ कारस्तानी दिखलायी है, तथापि प्रबन्ध बढ़ जानेके भयसे हम कुछ ही दोहोंकी टीकापर लिखेंगे। हम अपनी इस समालोचनामें सतसईका मूलपाठ वही रक्खेंगे, जो विद्यावारिधिजीने अपनी टीकामें रक्खा है। विद्यावारिधिजीने मूलपाठपर भी खूब हाथ साफ़ किया है, जहाँ तहाँ उसके सौष्ठवका मूलोच्छेद कर डाला है। इसलिए सहृदय पाठकोंको यह बात खटकेगी ज़रूर कि ऐसा अशुद्ध पाठ क्यों रक्खा गया। पर हमें यत्र तत्र उसपर भी कुछ कहना है, अतः यही उचित समझा गया। अच्छा, अब ज़रा टीका भी सुनिए—

"मोर मुकुट की चन्द्रिका (?) यों राजत नँदनंद ।
मनु शशिशेखरको (?) अकस, किय शेखर शतचंद ॥१॥"

* * *

"मोरपंखके मुकुट धारण किये उस मोरपंखकी चन्द्राकार रेखा से 'नंदसुवन' इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानों

(शशिशेखर) शिवजीके 'मन' (?) की अकस 'वैमनस्यता' (?) विचारकर कृष्णने अपने शिरपर सौ चन्द्रमा धारण किये हैं।" ...... । (पृ० ३) *

'नँदनन्द'का अर्थ आपने 'नन्दसुवन' किया है, इससे तो 'नँदनन्द' ही बहुत सुगम है। यदि 'नन्दको ढोटा' लिख देते तो आपकी व्रजभाषाप्रवीणता और भी प्रकट हो जाती ! 'सुवन' शब्द पुत्रके अर्थमें आज कलकी हिन्दीमें नहीं आता, व्रजभाषामें भी यह शब्द प्रायः पद्यमें ही आता है। इसीका नाम है 'मघवा मूल बिडौजा टीका"।

मूलमें जो उत्प्रेक्षाव्यञ्जक "मनु" शब्द आया है, उसे आपने दो जगह घसीटा है। एक जगह उसका अर्थ 'शिवजी-का मन' कर डाला है। जो एकदम व्यर्थ है। 'शिवजीके मन-की वैमनस्यता' (?) × विचारनेकी क्या आवश्यकता थी ? यदि उसे "वैमनस्यता" कह सकें तो वह मुद्दत पहले कार्य्यमें परिणत हो चुकी थी, जब कि उन्होंने कामको भस्म कर दिया था, "वैमनस्यता" मनमें थोड़े ही छिपी रह गयी थी, और फिर शिवजी तो योगिराज हैं, वह किसीसे मनमें "वैम-नस्यता" क्यों रखते ? आपने 'मन' 'विचार कर' मूलके किन शब्दोंका अर्थ किया है ? 'मनु' 'जनु' 'मनो' 'मानो' ये तो उत्प्रे-क्षाव्यञ्जक शब्द हैं ! यदि 'मनु' पद "शशिशेखरको" के आगे धरा होता तब आपकी कल्पना या भ्रान्तिके लिए कुछ अव-

---

* विद्यावारिधीजीके पाठमें चिन्तनीय पदोंपर " " (?) इत्यादि चिह्न सर्वत्र समालोचककी ओरसे समझे जायँ।

× यहां भाववाचक एक प्रत्ययकी और कसर रह गयी, 'त्व' और जोड़कर *"वैमनस्यतात्व"* रखते तो और अधिक सुन्दर हो जाता !

लम्ब हो भी सकता। मूलपाठमें भी आपने दो जगह कतर-ब्योंत की है। 'ससिसेखरकी अकस' के स्थानमें '......को अकस' बना डाला। 'अकस'को यदि आप पुंल्लिङ्ग ही मानें तो भी '.........के अकस' ऐसा होना चाहिए था '......को अकस' तो नितान्त अशुद्ध है। 'चन्द्रिकन' की जगह 'चन्द्रिका' कर दिया। दोनोंमें जो भेद है उसे सहृदय काव्यरसज्ञ आसानी-से समझ सकते हैं। आपके ये पाठान्तर सब प्राचीन टीका-ओंके विरुद्ध हैं। आप टीका करने बैठे हैं या मूलको भी बिगाड़ने? बाज़ आये ऐसी टीकासे।

× × ×

२—मकराकृत गोपालके, कुंडल सोहत कान।
बस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढी लसत निशान ॥४॥

"मकरके आकारके कुंडल श्रीकृष्णके कानमें इस प्रकार शोभित होते हैं, मानों इनके हृदयरूपी भवनमें काम (स्मर) प्रवेश कर गया है "निशानरूपी द्वारपाल" बाहर ड्योढी-पर शोभा देते हैं"। ...... (पृ० ३)

देखा आपने! कैसा 'निशानरूपी द्वारपाल' ड्यौढ़ीपर बिठलाया है! धन्य महात्मन्! इस अपूर्व अर्थको सुनकर विहारीलालकी आत्मा भी स्वर्गमें फड़क उठी होगी! जो ख़ास बात इस दोहेमें थी उसीको आपने धूलमें मिला दिया!

और 'निसान'का "निशान" बनाकर ब्रजभाषाकी शानको बट्टा लगा दिया! 'शीन'के शड़ाकोंका आपको बहुत शौक़ है।

मकरकी आकृतिवाले कुण्डलोंपर उत्प्रेक्षा है कि मानो स्मरदेव हृदयरूप अपने मन्दिरमें प्रविष्ट हो गये हैं और अपनी ध्वजा 'निशान' बाहर—हृदय मन्दिरकी ड्यौढ़ीपर—छोड़ गये हैं। कामका नाम 'मनसिज' और 'मकरध्वज' भी है। काम

के ये दो नाम, और कुण्डलोंकी 'मकराकृति' यही इस अपूर्व उत्प्रेक्षाकी जड़ हैं।

× × ×

३—छुटी न शिशुताकी झलक, झलक्यो यौवन अंग।

दीपति देह दुहूँन मिलि, दिपति ताफता रंग ॥१७॥

इस पर 'अति ललित' 'मधुर' टीका करते हुए अन्तमें विद्यावारिधिजी फ़रमाते हैं "यह जयपुरी है" (पृ० ६) इस बातको आप पहले भी कविका जीवन-चरित्र लिखते हुए, पृष्ठ १२ में, कह आये हैं, यथा—

"........इनके काव्यमें जयपुरके दृश्यके अनेक दोहे पाये जाते हैं, यथा—(फीको परै न वर फटै रँगो लोह रँग चीर (?) (मनहुताफता कीन ?) इत्यादि अनेक वार्त्ता मूल ग्रन्थमें देखने से मिलैंगी"।

अबतक जयपुरके द्रष्टव्य पदार्थोंकी सूचीमें, 'रामनिवास बाग, 'अजायबघर, 'चिड़ियाघर, 'पुस्तकालय' आदि चीज़ें ही प्रसिद्ध थीं, अब विद्यावारिधीजीने एक और "जयपुरी दृश्य"का पता दिया है, जिसका वर्णन आजतक किसी यात्री-ने अपनी यात्राके वर्णनमें या वहाँके किसी निवासीने कभी नहीं किया था! 'जयपुरविहार'के कर्त्ताने भी इसका उल्लेख अपनी पुस्तकमें नहीं किया। कितनी भारी भूल की है! आशा है, द्वितीयावृत्तिमें वह इस कमीको पूरा कर देंगे, और जयपुरकी यात्रा करनेवाले अन्य महाशय भी आगेसे इस बातका ध्यान रक्खेंगे। उनमेंसे यदि कोई सज्जन अपनी यात्राका वर्णन किसी पत्रमें प्रकाशित करें तो इस 'जयपुरी दृश्य' को देखकर इसके विषयमें सविस्तर लिखें, जिससे अन्य यात्रियोंको उसके देखनेमें सुगमता हो।

यह सुनकर हमारे पास बैठे हुए एक मित्र बोले कि "इस दृश्यको देखनेके लिए जयपुर जानेकी क्या ज़रूरत है? यह दृश्य तो मुरादाबादमें भी मिल सकता है? इसमें ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसपर Made in Jaypore की मोहर हो और वहीं मिलती हो। इस दोहेके 'उपमेय' और 'उपमान' प्रायः उन सब स्थानोंमें मिल सकते हैं जहाँ कि मानव सृष्टि बसती है और बज़ाज़ोंकी दुकानें हैं।"

इसपर हमने अपने मित्रसे प्रार्थना की, चाहे आपका ही कहना सत्य हो पर "विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्"के अनुसार हम विद्यावारिधिजीहीकी बातको तरजीह देंगे, क्योंकि वह हमसे परे—दूर—हैं, और आप हमारे पास बैठे हैं। पाठकोंको अधिकार है कि वे इन दोनों बातोंमेंसे चाहे जिसको ठीक मानें।

× × ×

४—करे चाहसों चुटकिकै, खरे उडोहै मैन।*
लाज नवाये तरफरत, करत खूँदसी नैन ॥ २२ ॥

* * *

"मैंने (?) अर्थात् कामदेवने चाहसे चुटकाकर उड़ते वा उठते हुयेसे खडे किये, लज्जाके नवाये पर खुरीसी करते हुए नेत्र तडफडाते हैं। इसमें नेत्रोंको घोडेके समान निरूपित किया है उन्हें "कामरूपी चाबुककी चाह से चाबुक मार उठो है" परन्तु लाज झुका देती है चुटकी के चाबुकका चटाका करके। खुदी खूँदती हुई चाल, अथवा पैरमें नख बढ़ जानेकी चाल...... ।" (पृ० १५)

---

* 'उडोहै' की जगह "उडौ है" चाहिए।

सतसईके अन्य टीकाकारोंको तो क्या स्वयं कवि विहारी लालको भी अपने इस दोहेके यह 'अति ललित, मधुर, मुग्ध' अर्थ न सूझे होंगे! उन्होंने भला यह पैरमें नख (?) (घोड़ेके खुर या शफको भाषामें 'सुम' कहते हैं या नख ?) बढ़ जानेकी यह नयी चाल काहेको देखी होगी? "मैंने अर्थात् कामदेवने" बहुत ठीक, तो क्या इस दोहेके 'देवता' आप ही हैं? "चाहसे चुटकाकर" का क्या अर्थ? "उड़ते या उठते हुयेसे खड़े किये" का क्या मतलब? क्या कोई पदार्थ बैठता या लेटता हुआ सा भी खड़ा किया जाया करता है? "कामरूपी चाबुककी चाहसे चाबुक मार उठो है" का कुछ अर्थ भी है? और "चुटकीके चाबुकका चटाका" कैसा होता है? यह आप टीका कर रहे हैं, या स्वप्नकी दशामें पड़े बड़ बड़ा रहे हैं! इतनेपर भी इस प्रलापका नाम रक्खा है 'अति ललित मधुर मुग्धटीका' !!!

हा व्रजभाषे! क्या तू अपनी ऐसी दुर्दशा देखनेको ही अब-तक बची हुई थी? तेरे वह सुदिन कहाँ गये जब सूरदास, विहारीलाल, मतिराम और हरिश्चन्द्र आदि जैसे सुकवि अपनी अपनी सुन्दर और नवीन रचनाओंसे तुझे अलंकृत करते थे! एक आजका समय है कि नवीन रचनाओंसे तुझे भूषित करना तो दूर रहा तेरे पूर्व कवियों द्वारा प्रदत्त आभूषण भी किस निर्दयतासे तोड़ मरोड़ कर धूलमें मिलाये जा रहे हैं! तेरे जगत्प्रसिद्ध माधुर्य्यमें इन्द्रायन और नीमका तेल मिलाया जा रहा है!

यदि यह दुर्दशा किसी ऐसे वैसे मामूली आदमीकी ओरसे की जाती तो अधिक अफ़सोसकी बात न होती परन्तु जब हम देखते हैं कि यह कृपा 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्या-

वारिधि' 'व्याख्यानवाचस्पति' जैसी प्रतिष्ठित उपाधियोंसे "सर्वाङ्गविभूषित" व्यक्तिकी तरफ़से की जा रही है तो और भी दुःख होता है। यह हमारे लिये कैसे खेद और लज्जाकी बात है कि भारतसे हज़ारों मील दूर—सात समुद्र पार—रहनेवाले डाक्टर ग्रियर्सन जैसे महानुभाव तो व्रजभाषाके माधुर्य और सतसईके अपूर्वगुणोंपर मोहित होकर, उसमें प्रवीणता प्राप्त करके 'सतसई'के सम्पादनमें उसके शुद्ध संस्करणके लिए घोर परिश्रम करते हुए अपने नेत्रोंकी ज्योतितक क्षीण कर बैठे (जैसा कि उन्होंने स्वयं और विहारी-विहारकी भूमिकामें स्वर्गीय व्यासजीने लिखा है) और एक हम हैं कि अपने देशकी मातृ-भाषाओंको अलङ्कृत और परिष्कृत करना तो दूर रहा उलटा उनकी मिट्टी पलीद कर रहे हैं! हमारी अपनी भाषाएँ ही हमारे लिये चीनी और हिब्रू भाषा बन रही हैं। अफ़सोस! हमारी दशापर किसी उर्दू-कविकी यह उक्ति कैसी चरितार्थ हो रही है—

"एक हम हैं कि लिया अपनी भी सूरतको बिगाड़।
एक वो हैं जिन्हें तसवीर बना आती है।"

* * *

पाठकवृन्द! ऊपरके दोहेका साफ़ और सीधा मतलब यह है कि—

कामने—(कामरूपी चाबुकसवारने)—प्रेमकी चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये, और लज्जाने—(लज्जारूपी बागने) नीचेको झुका दिये, इस प्रकार तड़फड़ाते हुए, नेत्ररूपी घोड़े, मानो खूँद सी कर रहे हैं।

'चुटकिकै'—कोड़ा मारकर, 'खरे'—बहुत या खूब, 'खूँद-करना'—लघुद्रुतगतिसे ज़मीनको काटते हुए चलना,

जहाँसे पैर उठाया है फिर वहीं रखना, इत्यादि खूँद करनेका अर्थ है, जिसे इधरकी ग्रामीण भाषामें "खौरूखोदना" भी कहते हैं। जब बछेरेको 'औधी' में फेरते वक्त चाबुक सवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है तो वह ऊपरको उठ जाता है, और भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहनेके कारण भाग नहीं सकता, झुककर वहीं आ रहता है। घोड़ेकी इस दशाकी उपमा कविने 'चाहका चाबुक' खाए हुए और 'लाज' की बागसे खिँचे हुए, नेत्रोंसे दी है।

× × ×

५—"यदपि चवायानि चो (ची) कनी चलति चहूं दिश सैन
तदपि न छाँडत दुहुंनके हँसी रसीले नैन ॥६५॥

* * *

"यद्यपि चबाव करनेमें चिकनी चुटपटी चतुर है, यद्यपि चारों ओर उंगली उठा उठाकर लोगोंकी सैन चलती है, तौभी दोनोंके रसीले नेत्र हँसी नहीं छोड़ते तीसरी विभावना।" (पृ० २६)

चबाव करनेमें चिकनी चुटपटी (?) चतुर, कौन है? इन विशेषणोंका कोई विशेष्य भी है? यदि ये विशेषण नायिका-के मान लिये जायँ तब "तीसरी विभावना" में यह क्या काम देंगे? इनसे तीसरी विभावनाका भान कैसे हो जायगा?

"कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके"।
या—"प्रतिबन्धकके होतहूं कारज पूरन मान"।

यह 'तीसरी विभावना'का लक्षण है। अर्थात् प्रतिबन्धक (कारण)के होते हुए भी कार्योत्पत्ति होना, तीसरी विभा-वना कहलाती है। नायिकाका "चबावमें चिकनी चुटपटी

चतुर होना" रसीले नेत्रोंसे हँसी छुड़ाने या हँसी रोकनेका साधक बाधक कुछ भी नहीं। और ये 'चुटपटी' 'चतुर' 'उंगली उठा उठा कर' मूलके किन पदोंका अर्थ है? जिस 'लालचन्द्रिका'से आपने 'तीजी या तीसरी विभावना' नक़ल की है, वहींसे यदि इसका अर्थ भी समझ लेते तो यह सीधा सादा दोहा इस तरह 'चुटपटी' 'चतुर'की लपेटमें आकर गोरखधन्धा न बन जाता! पर समझनेकी तो आपने क़सम खायी है। चाहे दोहेका साधारण अर्थ भी न हो सके, परन्तु अलङ्कारका नाम आप ज़रूर लिख देते हैं, जिससे कोई समझे कि आप बड़े आलङ्कारिक हैं!

उक्त दोहेकी 'लालचन्द्रिका' इस प्रकार है—

"सखीका वचन सखीसे, जो भी निन्दा भरी चिकनी चलती हैं चारों ओरसे सैन—कहैं आंखका इशारा, तो भी नहीं छोड़ते हैं दोनोंके हांसी, अनुराग भरे नैन......तीजी विभावनालंकार,......"इत्यादि।

× × ×

६—*ऊंची चितै सराहियत गिरह कबूतर लेत।*

दृग झलकित मुलकित वदन तनु पुलकित काहिदेत (?) ७३

* * *

इसके मूलपर भी दो जगह हाथ साफ़ किया है। 'ऊंचे चितै' तथा 'किहि हेत'की जगह 'ऊंची चितै' और 'कहिदेत' न जाने किस अभिप्रायसे बनाया गया है! अर्थ और भी विलक्षण है। फ़र्माते हैं—

"ऊंचे देखकर सराहा जाता है, कबूतर गिरह लेता है किस कारण नेत्र झलकते मुख मुलकता (?) और शरीर पुलकित होता है।"........(पृ० २८)

देखिए न, किस तरह ढेलेसे लुढ़काये हैं ! "ऊंचे देख कर सराहा जाता है" कौन ? कुछ पता नहीं ! 'कबूतर गिरह लेता है' लेने दीजिए, आपका कुछ हर्ज ? यों तो चील मँडराती है, बाज़ झपटता है, कौवा उड़ता है, तोता कुतरता है, आप टीका लिखते हैं, इत्यादि बहुत सी बातें हुआ करती हैं, आप अपना मतलब कहिए ! "झलकता, मुलकता, पुलकता," की बहार भी देखने लायक़ है ! "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" इत्यादि निराकाङ्क्ष पदसहमूकी तरह इस टीकाके ये पद आकाङ्क्षारहित होनेसे निरे निरर्थक हैं। इस दोहेकी लालचन्द्रिका इस प्रकार है—

"सखीका बचन नायिकासे। ऊपर देखके सहराते हैं सब, गिरहबाज कबूतर, जो उड़नेमें बाजी करता है, और तेरी आँखें डब डबाती हैं, प्रसन्न मुख है, और शरीरमें रोमांच हुए, सो किस लिए ? तात्पर्य यह कि नायकके (उड़ते) कबूतर देख (उसके सम्बन्धसे) नायकका स्वरूप नायिकाके मनमें आया, जिससे सात्त्विक भाव हुआ। हेतु अलङ्कार स्पष्ट है।"

× × ×

७—*टुनिहाई सब टोलमें रही जु सौति कहाय।*

सुतौ ऐंच पिय आप त्यौं, करी अदोषिल आय ॥१२४॥

* * *

"जो टोना करनेवाली सब सखियोंके समूहमें तेरी सौति (?) बाज (?) रही थी, सो तैंने नायकको वश कर वह सौत बेछूत करदी लेखालंकार (?), जो सौतोंका वशीभूत करना कर्म दोषमय था टोनाके पदसे यह गुण हुआ, जैसे टुट कहेरी (?) भूतकी छूत दूर करै तैसे इसने सौतसे दूर कर निज वश किया" (पृ० ४६)

इसमें कुछ पदोंको छोड़कर और दो एक पद बदलकर लेखालंकार (?)से ऊपरकी इबारत, लालचन्द्रिकासे नक़ल की गयी है। ख़ैर, और तो पीछे देखा जायगा, पहले एक बात पूछ लें। क्यों विद्यावारिधिजी! यह "लेखालंकार" कौनसे साहित्यमें लिखा है ? यदि आप लल्लूलालजीका नाम लेकर लालचन्द्रिका-के हवालेसे छूटना चाहें तो भी नहीं बनता। लल्लूलालजीकी ऐसी अशुद्धि क्षन्तव्य हो सकती है, क्योंकि वह संस्कृतके पण्डित नहीं थे, जैसा कि व्यासजीने 'विहारीविहार'की भूमिकामें सिद्ध किया है। परन्तु आपके श्रीनामके साथ तो 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' जैसी उपाधियाँ हैं, जो महत्त्वमें 'महामहोपाध्याय'से भी बढ़कर हैं। फिर आप जो बार बार 'काकोक्ति' (?) 'लेखालंकार' 'प्रवत्सत पतिका' इत्यादि महाभ्रष्ट पद लिख रहे हैं, इसका क्या कारण समझा जाय ? क्या कविताका ठीक अर्थ कर सकना और शब्दोंको शुद्ध लिखना, उन विद्याओंके अन्तर्गत नहीं है, जिनके कि आप 'वारिधि' हैं ? और महाराजकी जय रहे, आपने तो भूमिकामें प्रतिज्ञा की थी कि "भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो, इसपर विशेष दृष्टि रक्खी गई है" फिर यह क्या बात है कि इस प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन आप पद पदपर कर रहे हैं! आप दृष्टि नहीं रख सके, वह प्रायः झपक गयी है। ठीक है, आख़िर मनुष्य 'अनिमिष' तो नहीं है, पलक लग ही जाती है। आपके यह परिष्कार काठिन्यमें "रसगङ्गाधर"की पंक्तियोंसे कुछ कम नहीं हैं। कहीं यह 'ग्रन्थग्रन्थियाँ' श्रीहर्षकी तरह आपने जानबूझकर ही तो पाठकोंको छकानेके लिये नहीं लगा दी हैं ? यदि यही बात है तो श्रीहर्षके समान इसकी सूचना भी आपको दे देनी चाहिए थी। अस्तु। अब एक काम कीजिये,

अपनी टीकामें आई हुई ऐसी ऐसी कठिन फक्किकाओंपर एक टीका टिप्पनी स्वयं ही लिख छोड़िये, अन्यथा सूरदासके कूटपदोंकी तरह इनका अर्थ समझनेमें लोगोंको बड़ी कठिनाई होगी। फिर वह किसके पास पूछने जायँगे ? इसलिए इस मुश्किलको स्वयं ही हल करते जाइये ! टीका तो न जानें आप कब करेंगे, हमें अपनी इन ऊपरकी पंक्तियोंका ज़रा अर्थ ही समझा दीजिये। हाँ महाराज ! "सौतोंका वशीभूत करना कर्म दोषमय था" इसका क्या मतलब है ? यह कौनसी विद्यामें लिखा है कि 'वशीभूत करना' कर्म दोषमय है ? जब कि गुरुका शिष्यको, स्वामीका सेवकको, राजाका प्रजाको, प्रेमपात्रका अपने प्रेमीको 'वशीभूत' या अपने काबूमें करना कोई दोष नहीं, जुर्म नहीं, किसी धर्मशास्त्र या कानूनमें इसके लिए दण्डविधान नहीं लिखा, (यदि हो तो पता दीजिये, आप 'विद्यावारिधि' हैं) फिर बेचारी 'सौतों'ने आपका क्या बिगाड़ा, है जो उनके वशीभूत कर्मको बिना कारण बतलाये, आप 'दोषमय' बता रहे हैं! आप जैसे धार्मिकोपदेष्टाको ऐसा पक्षपात शोभा नहीं देता। कहीं आपने अपनी यह टीका एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल)में तो नहीं भेज दी? वहाँ यदि वह कहीं वायसरायकी लेजिसलेटिव कौन्सिलके किसी मेम्बरकी नज़र पड़ गयी, तो ऐसा न हो कि आपके उद्भावित इस नये 'दोषमय' कर्मके मुताल्लिक़ ताज़ीरातहिन्दमें एक नई दफ़ा बढ़ानेके लिए (कौंसिलमें) प्रस्ताव होने लगें ! इससे अगली बात और भी विचित्र है "टोनाके पदसे वह गुण हुआ" !! ग़ज़ब हुआ ! महाराज ! ग़ज़ब, यह क्या बात हो गयी ! जो कर्म अभी अभी 'दोषमय' था, वह सिर्फ़ 'टोनाके पदसे' ख़ालिस गुण ('गुणमय' भी नहीं ?) कैसे हो गया ?

इस रसायनविद्या—इस कैमिस्ट्री—को आजकलके मन्दमति मनुष्य आपके अनल्प अनुग्रह बिना नहीं समझ सकेंगे ! देखिये न, कैसी अद्भुत बात हुई ! टोनाके पदमात्रसे ही वह — दोषमय कर्म—'गुण' हो गया ! टोना करनेकी भी ज़रूरत न पड़ी ! धन्य हो, आपका जादूरक़म क़लम भी ऐसे ऐसे करश्मे दिखलाता है कि देखनेवाले दंग रह जायँ !

"जैसे टुट कहेरी (?) भूतकी छूत दूर करे तैसे इसने सौतसे दूर कर निजवश किया "

'टुट कहेरी; कैसा फ़सीह महावरा है ! ख़ास 'दीनदारपुरी' है ! जी हाँ, फ़रमाइए "... ...भूतकी छूत दूर करे" भूतको नहीं, किन्तु उसकी छूतको दूर करे। क्या मतलब, जब किसीको भूत चढ़कर उतर जाय, पीछेसे जो उसकी छूत लगी रह जाय उसे दूर करे, इत्यर्थः। अथवा यों समझिये, जिस प्रकार चाण्डालादि किसी अस्पृश्य पदार्थके स्पर्श हो जानेपर स्नानादि द्वारा उसकी छूत दूर की जाती है, ठीक उसी प्रकारसे ! "तैसे इसने" इसने किसने ? साफ़ साफ़ कहिए न ? "सौतसे दूरकर" किसे दूर कर ? साक्षात् किसी पदार्थको या उसकी छूत मात्रको ? "निजवश किया" आपने भी पति (प्रतीयमान)को भूतकी उपमा देकर बड़ा भारी काम किया ! 'उपमालङ्कार', को कालिदास और विहारीलालसे छीनकर 'निजवश किया' ! थोड़ी बात नहीं ! ठीक ही हुआ, विहारीलालजीने 'चाह'को "चुरैल" (३०६ दो०) ठहराया है, आपने 'चाहनेवाले'को भूत बना दिया ! इसी प्रकार कल कोई दूसरे टीकाकार उठेंगे वह 'नायकको प्रेत, पिशाच, राक्षस इत्यादिकी उपमा देंगे, फिर यदि किसीने 'साहित्य-परिचय, लिखा तो वह नायकके

शठ, दक्षिण, आदि भेदोंके साथ भूत-प्रेतादिको भी शामिल कर देगा ! क्यों न हो, तरक़्क़ीका ज़माना है !

प्रिय पाठकगण ! इस बीभत्स-व्यापार—भूत प्रेत और छूत छात—आदिका विहारीके उक्त दोहेमें गन्ध भी तो नहीं, यह सब कुछ टीकाकारके दिमाग़की उपज है। दोहेका भाव यह है—

नवोढ़ा नायिकाके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा करती हुई सखी, उससे कहती है कि तेरे आनेसे पहले नायक जिस तेरी सौत—नायिकाके वशमें था, वह 'टुनिहाई'—टोना करने-वाली—प्रसिद्ध थी, कि इसने नायकपर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वशमें कर रक्खा है, सो तैंने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणोंसे, नायकको अपनी ओर खींचकर, अपनी उस सौतको दोषरहित कर दिया. अर्थात् उसे इस इलज़ामसे बरी कर दिया कि वह टोना करनेवाली है। क्यों-कि यदि वह जादूगरनी होती तो नायक उससे छूटकर तेरे वशमें न हो सकता, इससे जाना गया कि जादूसे नहीं, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंसे ही उसने नायकको अपने अधीन कर रक्खा था, अब उससे अधिक रूपवती होनेके कारण नायक-को तैंने अपनी ओर खींच लिया। इसलिये—

"लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्"

इस साहित्य लक्षणके अनुसार यहाँ "लेशालङ्कार" है, (जिसे विद्यावारिधिजीने "लेखालङ्कार" लिखा है) अर्थात् जहाँ गुणके स्थानमें दोष और दोषके स्थानमें गुणकी कल्पना हो जाय, वहाँ लेशालङ्कार होता है। जैसे यहाँ टोना करने रूप दोषके स्थानमें रूपवती होने रूप गुणकी कल्पना की

गयी। नायकका वशमें होना टोनाके प्रभावसे नहीं था, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंके कारण था, यह भाव।

× × ×

८——छप्यो नेह कागज† हिये भई लखाइ न टांक।*
विरहतचे उघर्‌योसुअब सेहुँडकासोआँक ॥१२७॥

"जो कागज रूपी——प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी और थोड़ी भी प्रसिद्ध न हुई सो अब थूहरके दूधके लिखे अक्षर-सी विरहकी आगसे सिककर खुली। पूर्णोपमा थूहरके दूध-के लिखे अक्षर आगपर सेकनेसे चमकते हैं" (पृ० ४७)

बस रहने भी दो, क्यों इस काव्यकी दुर्दशापर कमर कसी है! यह काम आपके बसका नहीं है, जो काम आदमी-से न होसके उसमें हाथ ही क्यों डाले! खट्टे अंगूर और टेढ़ी खीरसे दूरही रहना अच्छा है! आपको यह सम्मति किस भले आदमीने दी थी कि आप सतसईको हाथ लगावें? आपकी इस टीकासे तो यह ग़रीब वैसे ही अच्छी थी, यह टीका तो इसके लिए स्याहीका टीका होगया! जिसकी बातें ही आपकी समझमें नहीं आतीं उसके दुभा-षिया——मुतरज्जिम——आप क्यों बन गये?

---

* 'छप्यो' के स्थानमें "छतो" पाठ चाहिए। यही, लाल-चन्द्रिका, हरिप्रकाश, विहारीविहार तथा कृष्णदत्तकी टीकामें है। 'छप्यो' तो यहां नितान्त अयुक्त है, क्योंकि 'नेह' का छिपा रहना तो 'भई लखाइ न टांक' इससे ही सिद्ध है, फिर 'छप्यो' कहनेकी क्या ज़रूरत है? "नेह छतो" का अर्थ है प्रीति थी।

† यहां फ़ारसी उर्दूका 'काग़ज़' नहीं चाहिए, किन्तु व्रजभाषा का "कागद" चाहिए।

"जो कागजरूपी प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी" यह देखिये कैसा विलक्षण भाष्य है ! क्यों महाराज ! सेहुँडके दूधसे लिखनेसे 'कागज' छिप जाता है ? वह ज़रा भी नहीं दीखता ! और 'अक्षर' दीखते रहते होंगे ? तभी तो श्रीमान्‌ने 'छिपी हुई प्रीति'को 'कागज' ठहराया है ! इसपर तुर्रा यह है कि इस प्रकार रूपकका रूप बिगाड़कर और उपमाका उपमर्द करके आप लिखते हैं—"पूर्णोपमा" धन्य आपकी पूर्णोपमा ! किसीको अलंकारशास्त्र पढ़ना हो तो आपसे पढ़े ! इस दशामें इसे 'पूर्णोपमा' कहना ऐसाही है जैसे कोई किसी 'मृगनयनी' की एक आँख फोड़कर उसे चिढ़ानेके लिए 'मृगाक्षी' कहे। इस दोहेका स्पष्ट अर्थ यह है—

हृदयरूप काग़ज़पर प्रीति (अङ्कित) थी, जो (संयोगदशामें) ज़रा भी (किसीपर) प्रसिद्ध न हुई थी, सो अब विरहकी आँचसे सिकनेपर सेहुंडके दूधसे लिखे हुए अक्षरकी तरह प्रकट होगई, चमकने लगी, सबपर खुल गयी। दोहे में "कागद–हिये" यह 'समस्त रूपक' है—

" उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा बाहुलता पाणि-पद्मं चरण-पल्लवः" ॥ (काव्यादर्श)

अथवा—"उपमान रु उपमेयमें भेद परै न लखाय।
तासों रूपक कहत हैं सकल सुकवि समुदाय ॥"

अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमानमें अभेदप्रतीति हो, ऐसी उपमाको ही रूपक कहते हैं—जैसे "बाहुलता" "चरण-पल्लव" इत्यादि, या जैसे कागद-हिये, "लाज-लगाम" (२६४ दो०) 'दीपक-देह' (३२७ दो०) इत्यादिमें।

विद्यावारिधिजीने समझा होगा "कागद-हिये" ये दो पृथक् पद हैं, इनका आपसमें कुछ सम्बन्ध तो है नहीं, बस

झट 'कागद'का कान पकड़के 'नेह'के साथ नत्थी कर दिया! हिया बेचारा हाय हाय करता और पुकारता ही रह गया-(मैं कहता रह गया ज़ालिम! मेरा दिल है मेरा दिल है!) कि दयानिधे! यह आप क्या करते हैं? मेरे इस चिरसंगी सखा(कागद)को कहाँ लिये जाते हैं! विहारीलालजीने तो इसे मेरे साथ अभेदरूपसे रखा है, यदि मेरा विश्वास न हो तो प्राचीन टीकाकारोंसे पूछ देखिये। हम दोनों एक हैं, अभिन्नहृदय हैं, हममें भेद न डालिये, हमें पृथक् न कीजिये भगवन्! दया कीजिए, इससे दूर होते मैं फटा जाता हूँ।

उधर "नेह"ने भी इस विभागपर नाराज़गी ज़ाहिर करके कहा कि रहने दीजिए, मुझे 'कागद' नहीं चाहिए मैं "सेहुँड-" के आंककी समतासे ही खुश हूँ। कविविधाताने मुझे उसके सदृश बनाया है। और अबतक जिस(कागद)के यहाँ मैं अज्ञातवासकी दशामें छिपा रहा, अब प्रकट होते समय उसी-की बराबरीका दावा करते हुए मुझे लज्जा आती है सो मैं "कागजरूपी प्रीति" कहलाना नहीं चाहता, माफ़ कीजिए।

परन्तु वंग-विच्छेद करनेवाले 'माई लार्ड' कर्ज़नके समान हमारे 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' विद्यावारिधिने उनकी इस करुणोक्तिपर ध्यान न देकर कहा कि—"चुप रहो, हम नहीं जानते, विहारीलालने तुम्हें कहीं और किसीके साथ रक्खा हो, न हमें किसीसे कुछ पूछनेकी ज़रूरत है, हम स्वयं 'विद्यावारिधि' हैं। पृथक् होनेमें भले ही तुम्हारा अर्थनाश क्या सर्वनाश हो जाय, कुछ परवा नहीं, हमारी आज्ञा तुम्हें माननी ही पड़ेगी"। बहुत कहने सुननेपर 'हृदय'का दिल रखनेके तौरपर उससे कहा कि "कागद"के बदले हमने तुम्हें 'निर्मलता' प्रदान की। नेहका अपील डिसमिस। क्योंकि उससे

कुछ छीना नहीं गया, बल्कि और कागजका करेन्सी नोट दिया गया है !

इस प्रकार इस 'कागज-केसका ख़ात्मा' हुआ !

श्रीपण्डित परमानन्द कविने 'शृङ्गारसप्तशती'में इस दोहे-का दोहा-छन्दमें ही कैसा अच्छा अनुवाद किया है, सहृदय संस्कृतज्ञ पाठकोंके विनोदार्थ उद्धृत है—

'प्रेम हृदयपत्रानुगतमलक्षितं यदुवास ।
* तद्वज्राक्षरमिव तनौ विरहाग्निना बभास ॥'

\+ + +

९—*उठि ठक ठक एतो कहा पावसके अनुसार (?)*
जान परैगी देखि यौं दामिनि घन अंधियार ॥ १५६ ॥

* * *

"उठ वर्षाके समय नायकके पास चलनेमें इतनी अडचड क्यों है, वहाँ ऐसी विदित होगी कि, मानो बिजली बादलको लिये अंधकारमें हैं। भ्रांतालंकार"। (पृ० ५६)

न मालूम कौनसी अद्भुत पोथी आपके हाथ लग गयी है, जिसमें इस प्रकारके विचित्र पाठान्तर भरे पड़े हैं ! जिस प्रकार टीका करनेमें आप मनमानी करते हैं, किसी टीका-कारकी नहीं सुनते, इसी प्रकार मूल-कवितामें भी स्वयं 'इस लाह' कर देते हैं। और न हुआ तो यहां 'अभिसार'का "अनुसार" (?) ही कर दिया ! और उसका अर्थ किया है '......समय' ! न जाने किस कोशके अनुसार 'अनुसार'का अर्थ '......समय' किया गया है ! 'भ्रान्ति' या 'भ्रान्तिमान्' की जगह आप लिखते हैं "भ्रांतालंकार" (?) क्यों न हो,

(* सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडेत्यमरः)

यह भी तो 'लेखालंकार' का लंगोटिया यार, और 'काकोक्ति' का काका है। अस्तु।

'नायकके पास चलनेमें' इतना अर्थ अब किन पदोंका है? क्योंकि जिस "अभिसार"का यह अर्थ था, उसका तो आपने "अनुसार" बना डाला!

"वहाँ ऐसी विदित होगी" वहाँ कहाँ? नायकके पास न? बहुत खूब, और कौन विदित होगी? कर्त्ता ग़ायब! "...कि मानो बिजली बादलको लिये अन्धकारमें हैं।"

इसके आगे हमारे 'सम्भ्रान्त' अलङ्कारशास्त्रीजी लिखते हैं 'भ्रांतालंकार (?)' खैर 'भ्रान्ति' न सही 'भ्रांता' (?) ही सही "काकोक्ति" वालेके लिये तो यह कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु 'मानो' * लगनेसे तो यह खासी सोलह आना "उत्प्रेक्षा" हो गयी! "भ्रान्ति" कहाँ रही? किसी साहित्यग्रन्थमें 'भ्रान्ति' का लक्षण देखकर अपने उपर्युक्त वाक्यमें ज़रा लक्षण-समन्वय तो कीजिए कि इस दशामें यह 'उत्प्रेक्षा' है या "भ्रान्ति" है। खैर जी, अलंकार पड़ें भाड़में, यहाँ तो बेचारी कविताके कपड़े ही फाड़े जा रहे हैं। उसका शरीर ही अनर्थ-वज्रप्रहारोंसे क्षतविक्षत किया जा रहा है। भला जिसका जिस्म ही ज़ख्मों-से चकनाचूर हो रहा हो, अलंकार क्या उसकी ख़ाक शोभा बढ़ायेंगे। उसे तो वे और भार प्रतीत होंगे, घावोंमें चुभेंगे। ग़रीबकी जान बच जाय यही ग़नीमत है!!

---

* "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥" (दण्डी)

इस लक्षणके अनुसार संस्कृतके 'मन्ये, शङ्के' इत्यादि शब्दोंकी तरह, हिन्दीमें मानो, जानो, इत्यादि शब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जक हैं।

जी हाँ फ़र्माइए, कैसी विदित होगी–"मानो बिजली बादल-को लिये अन्धकार में है" यहाँ 'बिजली' तो नायिकाको समझें, और 'बादल' नायकको, तथा 'अन्धकार' नायकके मकान या संकेतस्थानको ! मालूम होता है नायक कहीं तहख़ानेमें या काजलकी कोठरीमें काला बादल बना छिपा बैठा है ! तभी तो वहाँ अंधकारकी प्रतीति या भ्रान्ति हो सकेगी ! अबतक तो यही सुनते थे कि बादलमें बिजली रहती है, और काले बादलमें वह खूब चमकती है. परन्तु अब आपसे मालूम हुआ कि बादलमें रहना और चमकना क्या, वह तो बादलको बग़लमें दबाकर अन्धकारमें जा छिपती है !

अच्छा, अब लल्लूलालजीकी ज़बानी उनकी भाषामें इसका अर्थ सुन लीजिए—

"सखीका वचन नायिकासे-उठ बखेड़ा इतना क्या है बरखाके चलनेमें, नायकके पास, जानी जायगी दिखाई देनेसे ऐसे कि बिजली बादल कालेके अंधेरेमें है......"

मतलब यह कि मार्गमें कोई देख न ले इसलिए कृष्णाभिसारिकाका वेष बनाने इत्यादि बखेड़ेमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि किसीने मार्गमें देख भी लिया तो वह पहचान न सकेगा कि यह नायिका जा रही है, किन्तु उसे भ्रान्ति होगी कि वर्षाके काले बादलमें यह बिजली चमक रही है !

पाठकगण ! इस आशयकी गन्ध भी वारिधिजीकी टीकामें है ?

× × ×

२०—*कहा लडैते दृग करे (?) परे लाल बेहाल ।*

कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट बनमाल ॥२२७॥

* * *

"हे लाड़ले ! ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम

बेहाल पड़े हो कहीं मुरली, कहीं पीला वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं वनमाला पड़ी है; चलकर तो देख। व्याजस्तुति।" (पृ० ७६)॥ *

व्याजस्तुति काहेको इसे तो "व्याजछुरी" कहना चाहिए! अर्थके बहाने कविताके कमनीय गलेपर यह कुन्द छुरी फेरी जा रही है, जिसके तले वह बेचारी बेहाल पड़ी हुई छटपटा रही है! अर्थ, भाव, अलंकार, ये सब एक एक करके इस कठिन अवस्थामें इसका साथ छोड़ गये हैं! निःसहायावस्थामें पड़ी पैर पीट रही है! दम तोड़ रही है!

सच कहा है किसीने—

"कौन होता है बुरे वक़्की हालत का शरीक
मरते दम आँखको देखा है कि फिर जाती है॥"

* * *

विहारीके रसिक प्रेमियो! देखते हो तुम्हारी प्यारी कविताका क़तलेआम किस तरह खुले मैदान हो रहा है! विहारीकी पीयूषरसवर्षिणी कविता-मेघमालाको ये आँधीके प्रचण्ड झोंके किस प्रकार छिन्न भिन्न करके उड़ा रहे हैं!! इस लतिकाको अनर्थकी प्रचण्ड ज्वाला किस तरह जला रही है!!! होसके तो इसके प्राण बचा लो; यह चली!

हाय कितना सरल और सीधा दोहा था!

"जो इतने पर भी न समझे तो उस बुत से खुदा समझे"

सखी, नायिकासे, नयनोंकी चोट खाए हुए कृष्णकी दयनीय दशा सुनाकर लड़ैते नेत्रोंकी शिकायत करती हुई सुध लेनेकी प्रार्थना कर रही है कि तैने अपने नेत्र कैसे लड़ैते—लड़नेवाले—किये हैं, जिनकी चोट खाकर लाल (कृष्ण)

---

* यह दोहा पृ० १०४ पर आचुका है।

बेहाल पड़े हैं, कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीताम्बर, कहीं मुकुट और कहीं बनमाला पड़ी है, उन्हें कुछ सुध नहीं।

'लड़ैते' शब्दका अर्थ नेत्रोंहीका विशेषण मानकर हरिप्रसाद तथा लल्लूलालजीने 'लाड़ले' किया है, परन्तु यहाँ 'लड़ैते' का अर्थ यदि लड़नेवाले किया जाय तो और भी ठीक हो, 'लठैत'—'डकैत'की तरह हिन्दीमें 'लड़ैत' आता भी है, जैसे कहा जाता है कि अमुक आदमी बड़ा 'लड़ैत' 'आँखें लड़ाना' हिन्दी और उर्दूमें महावरा है, उर्दूके प्रसिद्ध कवि 'मोनिन का शेर है—

"दिल गया दमपर बनी 'आँखें लड़ीं' कहती हैं हाल,
बेक़रारी आहोज़ारी अश्कबारी आपकी"

* * *

विद्यावारिधिजीने 'लड़ैते'को सम्बोधन समझकर 'हे लाड़ले!' बना दिया, और तो मज़ा देखिए, कहते हैं—"ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो"—यह तो आप कहीं लिखते ही नहीं कि 'किसका वचन' किससे, तथापि 'हे लाड़ले' और 'पड़े हो' इन पदोंसे पता चलता है, कि सखी श्रीकृष्णसे कह रही है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्णकी आंखें बड़े ज़ोरसे दुखने आ गयी हैं, उनकी प्रबल पीड़ासे वह व्याकुल हैं, उन्हें अपने मुरली, मुकुट और कपड़े लत्तेकी कुछ सुध नहीं, अचेत पड़े हैं, आँखोंकी तीव्र पीड़ा ऐसी ही होती है। उसमें कुछ होश नहीं रहता। शायद श्रीकृष्णने कुछ कुपथ्य भी कर लिया है, इससे पीड़ा और भी बढ़ गयी है, तभी तो सखी उन्हें समझा रही और धमका रही है, कि 'तुमने अपने नेत्रोंकी यह क्या दशा कर ली! जिससे इस तरह बेहाल पड़े हो, सिर पैरकी कुछ ख़बर

नहीं ! लाड़में आकर—(हे लाड़ले ! इस हेतुगर्भ विशेषणका अर्थ !)—तुम दिन दिन बिगड़ते ही जाते हो ! चलकर तो देख'—अब तो सखी क्रोधसे पागल हो गयी जान पड़ती है, 'तुम' से 'तूतड़ांग' पर उतर आयी ! (हज़रतसे आप, आपसे तुम, तुमसे तू हुए") 'चलकर तो देख' न जानें कहाँ लिये जाती है, और क्या दिखाना चाहती है ! कदाचित् 'बनमाला' और 'पीताम्बर' दिखाना चाहती हो, परन्तु नेत्ररोगमें तो ऐसी चीज़ोंसे बचना चाहिए, जैसा कि 'विवृतोक्ति' अलङ्कार-के उदाहरणमें किसीका यह अपूर्व पद्य है—

"सुभ्रु ! त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ताः कथा योषितां
दूरादेव विवर्जिताः सुरभयः स्रग्गन्धधूपादयः ।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना,
सत्यं त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते ! सर्वा ममान्धा दिशः ॥"

* * *

और फिर वह बेचारे तो स्वयं बेहाल पड़े हैं, उनमें चल-कर देखनेकी हालियत कहाँ ! देखा ! कैसी गुस्ताख़ (सखी) है ! कोई पागल हुई है ? हट परे दूर हो, आई वहाँसे, इलाज मालजा गया, दम दिलासा गयो, बेहालीमें उन्हें एक जगह पड़ा भी नहीं रहने देती, जब होश होगा आप जाकर देख लेंगे !!

× × ×

*११-यों दल मिलियत * (?) निरदई, दइ † (?) कुसुमसे गात ।*
कर घर देखो धरधरा अजौं न उरको जात ॥ २२८ ॥

* * *

"हे भगवन् ! यह निर्दयी होकर फूलोंसे गातको ऐसे दल-

* मलियत † दई । ऐसा चाहिए ।

कर मलते हैं, हाथ रखकर देखो मेरी छातीका धडकना अब तक नहीं जाता, नायकाकी सखीका नायकसे उरहना। विषमालंकार ॥" (पृ० ७६)

नहीं मालूम पड़ता कि कौन किससे कह रहा है, और क्या कह रहा है ! यदि "हे भगवन्(?) से'......नहीं जाता' तककी इबारतपर ध्यान देते हैं तब तो ऐसा जान पड़ता है कि नायकके सामने ही नायिका अपनी सखियोंसे नायककी शिकायत कर रही है कि—'यह—(यह—जो हज़रत सामने खड़े हैं!) मेरे फूलोंसे गातको निर्दयी होकर ऐसे दलकर मलते हैं कि बस कुछ न पूछो, तुम हाथ रखकर देखो, मेरी छातीका धड़कना अबतक बन्द नहीं होता।"

पर जब सोचते हैं कि नायिका तो क्या सामान्य वनिता भी इस प्रकार लज्जाको तिलाञ्जलि देकर सबके सामने इस तरह न कहेगी, और साथ ही जब टीकाकारके इस वाक्य—"नायकाकी सखीका नायकसे उरहना (?)"को देखते हैं, तो और ही सन्देहमें पड़ जाते हैं, कि यह बात क्या है! यह ठीक है, हमने माना कि "नायका(?)की सखी नायकको उरहना (?) या उलाहना दे रही है। तब इसकी(उलाहना देनेवालीकी)छाती क्यों धड़क रही है? क्योंकि गात तो नायिकाका मला गया है न! इसे तो किसीने कुछ नहीं कहा! और यदि नायिकाका गात मला जानेसे ही इसकी यह दशा हो गयी है तो फिर 'विषमालंकार' कैसा? तब तो ख़ासा "असङ्गति" अलंकार न होगा? कुवलयानन्दके इस लक्षण और उदाहरणके अनुसार—

"विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः ।
विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः ॥"

* * *

विहारीका यह दोहा भी 'असङ्गति' अलङ्कारका उत्तम उदाहरण है—

"तू मोहन मन गड़ि रही गाढ़ी गड़नि गुवालि ।

उठै सदा नटसाल लौं सौतिनके उर सालि ॥ ३२४ ॥"

ओह, इस बखेड़ेमें पड़नेकी क्या ज़रूरत है ! जो विद्या-वारिधिजी कहते हैं वही सही, इस दशामें भी मान लो कि यहां 'असङ्गति' नहीं, विषमालङ्कार' ही है—

"मान-लीजे शैख़ जो दावा करे,

इक बुज़ुर्गेदीं को हम झुटलाएँ क्या ! (हाली)

रही 'उरहना दनेवाली'की धड़कन, सो हो सकता है कि वह दौड़कर आयी हो, इसलिये दम चढ़ आया हो और छाती धड़कने लगी हो ! इति सर्वं रमणीयम् ।

× × ×

१२–चलत घरै (?) घर घर तउ, घरी न घर ठहराति ।

समुझि उही घरको चलै, भूलि उही घर जाति ॥२४६॥

"अपने घरकी कोठरी कोठरीमें घूमती है, तौ भी घरमें घड़ी भर नहीं ठहरती जानकर भी उसी घरको जाती है, भूल-कर भी उसी घरको जाती है······" (पृ० ८५)

यदि कोठरियोंकी संख्या और उनकी लम्बाई चौड़ाई भी लिख देते तो और अच्छा होता ! और यह भी लिखनेसे रह गया कि कोठरी कोठरीमें वह क्या ढूंढनेके लिए घूमती है ! और जल्दी जल्दी घूमती है या आहिस्ता आहिस्ता ! क्या उसके घरमें कोई बड़ा बरांडा, दालान या कमरा घूमनेके लिए नहीं था ? और यह और भी विचित्र बात है कि अपने ही घरकी कोठरी कोठरीमें घूमती है, तौ भी घरमें घड़ी भर

भी नहीं ठहरती ! जबकि वह घरमें घड़ी भर नहीं ठहरती तो "कोठरी कोठरीमें" किस वक्त घूमती है? आख़िर घूमनेमें कुछ देर तो लगती ही होगी। मालूम होता है, घरमें दो एक छोटी छोटी कोठरियाँ होंगी, उनकी परिक्रमा जल्द जल्द दो चार मिनटमें करके वह चल देती है ! क्यों महाराज ! यही बात है या कुछ और ?

पाठकगण ! इन तिलिस्मी 'कोठरियों' का दोहेमें कहीं पता भी नहीं, न मालूम विद्यावारिधिज़ीने यह बेबुनियाद इमारत कहाँसे खड़ी करदी ! तभी तो वह ठहर न सकी, धमसे नीचे गिर गयी ! "घैर" इस निन्दार्थक शब्दका "घरै" बना दिया ! कुछ तो चाहिए था !

दोहेका अर्थ है कि—नायिका यह जानकर भी कि घर घर इसकी चर्चा और निन्दा होती है, उसीके—नायकके—घरको जाती है, और जब प्रेमोन्मादमें लोकचर्चा और निन्दाको भूल जाती है, तब भी उसीके घर जाती है। सब कुछ भूलकर भी उसका घर नहीं भूलती ! "दीवाना बकार-ख़्वेश हुशियार"

× × ×

१३—द्वैजसुधादीधितिकला, यह लखि दीठि लगाय ।

मनो अकाश अगास्तिया, एकै कली लखाय ॥ २५० ॥

* * *

"दोयजके चन्द्रमाकी अमृतभरी कलाको जान दृष्टि लगाकर देख, जैसे आकाशरूपी अगस्तके वृक्षमें एकही कली दिखाई दे रही है [दीधति चन्द्रमा] 'मुग्धाहाव' पर्यायोक्ति और 'उत्प्रेक्षालङ्कार'। (पृ० ८६)

शिव ! शिव !! यह देखिए *"सुधादीधिति"* चन्द्रमाके

दो टूक कर दिये ! हा दैव ! विहारीके काव्यचन्द्रको यह कैसा अकाल ग्रहण लग गया !

आजसे कोई चौदह सौ साल पहले अरबमें एक बार हज़रत मुहम्मद साहबने चांदके दो टुकड़े किये थे, वह घटना अबतक उनके "मोअज्जिज़ो"में 'शक़्कुल्क़मर'के नाम से प्रसिद्ध है। या अब इतने दिनों पीछे भारतवर्षमें विद्या-वारिधिजीने यह "शक़्कुल सुधादीधिति" (?) का करश्मा दिखलाया है !!

चन्द्रार्थक "सुधादीधिति" इस समस्तपदमेंसे 'सुधा' निकालकर एक ओर फेंक दी, और दीधितिको एक तरफ़ डाल दिया ! और नया तमाशा देखिए 'दीधिति'का अर्थ करते हैं आप "चन्द्रमा" !!! जय विद्यावारिधे ! धन्य विद्वद्वृन्दशिरोमणे ! यह अपूर्व अर्थ करके तो आपने अपनी संस्कृतज्ञताकी पराकाष्ठा और विद्यावारिधिताकी थाह दिखा दी !

सच है 'तुलसी आह गरीबकी कभी न खाली जाय" आपने तो विहारीकी कविताको ख़राब किया ही है, पर याद रखिए आपकी यह टीका ही आपकी 'विद्यावारिधिता'के लिए 'अगस्त्य मुनि' हो गया ! आपका यह उद्योग 'विषमालङ्कार'-का लम्बायमान उदाहरण बन गया ! भलेमानुषो ! यदि कविताका अर्थ समझमें नहीं आता तो यह भी कोई बड़ी बात है कि "दीधिति" किसे कहते हैं ! 'अमरकोश' पढ़नेवाला विद्यार्थी भी जानता है कि 'दीधिति' चन्द्रमाको नहीं, 'किरण' को कहते हैं, (किरण चाहे चन्द्रमाकी हो या सूर्य्यकी)। चन्द्रमा-का नाम 'शीतदीधिति' है, 'सुधादीधति' है। इसी प्रकार 'सूर्य्य'का नाम "तिग्मदीधति" है। किसी कोश या काव्यमें केवल 'दीधिति' चन्द्रमाका नाम नहीं आया। आप चाहे

किसी भी संस्कृतके विद्वान्से पूछ देखिए। न मालूम आपको यह धोखा किसने दिया! कहीं लल्लूलालजीके बहकानेमें तो नहीं आगये! कुछ लक्षण तो ऐसे ही प्रतीत होते हैं, अच्छा तो ज़रा ठहरिए, 'लालचन्द्रिका' देख लें—

"मुग्धाहाव वर्णन........'सखीका वचन नायकासे'। दीधिति चन्द्रमा। दूजके चन्द्रमाकी कलाको अमृत जान तू यह देख दृष्ट लगाकर मानो आकाशरूपी अगस्तके वृक्षमें एक ही कली दिखाई देती है, प्रतीप, पर्यायोक्ति, और उत्प्रेक्षालंकार......"

यह जो कहिए, आप लालचन्द्रिकाकी नक़ल किये बैठे हैं! लल्लूलालजीने प्रारम्भमें "दीधिति चन्द्रमा" लिखा है, आपने उसे अन्तमें स्थापित करके, उसके इधर उधर ब्रैकेट-का 'परिवेष' बना दिया है, कुछ तो भिन्नता और विशेषता चाहिए थी! टुकड़े करके भी सन्तोष न हुआ! बेचारेके ऊपर और ब्रेकेटका परिवेष (घेरा) भी लगा दिया!

'सुधादीधिति'में के सुधाका अर्थ लल्लूलालजीने सिर्फ़ 'अमृत' करके उसे 'कला'का विशेषण बनाया। आपने उसे 'अमृतभरी' कर दिया! लल्लूलालजीके इस वाक्यमें—'कलाको अमृत जान'–'जान' यह विधि या समापिका क्रिया जान पड़ती है, परन्तु आपने उसे 'कलाको'के आगे रखकर सम्बोधनका-सा रूप देदिया, अर्थात् "ऐ जान! (बाज़ारी महावरा!) दृष्टि लगाकर देख।" इस दशामें ऐसा अर्थ करनेके सिवा दूसरी गति नहीं है। यदि 'जान' और 'दृष्टि'के बीचमें "और" शब्द होता तो भी कुछ बात थी! लालचन्द्रिकाके 'प्रतीप'को न जाने आपने क्यों छोड़ दिया! जब आदमी नक़ल करे तो पूरी ही करे! और आपका यह 'मुग्धाहाव' अपने प्रयोक्ताके मुग्धत्वकी ड्योंडी अलग पीट रहा है! विद्यावारिधिजी!

'मुग्धाहाव' नहीं, "मौग्ध्यहाव" कहिये। अन्यथा 'मुग्धाहाव'-के साथ 'मध्याहाव' और 'प्रौढाहाव" आदि भी मानने पड़ेंगे, समझे जनाब!

'हावों'का हाल लिखते हुए 'साहित्यपरिचय'के २६ पृष्ठ-पर आपने स्वयं 'मौग्ध्य' लिखा है, और नहीं तो उसे ही देख लीजिए। पर आपको इससे क्या, वहां साहित्यदर्पणमें 'मौग्ध्य' देखा वह नक़ल कर दिया, यहां 'मुग्धाहाव' देखा वैसा लिख दिया! नक़लमें अक़लको क्या दख़ल! लल्लूलालजी यदि भूलसे 'सुधादीधिति'का पदच्छेद करके 'सुधा'को 'कला'में मिला गये और 'दीधिति'का अर्थ 'चन्द्रमा' कर गये तो इसका कारण था, वह बेचारे संस्कृतके विद्वान् नहीं थे, उनसे ऐसी अशुद्धि हो जाना सम्भव और क्षन्तव्य है, परन्तु आपको तो अपनी "विद्वद्वृन्दशिरोमणि" "विद्यावारिधि"-की उपाधियोंका ध्यान रखना चाहिए था, ये बेचारी अपने जीमें क्या कहती होंगी, अपने कर्मोंको कोसती होंगी!

महाराज! शब्दोंका दुष्प्रयोग बुरा होता है, इससे बचना चाहिए, क्या आपने आचार्य्यदण्डीका यह श्लोक नहीं सुना? —

"गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥"

× × ×

१४—चितवन भोरे भायकी गोरे मुख मुसक्यान।

लगनि लटकि आली गरे चित खटकत नितआन॥३१२

"उसका भोरे भायसे देखना और गोरे मुखकी मुसकान लगना लगाना लटकके सखीके गरे यह बात नित्य मेरे शरीर में आन कर खटकती है।" 'स्वभावोक्ति' (पृ० १०९)

यहां 'भोरे' भाय 'गरे' इन्हें आपने यथास्थित ही रहने दिया है। ब्रजभाषासे आपको खास प्रेम है, 'तिंया' पिया, 'उरहना' इत्यादि शब्द बेअख़्त्यार जहां तहां आपके जादूरक़म क़लमसे टपक पड़े हैं!

'लगना लगाना लटकके सखी के गरे यह बात नित्य मेरे शरीरमें आन कर खटकती है।'

ज़रूर खटकती होगी, हमारे कानोंमें भी आपके यह शब्द खटक रहे हैं।

"लगना लगाना लटकके" कैसी अच्छी लटपटपंछीकी पूँछ है!

जी हां, क्या होता है!......"बात नित्य शरीरमें आन-कर खटकती है"। किसके शरीरमें खटकती है, यह तो आप-से पूछना ही फ़जूल है, इसका पता तो देंगे ही नहीं। अब-तक 'बात चित्तमें खटकती है' मनमें खटकती है," यह सुना करते थे, अब आपसे मालूम हुआ कि वह शरीरमें भी खटकती है। यह मालूम न हुआ कि वह सारे शरीरमें आनकर खटकती है या हाथ, पैर, सिर आदि किसी एक अंगमें? सब पुरानी बातोंमें फेरफार हो रहा है, विद्यावारिधिजीने सोचा कि शब्दोंके अर्थों और महावरोंमें भी तबदीली होनी चाहिए। इस-की 'इसलाह'का काम उन्होंने खुद अपने हाथमें लिया है। अब आगेको 'चित्त'का अर्थ 'शरीर' करना होगा, यह बात 'जीमें खटकती है' की जगह 'शरीरमें खटकती है', कहना होगा, इस बातको सब नोट करलें!

है भी तो ठीक, चित्तमें इतनी सामर्थ्य कहाँ, जो इस नित्यके खटकेको सह सके! अबतक जो हुआ, सो हुआ,

अब उसे छुट्टी मिलनी चाहिए. और यह काम शरीरके सपुर्द होना चाहिए।

एक बात और है। कोई चीज़ चित्तमें खटक भी कैसे सकती है? यदि कोई किसीके ढेला या कंकर मारता है तो वह शरीरमें ही तो जाकर लगती है और खटकती है! चित्तसे क्या वास्ता?

न जाने विहारीलालजी 'चित खटकत' कैसे लिख गये! यही क्यों, इससे अगले दोहेमें भी तो उन्होंने यही कहा है—

"छण-छणमें 'खटकत सुहिय' खरी भीरमें जात।
कही जु चलि विनही चितै ओठनही में बात॥" ३१३॥

"छण छणमें वह बाला मेरे मनमें खटकती है, बड़ी भीर में जाते हुए वह देखकर होठो ही में बात कह कर चली। "स्मृति" (पृ० १०६)

ऐसा मालूम होता है कि पुनरुक्तिसे बचनेके लिए विद्या-वारिधिजीने इस दूसरे दोहेकी टीकामें, "मेरे मनमें खटकती है" लिख दिया है। "शरीरमें खटकती है तो पहले आ ही चुका था। सबही बातोंका ध्यान रखना पड़ता है! अथवा यह बात होगी कि नित्यके खटकनेसे शरीर जर्जर हो गया, उसमें छिद्र हो गये। अतः उन छिद्रोंमें होकर बात अब मनमें खटकने लगी! जिस प्रकार घड़ेमें बार बार कंकर मारनेसे जब छेद हो जाते हैं तो घड़ेके अन्दरकी चीज़पर कंकर जा लगती है! इस प्रकार इस विरोधका परिहार हो सकता है!

× × ×

१५—अपनी गरज न बोलियत, कहा निहोरो तोहि।
तू प्यारो मो जीयको मोजी, प्यारो मोहि॥२५१॥

* * *

"अपनी गरजसे बोलते हैं इसमें मेरा क्या निहोरा है तुम मेरे जीके प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है। काव्य-लिंग।" (पृ० ११८)

मूलपाठमें काँट छाँट किये बिना श्रीमान्‌को सब्र नहीं आता। यह कुटेव छूटनी कठिन है। यहाँ 'गरजनि'का पदच्छेद करके और 'इकार' उड़ाकर 'गरज न' ही गढ़ दिया ! तथा ४ थे, चरणमें 'मो जिय' को 'मोजी', बनाकर कामा लगा दिया ! मोजी'के आगेका यह 'कामा' शायद 'जिय'के 'यकार'की यादगार है !

'कहा निहोरोतोहि'का अर्थ करते हैं —"इसमें मरा क्या निहोरा है" यह 'मरा' स्त्रियोंकी गाली है। स्त्रियाँ प्रायः 'जला' 'मरा' बोला करती हैं। विद्यावारिधिजीने इसे शायद इसलिए रक्खा है जिससे यह पता चल जाय कि यह किसका वचन है। क्योंकि वैसे तो किसी दोहेके अर्थमें आप यह लिखते ही नहीं, कि कौन किससे कह रहा है, सिर्फ़ क्रियाओं और महावरों द्वाराही वक्ताका पता चलाया जा सकता है, सो वह भी यदि भाग्यसे कहीं आगये तो। सो इस 'मरा'-से मालूम हुआ कि नायिका नायकसे कह रही है कि— तुम मेरे जी को प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है—"

बहुत ठीक है, ऐसा होना ही चाहिए, इसमें किसीका क्या निहोरा है, ऐसा कौन निष्ठुर होगा जो जीसे प्यार करनेवालेको प्यार न करे; वा उससे न बोले, यह तो एक बहुत मामूली और मोटी बात है। फिर न मालूम कविविहारीलालजीको यह क्या सूझी कि वह ऐसी साधारण बातके लिए भी दोहा बनाने बैठ गये ! क्या ऐसी ऐसी आम बातोंके लिए भी काव्य बनाया जाया करता है ? इसमें (आपके काव्यलक्षणानुसार)

कौनसा "........रस सुख लोकोत्तर चमत्कार......" है कि इसे इस दशांमें काव्य कहा जाय? यह भी कोई बात नहीं, कि किसीसे बोलनेके लिए इसीकी ज़रूरत हो कि वह बोलनेवाले-को जीसे चाहता है। उदासीनताकी दशामें और भले आदमियोंमें दुश्मनीकी हालतमें भी, आपसमें बोल चाल बन्द नहीं होती। इसके अतिरिक्त बोलनेवालीका यह कहना कि 'मैं अपनी गरजसे बोलती हूँ' इस दशामें व्यर्थ है, क्योंकि जब एक दूसरेको बराबर जीसे चाहते हैं तो बोलनेमें दोनोंकी 'ग़र्ज़ेमुश्तर्का' हुई, 'इसमें एककी ग़रज़ बतलाना सरासर ख़िलाफ़ क़ानून है। चाहे आप इस बातको किसी वकीलसे पूछ देखिए। दोहेकी यह दुर्दशा करके भी आप फ़र्माते हैं— "काव्यलिङ्ग" विद्यावारिधिजी! इसमें तो आपने काव्यत्व-की एक बूँद भी नहीं छोड़ी, यह तो सूखे छिलके रह गये! अब इन कोरे शब्दोंमें आप कहाँ काव्यका लिङ्ग ढूँढ रहे हैं? कृपा कीजिए, काव्यवाव्यका नाम लेकर सहृदय काव्यरसि-कोंके साथ मज़ाक़ न कीजिए, कविताके ज़ख़्मोंपर नमक न छिड़किए। आपकी टीकाकी प्रचण्ड-ज्वालाने काव्य-लतिका भस्म कर डाली। अब यहाँ 'काव्यलिङ्ग' कहाँ है! हाय ग़ालिब! तुमने यह शेर इसी मौक़ेके लिए तो नहीं कहा था!—

"जला है जहाँ जिस्म दिल भी जल गया होगा।
कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू क्या है?"

* * *

सहृदय पाठकगण! आपने देखा बिहारीकी इस अत्यु-त्कृष्ट उक्तिको किस प्रकार जला कर राख किया है!

यहाँ रोषभावकी शान्ति और औत्सुक्य भावके उदय होनेपर कलहान्तरिकाकी, अथवा प्रणयकुपित नायकको मनाती हुई नायिकाकी उक्ति है—अभिप्राय यह है कि मैं अपनी ग़रज़से बोलती हूँ. कुछ तुझपर अहसान नहीं करती। जो मुझे अपना 'जी' प्यारा न होता और जीको तू प्यारा न होता तो तेरी ऐसी करतूतोंको देखकर भी, क्यों तुझसे बोलती ! तुझसे बोले बिना 'जी'से रहा नहीं जाता, उसकी ख़ातिर सब बातोंको भूल कर, बोलना ही पड़ता है। जान बड़ी प्यारी चीज़ है, उसके लिए सब उपाय करने पड़ते हैं।

इसी दोहेके अर्थवाली एक गाथा "गाथासप्तशती"में है—

"बालअ तमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम्।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ (३।१५)
(बालक ! त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम्।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि)"

* * *

अर्थ—हे बालक—परपीड़ानभिज्ञ ! तुझसे ज़्यादह मुझे अपनी ही जान प्यारी है, वह तेरे बिना नहीं बचेगी, इसलिए तुझ रूठे हुएको मना रही हूँ।

इन दोनोंके भावमें कितना सादृश्य है !

× × ×

१६—औंधाई सीसी सुलखि, बिरहबरी बिललात।
बीचै सूख गुलाब गो, छीटो छुई न गात ॥२८२॥

"हे प्रीतम ! एक सखीने जो उलट कर सीसी उसके शिरपर डाली अर्थात् विरहसे विकल हो विल्लाते हुए सीसी

लुढ़काली (?) बीचमें ही गुलाब सूख गया उसके शरीरमें छींट भी न लगी। अयुक्तालंकार।" (पृष्ठ १२८)

आपने भी अर्थज्ञानके विरहसे विकल हो 'विल्लाते' (?) हुए विहारीके काव्यामृत कटोरेको इस प्रकार 'लुढ़काला' (?) है कि काव्यप्रेमियोंतक उसकी एक छींट भी न पहुँच सकी, सबका सब काव्यरस बीचमें ही सूख गया, या धूलमें मिल गया। काव्यामृत-पिपासु देखते ही रह गये!

विद्यावारिधे! यह आप क्या कह रहे हैं? ज़रा सोचिए तो सही! 'हे प्रीतम!' कहकर नायकको कौन सम्बोधित कर रही है! नायिका स्वयं तो कह नहीं रही, क्योंकि 'उसके शरीरपर तो सीसी 'लुढ़काली' (?) गयी है'। सखी नायिका-का विरह नायकसे निवेदन कर रही है, पर सखी नायकको 'हे प्रीतम!' नहीं कहा करती। सम्बोधनके इस अनौचित्य-पर आपने ध्यान नहीं दिया! और "अर्थात् विरहसे विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढ़काली" इसका क्या मतलब है? क्या 'सीसी लुढ़कालनेवाली' (?) स्वयं विरहसे विकल हो विल्ला (?) रही है? उसकी ऐसी दशा क्यों हैं? उसे किसका विरह है? फिर उसने वह 'सीसी' अपने ही ऊपर न लुढ़कालकर (?) किसी दूसरीके ऊपर क्यों लुढ़काली! विरहकी विकलता ही जो ठहरी! बेचारी 'लुढ़कालना' अपने ऊपर चाहती होगी, जल्दीमें घबराकर औरके ऊपर लुढ़का दिया। पर बीचमें ही गुलाब क्यों सूख गया, इसका कोई कारण ऐसी दशामें प्रतीत नहीं होता। यह 'अयुक्त' बात हुई इसीलिए शायद आपने यहाँ "अयुक्तालंकार" लिखा है!

साहित्य-शास्त्रमें 'अत्युक्ति' और "अतिशयोक्ति" अलंकार तो हैं, पर यह "अयुक्तालंकार" आजतक न सुना था!

लल्लूलालजीने तो 'अत्युक्ति'मेंकी 'इ'कार उड़ाकर उसे 'अत्युक्तालंकार' बनाया और श्रीमान् विद्यावारिधिजीने उसमेंसे 'तकार'की मिलावटको भी निकाल बाहर किया और एक खासा नये ढंगका 'अयुक्तालंकार' गढ़कर सतसईके गले मढ़ दिया। पुराने ओल्डफ़ैशनके अलङ्कार आजकलकी सुशिक्षित सोसायटीमें रद्दी और भद्दे हो गये, इसीलिए हमारे विद्यावारिधिजी 'लेखालंकार' 'काकोक्ति' 'भ्रान्तालंकार' 'अयुक्तालंकार' इत्यादि न्यूफ़ैशनके नये नये अलंकारोंसे श्रीमती सतसईको "सर्वाङ्गभूषित" कर रहे हैं!

दोहेका साफ अर्थ यह है कि नायिकाको विरहाग्निसे जलती और विलाप करती हुई छटपटाती देखकर, तापशान्तिके लिए उसके ऊपर गुलाबकी शीशी उलटी की, परन्तु शरीरसे जो विरहाग्निकी लपटें निकल रहीं थीं, उनसे गुलाबजल बीच-हीमें सूख गया, शरीरतक एक भी बूँद न पहुँची!

विरहतापका वर्णन विहारीलालने जिस अपूर्वता अधिकता और अतिशयोक्तिसे अपने काव्यमें किया है, वह बड़ा ही विचित्र है। इस विषयमें वह सबको मात कर गये हैं। *

× × ×

१७—बिरहबरी लख जोगननु, कह्यो सो उहि कैबार।

अरी आव भज भीतरे, बरसत आज अँगार ॥३८५॥

"बिरहबरीने पटबीजनोंको देखकर कैबार यह बात सखीसे कही "अरी आउ भजिया" (?) आज अँगारे भीतर ही बरसते हैं।" (पृष्ठ १२६)

*अन्य कवियोंकी इस विषयकी उक्तियोंके साथ 'विहारीका विरह-वर्णन' (१५६ पृष्ठसे १९४ पृष्ठ तक) पाठक पढ़ ही चुके हैं।

महाराज ! दया कीजिए, विहारीकी कवितापर यह अनर्थरूप अँगारे न बरसाइए, इसे जलाकर आपके हाथ क्या आ जायगा ? अर्थ न हुआ करे तो मूलको तो न बिगाड़ा करो ! 'लखि'का 'लख' 'जीगँनिनु'का 'जोगननु' और 'भजि' का 'भज' आपने किसके कहनेसे किया है ? और कृपा-निधान ! मेंह और ओलोंकी तरह अँगार भी यदि बरसें तो बाहर ही बरसें । (पटे हुए) मकानोंके भीतर नहीं । यहाँ आपको 'भ्रान्ति' हो गई । "भीतरे"का सम्बन्ध "अरी आव भजि"के साथ है । 'बरसत'के साथ नहीं ! समझे हुजूर ! पुरनूर !

कृष्णकविने जो इस दोहेपर कवित्त लिखा है उसका यह अन्तिम चरण देखिये कैसा अच्छा है..............

"नीचेतें उठाय नारि डीठि परे जीगना सु,
आगि आगि आगि कै कै भाज गई भौनमें ।"

× × ×

१८—कहे जु वचन वियोगिनी, बिरहाविकल अकुलाय ।
किर्येनको अंसुआंसहित सोवत (?) बोल सुनाय॥२९४॥

* * *

"उस वियोगिनीने जो विरहसे व्याकुल हो" चिल्लाकर वचन कहे हैं उनको सोनेको जातेमें सुनाकर किसको आँसू सहित नहीं किया अर्थात् उसके शयन समय उसके दुःखकी कथाको सुनकर सब रोने लगते हैं" (पृ० १२१)

आपके श्रीमुखसे भी विहारीके काव्यकी दुर्दशाको सुनकर सब सहृदय रोने लगते हैं !

मूलके "सुवा सु बोल सुनाय"को श्रीमान्‌ने सोवत (?) बोल सुनाय" बना दिया ! इतनेपर भी दावा है कि.........

'कटोरेमें कीचड़ नहीं मिलाई गई।' 'अकुलाय—'घबराकर' का अर्थ आप 'चिल्ला कर' करते हैं।

'उस वियोगिनीने······तो खैर 'चिल्लाकर' या घबराकर वचन कहे हैं, पर "उनको सोनेको जातेमें सुना कर" किसने सुनाकर? उस वियोगिनीने ही सुना कर या किसी औरने! और ('उनको सोनेको जातेमें सुनाकर' क्या अच्छी इबारत है!) 'किनको' सुना कर? उन्हीं बचनोंको जो दिनमें' चिल्ला चिल्ला कर' कहे थे? मालूम होता है, वह 'वियोगिनी' दिनमें (या जागतेमें!) लखनऊके मरसिया पढ़नेवालोंकी तरह' खूब चिल्ला चिल्लाकर जिन वचनोंका अभ्यास करती है, उनको ही 'सोनेको जातेमें' सुनाकर सबको रुलाती है! उसके शयनके समय उसके दुःखकी कथा सुननेको, रोनेवालोंकी एक मजलिस लगती है! रोज़ रातको दुःखकी कथा बैठती है!!

"जमा करते हो क्यों रक़ीबों को
इक तमाशा हुआ, गिला न हुआ"!

* * *

यहाँ विद्यावारिधिजीके हाथसे 'अलंकार' न जाने कैसे छूट गया! आश्चर्य्य है! इस बातको तो वह भूलनेवाले न थे! कविताकी अन्त्येष्टि करके भी वह उसके शरीरसे अलङ्कार तो उतारा नहीं करते थे! यह आज नयी बात कैसे हो गयी! फिर क्या 'कहे जु वचन वियोगिनी'—इस कविताके पास कोई भी 'अलङ्कार' नहीं था! जिस विहारीकी प्रत्येक कविताके पास एक एक छोड़ कई कई अलङ्कार हैं, 'अलङ्कारोंकी संसृष्टि" है, उसकी यह कविता अलङ्कारशून्य कैसे रह गयी! राजाके घर मोतियोंका काल कैसे पड़ गया!

हरिकवि और लल्लूलाल कवि तो कहते हैं कि इस कविताके पास भी एक अलङ्कार था, जो उन्होंने अपनी आँखों देखा था ! वह कहाँ गया ? किसने छीन लिया ?

देखिए हरिकवि इसके विषयमें क्या कहते हैं, उन्हींकी ज़बानी सुनिए—

"कहे जु इति। सखी सों सखी। एकान्तमें कहे जो बचन वियोगिनीने। विरह सों विकल 'दुखी होय कै अकुलायकैं, जो वचन वियोगिनीने कहे। कौनकों आंसू सहित नहिं किये, किये हो, यह अर्थ काकुस्वरसों। 'सुवाने सुबोल सुनाय' सुवाने सु कहिए वे ही बोल सुनाय। ताहि बोल कौं सुनाय कैं। सुवाको बोल कारन, आँसू कारज। हेत्वलङ्कार ॥" (हरिप्रकाश टीका)

और भी आपने सुना ? हरिजी कहते हैं कि वियोगिनीने तो 'सोनेको (या चांदीको ?) जातेमें' दुःखकी कथा किन्हीं सबको नहीं सुनाई थी, वह बेचारी तो एकान्तमें बैठ कर चुपकेसे रोई थी ! विरहकी विकलतासे घबराकर बेअख़्त्यार उसके दुखी दिलसे कुछ वचन निकल गये, उसने अपने 'शयन समय' किसीको रुलानेके लिए दुःखकी कथा नहीं कही थी ! पर बदक़िस्मतीसे वहाँ (एकान्त स्थानमें) पिंजरेमें बैठे 'गङ्गाराम' सुन रहे थे, उन हज़रतने वे सुने हुए वचन दोहरा कर सबके सामने भाँडा फोड़ दिया ! और विद्यावारिधिजीने व्यर्थही बेचारी वियोगिनीपर सबके सामने निर्लज्जतासे दुःखड़ा रोनेका इलज़ाम लगा दिया !

'क़ाबिले-अफ़सोस है, उस शख़्सकी रुसवाई भी,
परदेही परदेमें कम्बख़्त जो रुसवा हो जाय !!"

× × ×

१९—कोटि यतन कोऊ करो, तनुकी तपति न जाय।
*जौं लगि भीजै चीरलौं रहै न यों (?) लपटाय * ४०८*

* * *

"प्यारी कोटि यतन करो परन्तु प्यारेके तनुकी तपन नहीं जायगी जबतक भीजे चीरके समान तुम्हारे शरीरमें लिपट कर न रहै। पूर्णोपमा—नायक उपमा (?) चीर उपमेय लौं वाचक लिपटना धम॥" (पृ० १३६)

अफ़सोस! बड़ा सख़्त मर्ज़ है! असाध्य रोग है!! "प्यारी कोटि यतन करो परन्तु प्यारे की तनु की तपन नहीं जायगी"—क्यों महाराज! फिर यह 'तपन' कैसे जायगी? किसी डाक्टरको बुलाया जाय? या यूनानी हकीमको! या आपकी उस 'टुट कहेरी'से भूतकी छूत दूर कराई जाय? कुछ तो बतलाइए! आपकी रायमें 'प्यारी' और 'प्यारे'के वश-का तो रोग है नहीं? प्यारी करोड़ उपाय करो' उसके किये तो कुछ होगा नहीं? यह 'तपन' कैसी है? कहीं ज्येष्ठ आषाढ़की गरम लुएं तो नहीं लग गयी हैं?

---

* दोहे का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

"कोटि [रि] जतन कोऊ करो तनकी तपति न जाय।
जौ लौं भीजे चीर लौं रहै न प्यौ लपटाय॥"

विद्यावारिधिजीने कई शब्दों को बदल दिया है। ख़ैर, और जो कुछ किया है वह किया ही है, पर "प्यौ" का 'यों' (?) न जाने क्यों किया है! शायद इससे शरीरमें लिपटनेका प्रकार विवक्षित है!

"मैंने कहा कि रन्जो ग़म मिटते हैं किस तरह कहो,
सीना लगाके सीने से उसने बता दिया कि यों"

'कोऊ' का अर्थ किया है 'प्यारी' और 'यों' (?) का प्यारे!

हाँ, आपने यह क्या फ़र्माया—"जबतक भीजे चीरके समान तुम्हारे शरीरमें लिपट कर न रहै"—आपके इस 'प्रयोग' (नुसखे) की विधि कुछ समझमें नहीं आयी? यह 'भीजे चीरके समान' 'तुम्हारे' पदवाच्य कौन है? और इसके 'शरीर' में लिपटकर, कौन न रहे? "पूर्णोपमा" (?) या बावाजीकी 'विभूति' (?) आपका निर्दिष्ट यह 'तनुतपनोपशमन' उपाय तो 'लटकमेलक' के 'जन्तुकेतु' के इस प्रयोगको भी मात कर रहा है! रोग, निदान, औषध और वैद्य, सब ही विलक्षण हैं!—

'यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥"

* * *

और आपकी यह "पूर्णोपमा" तो "सर्वोपमादेबे योग्य" है!

हाँ, विद्यावारिधिजी महाराज! "पूर्णोपमा नायक उपमा (?) चीर उपमेय"·········यह 'नायक' काहेकी उपमा (?) है? इसी 'पूर्णोपमा' की? और कौनसी 'उपमा' है? यह 'लुप्तनकार' 'उपमान' तो नहीं है? अच्छा, अब समझे, *"नायक, उपमान"* *'चीर उपमेय'*—यह मतलब! बहुत ठीक, बहुत खूब!

महाराजकी जय रहे, यह तो अब "प्रतीप" * हो गया!! 'पूर्णोपमा' कहाँ रही! समझे कि नहीं? सुनिए—

"प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्"।

---

* 'प्रतीप'—उलटा हो गया। 'प्रतीपालङ्कार' नहीं। 'अलङ्कार' तो इस दशामें कोई भी नहीं रहा! हाँ, "पूर्णोपमा" का उलट पुलट करके सत्यानाश कर डाला है!

अर्थात् जहाँ 'उपमान'को उपमेय बना दिया जाय वह 'प्रतीपालङ्कार' है। सो आप देखिए कि आपके यहाँ 'उपमान'-का उपमेय बन गया है या नहीं! जिस 'लालचन्द्रिका'से आपने यह "पूर्णोपमा" नक़ल की है, पहले वहाँसे इसका अर्थ समझ लीजिए—

"अंतरंगिनी सखीका वचन सखीसे। कड़ोड़ उपाय कोई करो नायकाके शरीर की जलन न जायगी। जब तक भीगे वस्त्रकी भाँति रहै नही है नायक लिपट कर" कामके आधिक्यसे प्रौढाका भी वचन सखीसे संभवे "पूर्णोपमालंकार—नायक उपमेय, भीगा चीर उपमान, लौं वाचक, औ लिपटना धर्म ॥"

देखा आपने! आपकी पूर्णोपमा" में और इसमें कितना भेद है? यहाँ 'भीगा चीर' उपमान है आपने उसे उपमेय बना दिया और 'नायक' जो 'उपमेय' है उसे उपमा(न)' कर दिया है! इतना उलटा (प्रतीप) कर देनेपर भी आप उसे "पूर्णोपमा" ही बतलाये जाते हैं! इसे 'तोड़ मोड़-कर अलङ्कारोंकी सूरत बिगाड़ना, कहते हैं या क्या???

× × ×

२०—तजो (?) आंच अति बिरहकी, रह्यो प्रेमरस भीज।

नयनानिके मग जल बहै, हियो पसीज पसीज। २८॥

* * *

"हे सखी! अब इसका शरीर विरहकी आँचसे तचा है और प्रेमके रसमें भीजकर हृदयसे पसीज पसीज कर नेत्रोंके मार्गसे जल बहता है। समासोक्ति।" (पृष्ठ १४२)

हा भगवति विहारि-कविते! शोच्यासि, यदेवं तपति समुच्छिन्नाज्ञानान्धकारे प्रकाशितदिक्चक्रवाले ललाटन्तपे ज्ञान-

सहस्रांशौ, परित्रायतां हन्यमाना तपस्विनीत्यूर्ध्वबाहु समाक्रन्दति त्वद्भक्तवृन्दे, प्रचरति च दुःसाहसिकहृदयविकम्पने महामहिमशालि-चक्रवर्ति-जार्जमहाप्रभुशासनचक्रे, सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषयन्ती, त्वमकरुणमुरोविदारं व्यापाद्यसे !! परमेशः परलोकप्रस्थितायास्ते सद्गतिं विदध्यादित्याशिषमन्तरा किमन्यद्ददामः शोकशुष्कहृदया मन्दभाग्या वयम् !!!

हा विहारीलाल ! किस बुरे मुहूर्तमें तुम यह कविता करने बैठे थे ! क्या तुमने भी किसी जन्ममें किसीकी कविताको इसी प्रकार भ्रष्ट किया था. जिसका यह बदला अब तुमसे लिया जा रहा है ! ज़रूर कुछ ऐसी ही बात है, अन्यथा तुम्हारी अमृतरसनिष्पन्दिनी सूक्ति-लतापर इस प्रकार कुठार-प्रहार करके उसे अनर्थाग्निकी ज्वालामें न झोंका जाता !

विद्यावारिधिजी ! सच बतलाइए आप इस कविताके पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हैं ? इस गरीबने आपका क्या बिगाड़ा है जो आप इसे इस तरह बिगाड़ रहे हैं ! साधु पुरुषोंका यदि किसीके साथ कुछ वैर भी होता है तो भी वह इस तरह उसके प्राणोंके ग्राहक नहीं हो जाया करते !

बुरा मानने और नाराज़ होनेकी बात नहीं, ज़रा शान्त-चित्त होकर सोचिये कि यदि श्रीमान् विद्वद्वृन्दशिरोमणि, विद्यावारिधिजी, कोई अत्युत्कृष्ट कविता लिखें, ग़लती हुई, माफ़ कीजिए, मेरे शब्द वापस दीजिये, ऐसा भला आप क्यों करने लगे, अच्छा तो यों समझिए कि श्रीमान्, अपने जन्म भरके परिश्रमसे बहुतसा द्रव्य व्यय करके सर्वसाधारणके उपयोगार्थ "अतिललित, मधुर, मुग्ध" पुष्पफलोंसे सर्वाङ्गभूषित कोई सुरम्य उद्यान (बागीचा) लगावें, जिसके पुष्प और

फलोंसे अनेक प्राणियोंका उपकार हो रहा हो अब यदि कोई महापुरुष दुरुस्त करनेके बहानेसे उसे उखाड़ पछाड़ और काँट छाँट करके ईंधन बनाने लगे और फलपुष्प-समन्वित वृक्षोंकी जगह बबूल और कटेलीके कांटेदार झाड़ बोने लगे, तो कितने अनर्थ और शोककी बात है! प्रत्येक सहृदय पुरुष-को इससे क्षोभ और दुःख होगा कि नहीं?

वह भौंरे जो उसके पुष्पोंका मकरन्द पान करके मस्त रहते थे, वह पक्षिगण जो उसके अमृतोपम फलोंको खाकर इन्द्रके उद्यानको भी तुच्छ समझते थे, उस बाग़ीचा बरबाद करनेवालेकी जानको क्या दुआ देंगे? उनकी सन्तप्त आत्मा-का सब्र किसपै पड़ेगा?

क्या इस दुर्घटनासे आपके हृदयपर आघात न पहुँचेगा? पहुँचना तो ज़रूर चाहिए, सबकी यही राय है!

कोई विहारीकी आत्मासे पूछे, 'न्यूटन'को अपने उस अमूल्य ग्रन्थके जलनेपर इतना दुःख न हुआ होगा, जितना विहारीको अपनी कविताके इस संहारपर हो रहा होगा!

न्यूटनने अपनी उस क्षतिको किसी प्रकार अन्य ग्रन्थ लिखकर पूरा भी कर दिया था, पर विहारीको अब कहाँसे लायेंगे?

हन्त कविते देवि! निराश्रयासि, कमाक्रन्दामः। कस्ते साहाय्यं विधास्यति? निन्द निजभागधेयं! अलङ्घनीया नियतिः!

सहृदयकाव्यरसिकगण! यह दोहा कविकल्पनाका अलौकिक और अत्युत्कृष्ट नमूना है, कविकी अपूर्व प्रतिभा-का चमकता हुआ चमत्कार है। कवितादेवीका मनोमोहक सुन्दर चित्र है। वाग्देवीका मुखदर्पण है!

ऐसीही कविताके विषयमें यह कहा गया है—

"ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टलोका कवयितुः कृतिः ॥"

× × ×

ऐसी ऐसी अनूठी उक्तियोंके कारणही 'सतसई' विदग्ध काव्यप्रेमियोंके कण्ठका कण्ठा और हृदयका रत्नहार बनी हुई है, या कभी बनी हुई थी, कहना ठीक होगा !

जैसा उत्कृष्टतम यह दोहा है, ऐसी ही निकृष्टतम इसकी यह टीका है। यही क्यों, जहाँ मारा है, विद्यावारिधिजीने रगपर नश्तर मारा है ! सतसईमें जो जितने अच्छे दोहे हैं, उतनीही उनकी अधिक दुर्दशा की गयी है, कोई किसे किसे रोवे !

"हैरां हूँ दिलको रोऊँ कि पीटूँ जिगर को मैं,
मक़दूर हो तो साथ रक्खूँ नौहागर को मैं"।

(ग़ालिब)

विद्यावारिधिजीकी सताई हुई सतसईके उत्तम पद्योंको रोनेके लिए तो "नौहागरों"की एक पलटन दरकार है ! एक आध * 'नौहागर'को साथ रखनेसे काम न चलेगा।

दोहेका शुद्ध पाठ और अर्थ इस प्रकार है—

"तच्यो आँच अति बिरहकी रह्यो प्रेम रस भीज ।
नैननिके मग जल बहै हियो पसीज पसीज ॥"

कोई किसीके विरहमें रो रहा है (या रो रही है) आँसू टपाटप गिर रहे हैं, उसे दिखाकर कोई अपने साथीसे कहता है। अथवा रोनेवाला (विरही) स्वयं किसीके पूछनेपर कि क्यों रोते हो, अपने बहते हुए आँसुओंके बारेमें कहता है—

प्रेमके रसमें भीगा हुआ और विरहकी तेज़ आँचसे बचा

---

* नौहागर—मातम करनेवाला—रोनेवाला ।

(तपा) हुआ पसीज पसीजकर यह हृदय पानीके रूपमें आँखों-के रास्तेसे बह रहा है !!

जब किसी चीज़का अर्क़ निकालना होता है तो (यदि वह चीज़ सूखी हो) उसे भिगोकर आँचपर चढ़ा देते हैं और नलकेसे अर्क़ निकालते हैं। इस अप्रस्तुत पदार्थकी प्रतीति नेत्रोंसे बहते हुए आँसूरूप प्रस्तुत पदार्थसे होती है। इसलिए इस लक्षणके अनुसार—

"समासोक्तिः परिस्फूर्त्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य यत् ॥"

पूर्वोक्त दोहेमें 'समासोक्ति' अलंकार है।

परन्तु विद्यावारिधिजी"...........शरीर...........तचा है।............प्रेमके रसमें भीज कर हृदयसे पसीज पसीज कर नेत्रोंके मार्गसे जल बहता है........ ..." यह विचित्र अर्थ करके भी 'समासोक्ति' बता रहे हैं! "शरीर" तचा है ....प्रेमके रसमें भीगकर...........पानी बहता है" मतलब यह कि सूखा पानी नहीं बहता, किन्तु वह प्रेमके रसमें भीगकर बहता है (?) उस पानीका 'हृदय'से सिर्फ़ इतना ही वास्ता है कि तचे हुए शरीरका पानी (पसीना!) उसमें आकर जमा होता है, और वहाँ औटकर फ़िल्टर होता है, बस फिर आँखोंके वाटरपम्पसे बाहर निकल जाता है !!!

ठीक है, इस दशामें भी समासोक्ति अलङ्कार बना ही हुआ है। क्योंकि आँखोंसे पसीना या पानी निकलनेरूप प्रस्तुतपदार्थसे—'वाटरवर्क्स'से नल द्वारा निकलते हुए जल-रूप अप्रस्तुत पदार्थकी प्रतीति होती है !!

पर विद्यावारिधिजीकी 'समासोक्ति'में और विहारीलाल-की समासोक्तिमें जो अन्तर है वह स्पष्ट ही है।

इस दोहेपर 'सुकवि' पण्डित अम्बिकादत्त व्यासकी कुण्डलिया पढ़ने लायक़ है, दोहेके साथ मिलाकर इसे पढ़िए—

"हियो पसीज पसीज हाय दृगद्वार बहत है,
काजर नहिं जरि गये अधिक रँग स्याम गहत है।
'सुकवि' बूंद मिस टूक टूक ह्वै निकरि चल्यो सब,
हाय याहीमें प्रीतम है यह तच्यो आँच अब॥"

विहारीके दोहेका समानार्थक किसी संस्कृत कविका यह पद्य है—

"अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चैः
सखि ! किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनङ्गाङ्गारसङ्गाद्विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते ! नैतदश्रु॥"

* * *

अर्थ—'तू नित्यप्रति बहुत रोती रहती है' ऐसा कहकर हे सखी ! तू मुझे व्यर्थ क्यों बदनाम करती है ! कामके अङ्गारोंसे पिघल पिघलकर यह हृदय पानी होकर बाहर निकल रहा है, हे सुस्थिते ! (विरहपीड़ानभिज्ञे !) यह आँसू नहीं हैं। *

(" नैनानि स्यामको रूप रह्यो सोउ
जात बह्यो अँसुवानकी धारै ")

* विरहिणीके रोनेपर किसीकी यह उत्प्रेक्षा भी बड़ी बढ़िया है—

"अङ्गानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुबिन्दु-
धाराभिरुष्णमभिषिञ्चति हृत्प्रदेशम्॥"

किसी फ़ारसी कविका यह शेर भी (इसी मतलबका) सुनने लायक़ है—

"च मेपुर्सी ज़ हाले मा दिले-ग़मदीदाअत चूँ शुद् ।
दिलम् शुद् ख़ूंनो, ख़ूं शुद् आबो आब अज़ चश्म बेरूं शुद् "

* * *

इसका अभिप्राय यह है कि—

"तेरी जुदाईका ग़म खाये हुए मेरे दिलका हाल क्या पूछता है ? दिलका ख़ून हुआ, वह ख़ून पानी बना, और पानी आँखोंके रास्तेसे बाहर निकल गया" झगड़ा चुका। *

प्रायः ऐसा होता है कि भिन्नभाषा-भाषी और भिन्न-देशनिवासी कवियोंके भाव और विचार बहुधा आपसमें इस प्रकार मिल जाते हैं कि देखकर आश्चर्य्य होता है; और ऐसा मालूम होने लगता है कि एक दूसरेकी कापी कर रहा है। अक्सर कुकवि तो दूसरेका अर्थ चुराकर भी इस प्रकारका सादृश्य दिखा देते हैं; परन्तु विहारी जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली महाकवियोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। किसी एक विषयपर दो कवियोंके भाव-सादृश्यको जो स्वतः ही अचानक और अनायासरूपसे कविके प्रतिभा-पटपर अङ्कित हो प्रकट हो जाते हैं, फ़ारसीमें 'तवारुद्' कहते हैं। ऐसे स्थल 'सतसई'में भी कई हैं, संस्कृत और उर्दू फ़ारसीके पद्य, सतसईके दोहोंसे कहीं कहीं टकरा जाते हैं सही, पर वह बात, वह लक्ष्यभेदिता

---

* महाकवि "ज़ौक़" ने भी इसी ख्यालको इस शेरमें बांधा है—
"रवां है शमाके अश्कों में चरबी ख़ाक घुल घुल कर ।
बहा जाता है दिल ख़ूं होके अपना अश्कबारीसे ॥"

और दृढ़पातिता जो इन 'नावकके तीरों'में है, दूसरी जगह कम है। ज़रा सतसई इस समय संहारसे बच जाय, विहारी-का यह काव्य-चन्द्र इस अनर्थोपरागसे छूट जाय, तो इसपर विस्तृतरूपसे हम कभी फिर लिखेंगे, और विहारीकी अलौकिक कल्पनाके उत्कृष्ट उदाहरण सहृदय काव्य मर्मज्ञोंके सामने रक्खेंगे।

("सतसईके सौष्ठव"में इस प्रकारके अनेक उदाहरण पाठक पढ़ चुके हैं।)

× × ×

२१—* *नेक हँसोही बान तजि, लखो परत मुख नीठि।*

चौका चमकनि चौंधमें, परत चौंधसी दीठि ॥४८३॥

"सखी तू नेक हँसनेका स्वभाव छोड़दे तेरा मुख नजर भरकर देखा जाय है, दाँतके चौकेकी चमकसे हमारी दृष्टि चौंधाईसी हो जाती है। काव्यलिंग।" (पृ० १५९)

विद्यावारिधिजी! बुरा माननेकी बात नहीं, सच बतला-इए, टीका करते समय आपका ध्यान कहाँ रहता है? कुछ आप होशहवाससे भी काम लेते हैं या नहीं? क़लम उठाया, और आँख मींचकर जो जीमें आया सो लिख मारा! और न जाने यह अलङ्कारनिर्देशकी सनक आपके दिमागमें क्यों समा गयी है! कविताका गला घोंट कर भी अलंकार उसके गले मढ़ देते हैं! न मालूम इस "मृतमण्डन"से आपने क्या लाभ विचारा है!

ज़रा सोचनेकी है, आपके इस अपूर्व अर्थकी मौजूदगी-

---

* शुद्धपाठ इस प्रकार है—"नैकु हँसौही बानि तजि, लख्यौ परतु मुख नीठि"

में यहां 'काव्यलिङ्ग' किस प्रकार ठहर सकता है ! इस दशा में तो यह दोहा 'बावलेकी बड़' है, और कुछ भी नहीं, कुछ समझमें नहीं आता कि जब "......मुख नजर भर कर देखा जाय है," तो वह "नेक(बद् भी नहीं ?)हँसनेका स्वभाव क्यों छोड़ दे ! और जब "दाँतके चौकेकी चमकसे आपकी (देखनेवालेकी) दृष्टि चौंधाईसी हो जाती है" तब उसका "मुख नजर भरकर" कैसे देखा जाय है ! और फिर इस विचित्र अर्थमें * 'काव्यलिङ्ग' किधरको समाय है ?

जहाँसे आपने 'काव्यलिङ्ग' लिया है, वहीं इसका अर्थ भी देखिए—

"सखीका वचन नायकासे, नायकके साक्षात् । तनक हँसनेका सुभाव छोड़ दे, देखा जाता है तेरा मुँह नीठ करके। दाँतके चौकेकी चमकसे चौंधाईसी हो जाती है दृष्टि हमारी। हाँसीको उपमा बिजलीसे है। इससे दृष्टिको चकाचौंधी लगती है। काव्यलिंग अलङ्कार।" (लालचन्द्रिका)

दोहेके पूर्वार्द्धमें सखी, नायिकासे हँसनेकी आदत छोड़नेका अनुरोध इसलिए करती है कि नायकको उसका (नायिकाका) मुख किसी प्रकार—मुश्किलसे—दीख पड़ता है, इस

---

* विद्यावारिधिजीके इस विलक्षण अर्थमें तो "तृतीय विभावना"का भान हो रहा है ! "कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके" अर्थात् 'आँखोंकी चकाचौंध रूप, प्रतिबन्धक कारणके होते हुए भी 'नजर भरकर मुख दीखना'रूप कार्य होगया ! पर ऐसी हालतमें विद्यावारिधिजीको दोहा भी नया गढ़ना पड़ेगा, विहारीके उक्त दोहेपर यह नहीं घट सकता !

बातका समर्थन दोहेके उत्तरार्द्धमें किया है कि दन्त-द्युति—दाँतोंकी चमक—से नज़र चौंधा जाती है, इस कारण मुख नहीं दीख पड़ता है ! इसीलिए 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है—

"समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् "

या "काव्यलिङ्ग जहँ युक्ति सों अर्थ समर्थन होय" अर्थात् कहे हुए अर्थको युक्तिद्वारा समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग'का लक्षण है। जैसे यहाँ, हँसनेकी हालतमें मुख साफ़ साफ़—अच्छी तरहसे—नहीं दीखता, इस बातको इस प्रकार समर्थित किया है कि दाँतोंकी तेज़ चमकके सामने नज़र नहीं जमती, दृष्टि काम नहीं देती, जिस तरह बिजलीकी चमकमें कोई चीज़ साफ़ नज़र नहीं आती !

मूलके 'नीठि' शब्दने विद्यावारिधिजीको और भी कई जगह ठोकरें खिलवाई हैं, सतसईमें जहाँ जहाँ भी यह 'नीठ' या 'नीठि' शब्द आया है, वहीं वहीं इसका अर्थ करनेमें आप लुड़खड़ा गये हैं। कहीं इसका अर्थ 'बिल्कुल नहीं' कर दिया है, और कहीं कुछ और मनमाना, कहीं वैसे ही छोड़ दिया है। (४२२ तथा ४२६ दोहों में भी आपने इसी प्रकार 'नीठ'-की पीठपर अनर्थके कोड़े लगाये हैं !)

'नीठ' शब्द विहारीके काव्यमें बहुत जगह आया है, यह शब्द अबतक भी इधर इसी अर्थमें बोला जाता है, जिस अर्थमें विहारीने इसका प्रयोग किया है। 'नीठ' का अर्थ है—'किसी प्रकार मुश्किलसे। जैसे कहते हैं—"अमुकने यह चीज पाँच सेर करके दी थी, पर, तोलनेपर 'नीठकर' साढ़े चार सेर उतरी है।"

× × ×

२२–*तो लखि मो मन जो गही, सो गति कहीं न जाति ।*
ठोडी गाड गड्यो तऊ, उडो [ड्यो] रहत दिन राति ॥४८६॥

* * *

"जो तुझे देखकर मेरे मनने जो पकड़ी है सो गति कही नहीं जाती है, यद्यपि ठोडीके गर्तमें पडा है तथापि दिनरात उडताही रहता है यदि कहो दिनरात उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई (?) नहीं है तो इसका भाव यह कि, कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है।" (पृ० १६०)

टीकामें आपने जो "जो जो सो सो" की झड़ी लगाई है, सो कही नहीं जाती है ! डकारके नीचेके बिन्दुसे तो न जाने आपको क्या अदावत है, उसे आप देख ही नहीं सकते *'ठोडी'* *'उडता'* इनके नीचे भी आपसे बिन्दु नहीं जुड़ता !

शङ्कासमाधान और भाव खोलनेमें तो आप कमाल ही कर जाते हैं "........यदि कहो दिन रात उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई नहीं है' क्यो कहें कि उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई नहीं है, ! यदि उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई न होगी तो क्या गड़नेसे गड़नेकी पुष्टाई होगी? यह आप क्या कह रहे हैं? जरा होशकी ठंडाई (पुष्टाईकी बहिन !) पीजिए ! धन्य री समझकी पुष्टाई !

" तो इसका भाव यह कि, कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है"

सोचकी बात पक्की है, भला कहीं चिबुक हाथसे छूनेकी चीज़ है ! शिव शिव ! चिबुक जैसा अस्पृश्य पदार्थ 'हाथ' से छुआ जाय ! बेशक इसका रात दिन 'सोच' रहना चाहिए, कहीं चिबुकके अन्दर बारूदका (बमका) गोला छिपा हो और वह हाथसे छूतेही फट जाय तो क्या हो ! विद्यावारिधि-

जीने भाव खोलकर सर्वसाधारणको सावधान कर दिया बड़ी कृपा की, सम्भव था कोई चिबुकको छूकर अपने हाथसे ही हाथ धो बैठता ! धन्य महाराज ! बलिहारी आपकी दूर-दर्शिताकी ! आपसे हितोपदेष्टाको ऐसा ही भाव बतलाना चाहिये था !!

और हाँ खूब याद आयी, इस दोहेका अलङ्कार कहाँ है ? यह आप अब अलङ्कार क्यों उड़ाने लगे ! यह दूसरी वारदात है, इस अलङ्कारापहरणकी कुचेष्टासे बाज आइए; वरना रिपोर्ट की जायगी। प्रतिज्ञा तो की थी आपने 'अतिललित मधुर मुग्ध अलङ्कारोंसे सतसईको सर्वाङ्ग-भूषित' करनेकी सो 'सर्वाङ्गभूषित' करना तो दूर रहा उलटे कविताके पहले अलंकार भी आप उतारने लगे 'अनवरचन्द्रि-का'के कथनानुसार "विभवाना" और हरिप्रकाश, तथा लालचन्द्रिकाके लेखानुसार "विरोधाभास" अलङ्कार, इस कविताके पास था, वह कहाँ गया ? बतलाइए न, मौन साधन-से काम न चलेगा !

सहृदय पाठकगण ! देखा आपने किसप्रकार "सर्व-साधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट किया जा रहा है" सर्वसाधारण तो क्या 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि, विद्यावारि-धिजी' स्वयं भी इस टीकासे कविवरका आशय न समझ सकेंगे, चाहे उनसे पूछ देखिए !

इससे तो हरि कविकी टीका पुराने ढंगकी होनेपर भी बहुत साफ और कविवरका आशय प्रकट करनेवाली है। विद्यावारिधिजी ! सुनिए और समझिए—

'तो लखि इति। साभिलाष नायकको वचन नायिका सों। तोहि देखिके मेरे मनने जो गति लही है, सो काहूंसो कही

न जाती है, आश्चर्य है। ठोड़ीके गाड़में—खाड़में पर्यो है। तौ भी दिन रात उड्यो रहत है, विलास करिबेके अनेक मनोरथ रूप पौनमें पर्यो है। "विरोधाभास" है। "भासै जहाँ विरोध सो वहै विरोधाभास। 'गाड़में पर्यौ है, यह विरोधसो है।" (हरिप्रकाश टीका)

किसी अत्यन्त अभीष्ट पदार्थकी प्राप्तिके लिए मनकी व्याकुलता या चंचलताको "मनका उड़ना" कहते हैं। वारिधिजी इस मामूली महावरेको न समझे और दोहेका भाव खोलनेके स्थानमें अपनी समझकी पोल खोलने और 'पुष्टाई'-की ठंडाई घोटने लगे!

नायिकाके लावण्य-वारिपूरित चिबुक-गर्तमें पड़ा हुआ, 'चाहेज़क़न'में डूबा हुआ नायकका मन, मनोरथ-तरंगोंमें हिलोरे ले रहा है, नाना प्रकारकी अभिलाषाओंके पवनमें उड़ रहा है। 'किसी प्रकार उस चिबुकका छूना नसीब हो, वह हाथ लगे' सौन्दर्य्यविमुग्ध प्रेमीके इस साभिलाष-चिन्तनको, विद्यावारिधिजी फ़र्माते हैं—"कहीं हाथ चिबुक-को स्पर्श न करे यही सोच रहता है"

कैसा विलक्षण और अलौकिक भाव है!!! अनर्थकी ज्वालाने रसिकता और सहृदयताको फूँक दिया!! जलाकर राख कर दिया!

ऐसे ही अरसिकमूर्धन्य, और सहृदयताशून्य महापुरुषों-से घबराकर किसी कविने विधातासे यह प्रार्थना की है—

"इतरपापफलानि यदृच्छया विलिख तानि सहे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥"

× × +

१२—*छिप्यो छबीलो मुख लसै, नीले अंचल चीर ।*
मनो कलानिधि झलमले, कालिन्दीके नीर ॥४९०॥

* * *

"नीले अंचलमें छिपा हुआ प्यारीका छबीला मुख ऐसे शोभा देता है, मानों नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देता है। उत्प्रेक्षा।" (पृ० १६१)

वाह उस्ताद ! क्या कहने हैं ! "मानों नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देता है।"

इस अनर्थके काले स्याह परदेको फाड़कर आपका पाण्डित्य भी अमावास्याके चन्द्रमा(?)की तरह विद्यावारिधिताकी खाड़ीमें पड़ा अपूर्व शोभा दे रहा है !!!

आपके अनर्थ-दुःशासनने कविता-पाञ्चालीके चीरको चीरकर धज्जियाँ उड़ा दीं !! वह बेचारी मुंह छिपाए सहृदयोंकी सभामें खड़ी लज्जा उतारनेवाले, अनर्थकारीकी जानको रो रही है !!

उक्त दोहेका भाव है—

"नीले चीरके आंचलमें छिपा हुआ सुन्दर मुख, ऐसी शोभा देरहा है, मानों (नीले जलवाली) यमुनाके नीरमें चन्द्रमा झलक रहा है !"

सहृदय-काव्य रसिकगण ! कैसी अच्छी 'वस्तूत्प्रेक्षा' है ! क्या सुन्दर कविता है !

विद्यावारिधिजीने 'नीले अंचल'का एक छोटासा टुकड़ा तो प्यारीका मुख छिपानेके लिए छोड़ दिया और बाकी चीरका एक बड़ा तम्बू तैयार करके जमनाके जलपर तान दिया, जिसके नीले अंचलको चीरकर "चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देरहा है !!!

विद्यावारिधिजीने सोचा होगा कि प्यारीका मुख तो नीले अंचलसे ढक रहा है, फिर जमनाका जल उघड़ा हुआ कैसे रह जाय? उसपर भी नीले अंचलका शामियाना या तम्बू तानना चाहिए! जिसे चीरकर चन्द्रमा शोभा दे! और यदि कालिन्दीका नीर, निरावरण ही छोड़ दिया गया तो नीले अंचलमें छिपे हुए प्यारीके मुखसे लग्गा न खायगा जुगत न मिलेगी! सो विहारीकी इस कमीको विद्यावारिधि-जीने अपने पल्लेसे पूरा किया! इस तम्बू ताननेमें आपको अपनी गिरहसे कितना कुछ खर्च करना पड़ा होगा, यह बात जमनाके चकले पाटको देखकर ही समझमें आ सकती है! मालूम होता है, जल्दीमें तम्बूके लिए कपड़ा अच्छा मज़बूत न मिल सका, पुराना गला हुआ मिला, इसीसे वह चन्द्रमाकी किरणोंका बोझ न सँभाल सका! उनके पड़ते ही चिर गया, फट गया, और उसमेंसे निकल कर, नीचे बहते हुए कालिन्दीके जलमें चन्द्रमा चमकने लगा!

चाहे कुछ ही हो, विद्यावारिधिजीने एक बार तो जमना-के नीले नीरपर नीला तम्बू तान ही दिया, नीले नीरको डबल नीला बनाकर उसमें चन्द्रमाको सुशोभित कर ही दिया! इस भगीरथ-परिश्रमके लिए उन्हें धन्यवाद मिलना चाहिए। अस्तु, यह तो सब कुछ होगा, पर विद्यावारिधिजी-से यह तो पूछना चाहिए कि उन्होंने जोशेजिनूँमें आकर चीर-को क्यों चीर डाला?

यह चीर विहारीका काव्य पढ़नेवालोंके लिए कोई नई चीज़ तो न थी, रंग भी कुछ ऐसा डरावना न था, जिसे देख-कर वहशतके मारे आप बिदक गये और उसे चीर डाला!

यह चीर तो इस दोहेसे पूर्व भी और पश्चात् भी कई जगह 'सतसई'में आया है। एक जगह 'भीजा हुआ' जौ लौं भीजे चीर लौं रहै न प्यौ लपटाय'। (दो० ४०८)

दूसरी जगह—रंगा हुआ—फीको परै न वर घटै रंग्यौ लोह रंग चीर।' (दो० ५६१)

तीसरी बार—

"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं पांचालीको चीर॥ १२५"

अन्यत्र तो खैर कुछ ऐसी चिन्ताकी बात न थी, पर इस अन्तिम दोहेमें ईश्वरने बड़ा ही अनुग्रह किया, यह पांचालीका परम सौभाग्य ही समझना चाहिए कि विद्यावारिधिजी सँभल गये। पांचाली चीरफाड़से बच गयी!

यदि वारिधिजी यहाँ–पांचालीको चीर—में भी चीरको ल्यबन्त (चीरयित्वा (?)) समझकर अर्थ कर बैठते, तो बड़ा अनर्थ हो जाता। फिर पांचालीकी खैर न थी। दुःशासनने तो सिर्फ चीर खींचा ही था, यहाँ चीरके साथ वह भी चीर डाली जाती! "आमदाबूद बलाय वले बख़ैर गुज़श्त।"

× × ×

२४-मानहु विधि तनु अच्छछबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृगपग पोंछनको किये, भूषन पायनदाज॥ ५१५॥

* * *

"मानों शरीरकी अच्छी छबि स्वच्छ रखनेके निमित्त विधाताने दृग और पगके पोंछनेको भूषणोंको पायन दाज किया है जो फरशके आगे देहलीमें पगपोंछन होता है उसे पायनदाज कहते हैं। उत्प्रेक्षालंकार॥" (पृ० १६८)

अफ़सोस ! न हुए इस समय विहारीलाल, अधिक नहीं तो उन ७०० (सात सौ)मेंसे आधी मोहरें (अशरफ़ियाँ) तो हम आपको(विद्यावारिधिजीको) दिलवाही देते जो उन्हें जयपुर दरबारसे(प्रति दोहा १ मोहरके हिसाब से) पुरस्कारमें मिली थीं।

उर्दू और फ़ारसीके महाकवि ग़ालिबका कथन है कि "सखुनसन्ज(कवि)से सखुनफ़हम(कविताका मर्म समझने वाला) आदमी किसी प्रकार भी योग्यता और प्रतिष्ठामें कम नहीं है। यही नहीं किन्तु पहलेसे दूसरेका दर्जा बड़ा है, क्योंकि वह कविताके गूढ़ रहस्योंको जिस उत्तमतासे समझता और प्रायः उसके ऐसे ऐसे अपूर्व और विलक्षण अर्थोंको सोचता है, जो स्वयं कविको भी कभी नहीं सूझते"—

एकबार एक शख़्स जो कवि तो न थे परन्तु 'सहृदय' और 'सखुनफ़हम' अव्वल दर्जेके थे, ग़ालिबसे मिलने दिल्ली गये, और उन्हींके पास जाकर ठहरे, रातको कविताकी चर्चा छिड़नेपर उन्होंने ग़ालिबके ही कुछ शेरोंकी ऐसी अपूर्व और विलक्षण व्याख्या की कि ग़ालिब सुनकर फड़क गये, और वज्दमें आकर झूमने लगे। उन्होंने कहा कि "शेर कहते वक्त मेरी बुद्धिमें यह बात न थी, मुझे यह भाव स्वयं नहीं सूझा था" इस मुलाक़ातका हाल अपने एक शिष्य और मित्र कविको लिखते हुए ग़ालिबने यह पूर्वोक्त सम्मति प्रकट की है।

वास्तवमें ग़ालिबकी यह राय बहुत ही ठीक है। यदि मल्लिनाथसा सिद्ध गारुड़िक, कालिदासकी "दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छिता" कविता-कामिनीको अपनी 'सञ्जीवनी' ❋

❋ "भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छिता।
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति" ॥

बूटीसे न बचाता, पुनरुज्जीवित न कर जाता, अथवा यों कहिए कि विद्यावारिधिके टाइपके टीकाकारोंके अनर्थ-वज्र-प्रहारोंसे उसकी रक्षा न करता, तो आज कालिदासको कौन पूछता! कविताके साथ कालिदासका भी नाम शेष रह गया होता! भगवान् वेदव्यासके 'ब्रह्मसूत्रों'का वह अलौकिक और अपूर्व अर्थ, जिसने अपने महत्त्वके आगे संसार भरके विद्वानोंको सिर झुकानेके लिए विवश कर दिया है, लोगोंको कैसे सूझता, यदि भगवान् शंकरका शारीरक भाष्य आज न होता! महर्षि गोतमके दुरूहतम न्यायसूत्रोंका अभिप्राय आज कलके ये ऐरा ग़ैरा नत्थू ख़ैरा, कभी समझ सकते! यदि वात्स्यायन मुनि इस समयके संकुचद्दृष्टि, मन्दमति लोगोंपर अनुग्रह करके अपना भाष्य न रच गये होते!

इसी तरह यदि श्रीमान् 'विद्वद्वृन्द-शिरोमणि' 'विद्यावारिधि' महाराज "सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट करानेकी" शुभ इच्छासे प्रवृत्त होकर अपना यह अमूल्य "अति ललित मधुर मुग्ध" टीका न बनाते तो भला विहारीके काव्यके ऐसे ऐसे रहस्यपूर्ण भाव और निराले अर्थ संसारको कैसे मालूम होते!

विद्यावारिधिजी अपनी महिमाका वर्णन सुनकर प्रसन्न हो रहे होंगे, जीमें खुश होंगे कि मल्लिनाथ, शंकराचार्य, और वात्स्यायनके साथ एक पंक्तिमें बैठनेका सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, पाँचों सवारोंमें तो मिल गये! परन्तु शोक है कि हम उन्हें ज़्यादह देरतक खुश नहीं रख सकते, अब आगे जो कुछ कहा जाता है, उसे सुनकर शायद विहारीलालजी इनामकी अशरफ़ियाँ विद्यावारिधिजीको न बँटावें। एक बात ऐसी ही निकल आई, क्या करें मजबूरी है, हमने तो अपनी तरफ़-

से बहुत ज़ोर लगाया कि किसी तरह विद्यावारिधिजीको पुरस्कारकी मोहरोंमेंसे हिस्सा मिल जाय, परन्तु "कविता-क्रन्दन"ने मामला बिचाल दिया। इनामका नाम सुनते ही बड़े दर्दनाक लहज़े (कारुणिक स्वर) में कविता चीख़ उठी कि "हाय यह क्या ग़ज़ब करते हो! मेरे क़ातिलको यह उलटा इनाम कैसा देते हो! ख़ूब रहा—

"यह अजीब माजरा है, मुझे रोज़े-ईदे-कुर्बां,
वही ज़िबह भी करे है, वही ले सवाब उलटा!"

देखते नहीं हो, इन्होंने किस तरह "दृग और पगके पोंछने-को भूषणोंका पायनदाज किया है"—मानो नायिकाके शरीर-को सड़क बनाकर उसपर अनर्थका पत्थरफोड़ कोल्हू चलाया है!!! कविताकी कोमल कायाको दुर्भावके 'दुर्मट' से इस बुरी तरह कुटवाया है कि उसने देखनेवालोंको ख़ूनके आठ आठ आँसू रुलवाया है!!

सोचनेकी बात है कि जब नायिकाका शरीर "पगडंडी" (?) बन गया, लोग उसे पैरोंसे रौंदकर चलने लगे तो "भूषणोंका पायनदाज" क्या काम देगा? वह शरीरकी अच्छी छबिको 'स्वच्छ' कैसे रख सकेगा? 'भूषणोंका पायनदाज' तो राह-गीरोंके पैरोंसे टूट टूट कर, नायिकाके शरीरमें घुस जायगा! उसे और क्षत विक्षत करके महाभयानक और बीभत्स बना देगा! शिव शिव! इस करुणाजनक दृश्यसे किस सचेता पुरुषका हृदय न पिघलेगा? कौन सहृदय न रो पड़ेगा?

"अपि ग्रावा रुद्यादपि च विद्लेद्वज्रहृदयम्" !!

सहृदय पाठकगण! यह दोहा 'सतसई'के चोटीके दोहों-मेंसे है, इसमें कविने अपनी नाज़ुकख़याली और कल्पना-

शक्तिका कमाल दिखला दिया है, कविता-सृष्टिमें इस दोहेका और जवाब नहीं ! बस क़लम तोड़ दिया है !

"मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग-पग पोंछनकों किये, भूषन पायनदाज ॥"

उर्दू कविके * "ख़याली बोसों"से माशूक़के गुले-रुख़-सारपर नीले दाग़ पड़ने"में भी वह लुत्फ़ नहीं, जो इस दोहेके भावमें है !

शरीरकी कोमलता और कान्तिकी यह पराकाष्ठा है कि नज़रके पड़नेसे भी वह मैली हुई जाती है ! इसीलिए मानो ब्रह्माने भूषणोंका पायनदाज़ बना दिया कि दृष्टि अपने पग उससे पोंछकर तन्वीके तनपर पड़े। शरीररूपी स्वच्छ चाँदनीको, आँखोंके मैले पैर ख़राब न कर दें, इसलिए भूषण-रूप पायनदाज़ बनाया गया है ! (आँखोंके पैर और उनसे शरीरकी कान्तिका मैला होना ! कितनी नज़ाकत, सफ़ाई और नाज़ुकख़याली है ! कुछ ठिकाना है !!) अन्यथा "दर्पणमें मोरचेकी तरह" प्रतीत होनेवाले इन भूषणोंकी आवश्यकता क्या थी ?

"पहिर न भूषण कनकके, कहि आवत इहिं हेत ।
दर्पनके से मोरचा, देह दिखाई देत" (५२६)

सखी नायिकासे कह रही है कि मैं जो तुझे सोनेके भूषण पहननेका निषेध कर रही हूँ सो इसलिए कि वह तेरे शरीरमें इस प्रकार दिखाई देते हैं जैसे दर्पणमें मोरचा !

---

* "क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये ।
हमने तो बोसा लिया था ख्वाबमें तसवीर का।"

आरिज़=कपोल ।

जिस शरीरकी उज्ज्वलताको देखकर आँख उज्ज्वल होती है, वह यदि आँखोंके पैरोंसे मैली हो जाय तो आश्चर्य्य ही क्या है?—

"कहा कुसुम कह कौमुदी, कितिक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, आँख ऊजरी होति॥"(५१९)

फूल, चाँदनी, या आरसी(दर्पण)में भला वह आब ताब और चमक दमक कहाँ है? उसके उजालेसे तो स्वयं आँख उजाला पाती है!

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्॥" (भर्तृहरि)

* * *

विद्यावारिधिजीने उक्त दोहेके सौन्दर्य्यको कितना बिगाड़ा है! कुछ ठिकाना है! कविकल्पनासमुद्भूत दृगके पगों-को "दृग और पगके पोंछनेको" कहकर सचमुचके पैर निकाल दिये! "दृग-पग" इस समस्त(षष्ठीतत्पुरुष) पदमें द्वन्द्व-युद्ध (?) (दृग और पग?) कराकर दृगकी टाँगें तोड़ डालीं मानो सहृदयताकी आँखें फोड़ डालीं!! जो निर्मल शरीर दृष्टिके पड़नेसे भी मैला होता था उसे "पगडंडी" बना दिया!!!*

---

* उक्त दोहेकी समालोचनामें जो एक उर्दू शेर उद्धृत हुआ है, दोहेसे उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए किन्हीं "राम" नामधारी महाशयने एक लेखमें समालोचकपर विहारीके अनुचित पक्षपातका आक्षेप किया था। "राम"का वह आक्षेपात्मक लेख और मौलाना 'हाली'की सम्मतिसहित, समालोचकका उत्तर आगे पढ़िए—

"महाशय 'राम' का आक्षेप"

"श्रीमान् पण्डित पद्मसिंहजीने श्रीविद्यावारिधि-जीके अर्थपर, जो इन्होंने विहारीलालके ऊपर लिखे दोहेपर किया है, आलोचना करते हुए जोशमें आकर यहाँतक लिख डाला कि "यह दोहा सतसईके चोटीके दोहोंमेंसे है" इत्यादि। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धिमें इस दोहेपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि योग्य समालोचकने इस कथनमें बहुत कुछ अनुचित अत्युक्तिसे काम लिया है। क्योंकि प्रथम तो जिस उर्दूवाले शेरसे इसे उत्तम बताया गया है इसके साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गयी। दूसरे, दोहेमें एक बड़ा भारी दोष है, जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।

उर्दूका शेर यह है—

"क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये।
हमने तो बोसा लिया था ख़्वाबमें तसवीर का॥"

अर्थात् तन्वीके कपोल इतने कोमल हैं कि स्वप्नमें भी, सीधे उनको नहीं, उनके चित्रको चुम्बन करनेसे उनको इतना कष्ट पहुँचा कि उनपर नीले दाग़ पड़ गये।

संकल्पमात्रसे, जो केवल मानसिक क्रिया है, शरीरपर इतना गहरा प्रभाव पड़ना, यदि न्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो, कोमलताके वर्णनकी असीम पराकाष्ठा है। अब इसके सम्मुख सतसईवाले दोहेको लीजिए, जिसका सार समालोचकजीके निज शब्दोंमें यह है कि—"मानों ब्रह्माने भूषणोंका पायन्दाज़ बना दिया कि दृष्टि अपने पैर

उससे पोंछकर तन्वीके तनपर पड़े। शरीररूपी स्वच्छ चाँदनीको आँखोंके मैले पैर ख़राब न करदें। (+ + + आँखोंके पैर और उनसे शरीरकी कान्तिका मैला होना, कितनी नजाकत सफ़ाई और नाज़ुकख़याली है, कुछ ठिकाना है!") इत्यादि।

पाठकवृन्द! थोड़ा ध्यान देनेसे विदित होगा कि दोहे-में जो कुछ कहा गया है वह इतनी असाधारण बात नहीं जितना कि उसको बढ़ाकर कोष्ठकके भीतर दिखाया गया है। इसमें 'दृग' और 'तन'का प्रत्यक्षमें सीधा साधा सम्बन्ध है—अर्थात् दोनों एक दूसरेके आमने सामने हैं। पर शेरमें, स्वप्नमें चित्रके प्रति केवल मान-सिक क्रियाके प्रभावसे तनका चिह्नित हो जाना वर्णन किया गया है। इसलिए प्रत्यक्ष ही सिद्ध है, और जिस-के स्वीकार करलेनेमें हमें कुछ संकोच न करना चाहिए कि शेरका भाव दोहेकी अपेक्षा कहीं उच्च और गम्भीर है।

दूसरे, जब हम दोहेके 'विधि' शब्दपर दृष्टि डालते हैं तो हमें उपर्युक्त सम्मतिके स्थिर करनेमें और भी कोई सन्देह नहीं रहता। सब जानते हैं कि 'भूषण' कोई दैवी (?) पदार्थ नहीं है, जिसको 'विधि' वा 'ब्रह्मा' पहनाकर किसी व्यक्तिको उत्पन्न करता हो; किन्तु वह एक कृत्रिम वस्तु है। अतः इस दोहेमें उसके पाय-न्दाज़ बनानेका कर्त्ता 'विधि'को बतलाना, कहाँतक ठीक है, यह आप स्वयं सोच सकते हैं।

सारांश यह कि विद्वान् समालोचकका इस दोहेके

प्रति यह व्यवस्था देना कि वह "सतसईके चोटीके दोहोंमें से है" हमारी समझमें सतसईके गौरवको बढ़ाता नहीं किन्तु कम करता है !

अन्तमें हम इतना और कहना चाहते हैं कि कोई महाशय इस लेखसे यह न समझें कि हमारा अभिप्राय कविशिरोमणि श्रीविहारीलालकी अपूर्व कविताको सर्वथा दूषित व कलङ्कित सिद्ध करनेका है। नहीं नहीं, किन्तु हम मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि उनके कितने सारगर्भित दोहे कविताके ऐसे ऐसे गूढ़ रहस्यसे परिपूर्ण हैं, जिसके शिखरतक बेचारे उर्दू वाले क्या फ़ारसीके बड़े बड़े प्रसिद्ध कवि (जिनकी कविताको देखनेका हमको अबतक अवसर मिला है) नहीं पहुँचे। परन्तु इससे यह व्यवस्था नहीं दी जा सकती कि उनकी सतसईका एक पद्य भी सदोष नहीं है। आखिर वे मनुष्य ही तो थे। यदि इतने अधिक (७००) दोहोंके समूहमें कहीं एक आध स्थलपर चूक गये तो आश्चर्य ही क्या है! उसके प्रकट करनेसे उनकी जगद्विख्यात काव्यप्रवीणताको कोई हानि नहीं पहुंच सकती। इसलिए कोई आवश्यकता नहीं है कि हम उसपर आवरण चढ़ानेका उद्योग करें।"

× × ×

"समालोचकका उत्तर"

"श्रीयुत 'राम' महाशयने इस दोहेकी समालोचनाके सम्बन्धमें मुझपर और विहारीपर ये आक्षेप या एतराज़ किये हैं—

मैंने (१)— 'जोशमें आकर अनुचित अत्युक्तिसे काम लिया है'–"उर्दूवाले शेरके साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गयी" (२)—दोहेमें जो कुछ कहा गया है वह साधारण बात है, मैंने उसे कोष्टक (ब्रैकट)के भीतर बढ़ाकर दिखलाया है" (३)—"यह दोहा सतसईके चोटीके दोहोंमें नहीं। इसे चोटीका दोहा बतलाना "सतसईके गौरवको बढ़ाता नहीं किन्तु घटाता है" और सबसे बढ़कर यह कि (४)—"इस दोहेमें एक बड़ा भारी दोष है, जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया"। यहाँ विहारीलाल "चूक गये हैं"–इत्यादि।

इन इलज़ामातकी सफ़ाईमें निवेदन है कि (१) उर्दूवाले शेरके साथ नितान्त न्याययुक्त तुलना की गयी है। आपने व्यर्थ ही जोशमें आकर उर्दूवाले शेरको दोहेपर तर्जीह देनेकी चेष्टा की है। (२) जो कुछ दोहेमें है (साधारण या असाधारण) वही कोष्ठकमें दिखलाया गया है, एक मात्रा भी बढ़ाकर नहीं दिखलायी गयी। कृपया फिर ध्यानसे पढ़ जाइये। (३) यह दोहा बेशक सतसईके गौरवको बढ़ानेवाला और चोटीके दोहोंमेंसे है। यह कविता-देवीका मुकुटमणि है। प्रत्येक काव्य-मर्मज्ञ सहृदय इसका साक्षी है। (४) यह दोहा सर्वथा निर्दोष है। बड़ा भारी तो क्या अणुमात्र भी कोई दूषण इसमें नहीं है। इसमें विहारीकी चूक बतलाना "सखुनफ़हमी आलमे-बाला मालूम शुद्"की कहावतको चरितार्थ कर दिखाना है।

हमें यह धारणा हुई कि महाशय "राम" जैसा कि

उनके लेखसे प्रकट है, उर्दू-फ़ारसीके उत्तम विद्वान् होंगे, अतएव सम्भव है, फ़ारसीसाहित्यके अनुशीलनसे ही कविताके विषयमें उन्होंने ऐसी राय क़ायम की हो। यह भी सम्भव है कि फ़ारसीके साहित्यमें उत्तम और निर्दोष कविताके कुछ निराले नियम उन्हें मिले हों, जिनके अनुसार विहारीका यह दोहा दूषित ठहरता हो। यही सोचकर हमने किसी उर्दू-फ़ारसीके सुप्रसिद्ध कविसे इस विषयमें "न्याययुक्त तुलना" कराना उचित समझा। इसलिए शमसुल्उल्मा मौलाना अलताफ़ हुसैन हालीके पास उर्दूवाले शेरके साथ विहारीका दोहा, तथा महाशय "राम"-का एतराज़, भेजकर उनसे प्रार्थना की कि इसपर अपनी पक्षपातरहित सम्मति देकर अनुगृहीत करें। हमारे पत्रके उत्तरमें "हाली" महोदयने जो पत्र भेजा, उसे हम नागराक्षरोंमें ज्योंका त्यों यहां उद्धृत करते हैं—

"मौलाना हालीकी सम्मति"

पानीपत

६—दिसम्बर, सन् १९१०

"जनाबमन, इनायतनामेका जवाब भेजनेमें इस सबबसे देर हुई कि मैं आँखोंकी शिकायतके सबब लिखता पढ़ता बहुत कम हूँ। अक्सर तहरीरोंमें दूसरेका मोहताज रहता हूँ और बग़ैर सख़्त ज़रूरतके जवाब नहीं लिखता।

विहारीसतसईके दोहे और एक उर्दू शेरके मुताल्लिक़ जो आपने मेरी राय दरयाफ़्त की है सो मेरे नज़दीक

शेरको दोहेके मज़मूनसे कुछ निसबत नहीं। शाइर कैसा ही नामुमकिन्‌उल्‌वकूअ मज़मून बाँधे, जब उसके साथ 'गोया' की क़ैद लगा दी, फिर नामुमकिन नामुमकिन नहीं रहता।

मसलन्—जैद बेऐब होनेमें गोया फ़रिश्ता है, या घोड़ा क्या है हवा है, या उसके दाँतों की बतीसी गोया मोतियों की लड़ी है, या उसका चेहरा चौदहवीं रात का चाँद है। पस जबकि दोहेके मज़मूनमें 'मानों' यानी 'गोया'का लफ़्ज़ मौजूद है तो उसमें कोई 'इस्तहाला' यानी * अदम इमकान बाक़ी नहीं रहता। बरख़िलाफ़ इसके शेरका मज़मून बिलकुल दायरे-इमकानसे ख़ारिज और † नामुमकिनउल्‌-वकूअ है। मोतरिज़ जिस दलीलसे मज़मून शेरके मुताल्लिक़ हद दरजे की नज़ाकत साबित करता है, उससे नज़ाकतका सबूत नहीं बल्कि उसकी नफ़ी × होती है

लखनऊके एक नामवर शाइरने अपनी मसनवीमें बाज़ारकी रौनक़ और चहल पहल इस तरह बयान की है कि "बाज़ारमें आबे-गौहरका छिड़काव होता है"—ज़ाहिर है कि इस बयानसे बजाय इसके कि बाज़ारकी रौनक़ साबित हो यह ख्याल होता है कि वहाँ ख़ाक उड़ती

---

* अदम इमकान—असम्भवता।

† नामुमकिनउलवकूअ—असम्भव, जो न हो सके।

× नफ़ी—अभाव।

होगी, क्योंकि आबे-गौहरका छिड़काव ख़ाकको दबा नहीं सकता। इसी तरह शेर मज़कूरका हाल है। क्योंकि—

ख़्वाबमें तसवीरका बोसा लेनेसे साहबे-तसवीर * के होंटोंका नीला पड़ जाना, बजाय इसके कि साहबे-तसवीर की नज़ाकत साबित करे बोसा लेनेवालेका जादूगर होना साबित करता है।

मोतरिज़का यह एतराज़ भी सही नहीं है कि ज़ेवर चूंकि मसनूयी † चीज़ है, इसलिए ब्रह्मा या कुदरतको उसका बनानेवाला क़रार देना ग़लत है। क्योंकि इनसानके तमाम ‡ मसनूयात दरहक़ीक़त खुदाके मसनूयात हैं। क्योंकि इनसान खुद उसका मसनूअ है। इसपर दलील लानेकी कुछ ज़रूरत नहीं है। क्योंकि हर ज़बानमें ऐसी हज़ारों मिसालें मौजूद हैं कि इनसानके कामोंको मजाज़न् खुदाकी तरफ़ मनसूब किया गया है, और तसव्वफ़ और वेदान्तवाले तो इनसानके हर कामको मजाज़न् नहीं, बल्कि हक़ीक़तन् खुदाहीका काम बताते हैं...”। ख़ाकसार दुआगो—

अलताफ़हुसैन हाली

---

* साहबे-तसवीर—जिसका वह फ़ोटो है।

† मसनूयी—कृत्रिम।

‡ मसनूयात—रचनाएँ।

आशा है, हाली महोदयकी इस विद्वत्तापूर्ण बहसको पढ़कर "राम" महाशयकी शंकाओंका समाधान होजायगा।

अन्तमें हम यह निवेदन कर देना आवश्यक और उचित समझते हैं कि विहारीके उक्त दोहेमें स्पष्ट ही "उत्प्रेक्षालङ्कार" है। इसमें किसी भी साहित्यमर्मज्ञको सन्देह नहीं हो सकता। हरिप्रकाश-टीकाकारने 'मानहु' पदका अन्वय दोहेके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों जगह किया है। रसचन्द्रिका टीकाकारने "हेतूत्प्रेक्षा" बतला कर साफ़ ही लिखा है कि "विधि भूषणोंके पायन्दाज बनानेका हेतु (कारण) नहीं है। उसमें हेतुकी सम्भावना की गई है। उसे यहाँ हेतु मान लिया गया है," इत्यादि।

अभिप्राय यह है कि अपनी दी हुई अलौकिक सुन्दरताकी रक्षाके निमित्त मानों भूषण भी स्वयं विधिने ही प्रदान किये हैं। अर्थात् उसके भूषण भी दिव्य हैं। और, यह अलौकिक विधिदत्त भूषण भी शरीर-सौन्दर्य्यके सामने ऐसे हैं जैसे मख़मली फ़र्शके आगे नारियलका पायन्दाज़ !!!"

× × ×

२५—ह्वै कपूरमणिमय रही, मिलति न द्युति मुकतालि।
छिन छिन खरी विचक्षणी, लहत छानि तृण आलि ॥५२३॥

* * *

"मोतियोंकी लड़ी शरीरकी कान्तिमें मिलकर कपूरसी होकर मनमें रही सखी चतुर भी है, परन्तु खड़ी हुई छिन

छिनमें छप्परका तिनका लेती है; अर्थात् मोतीमाला देख महामोहित होती है, चतुर सखी यह देख तृण तोड़ती है।"

(पृ० १७१)

चतुर सखी तो भला तृणच्छेदनरूप अपलक्षण क्यों करने लगी है, पर यह कविता आपके अनर्थोंसे पनाह माँगती हुई. मुँहमें तृण लेकर 'त्रायस्व मां, पाहि मां' चिल्लाती हुई, ज़रूर प्रार्थना कर रही है कि उसकी जांबख़्शी कर दी जाय तो बड़ा पुण्य हो! हम भी आपसे सहृदयाके नामपर अपील करते हैं "न हन्तव्या निरपराधा निराश्रया तपस्विनी कविता"

इस दोहेके साथ जो अन्याय और अनर्थ किया गया है, वह वर्णनातीत है! जिस दुर्दशासे इसकी सूरत बिगाड़ी गयी है, जिस बुरी तरहसे इसका सर्वनाश किया गया है, इसे अनर्थकी भट्टीमें झोंका गया है, उसका वर्णन करते और सुनते हुए कलेजा मुंहको आता है! हृदय-पटल फटा जाता है! विराटके यहाँ अज्ञातवासमें रहते हुए भीमने जिस 'पशुमार'से (पशुमारममारयत्) कीचकका वध किया था, उसके हाथ, पैर आदि अवयवोंको शरीरमें गड़ोकर 'पिण्डाकार' बना दिया था, उसी 'पशुमार'से यह दोहा मारा गया है!! कीचकको तो उस दशामें लोगोंने किसी प्रकार पहचान भी लिया था, परन्तु यह बिलकुल नहीं पहचाना जाता! 'कीचक'को अपने दुष्कर्मोंका दण्ड मिला था, यह ग़रीब बिना क़सूर ही मारा गया! इस छोटेसे दोहेकी नन्हींसी जानपर इतना ज़ुल्म!

यदि सतसईके अन्यान्य दोहे, जिनका कि विद्यावारिधिजीने अपनी टीकामें क़त्लेआम किया है, वारिधिजीको बख़्श दें, माफ़ कर दें, अपने ख़ूनका बदला न भी चाहें और केवल एक

यही दोहा, सहृदयोंकी सभामें फ़रयाद करने लगे, तो यक़ीन कामिल है कि सभा इत्तफ़ाक़रायसे वारिधिजीके ख़िलाफ़ सख़्त फ़ैसला दे, वारिधिजीको लेनेके देने पड़ जायँ! सुनिये और खूब ध्यानसे देखिये कि मूलपाठकी क्या दुर्गति बनाई है—

"ह्वै कपूर मनिमय रही, मिलि तनदुति मुकतालि।
छनछन खरी विचच्छनौ, लखति छ्वाय तृन आलि"

यह बहुटीकासम्मत, शुद्ध पाठ है। अब ज़रा इससे वारिधिजीवाला पाठ मिलाइये, देखिये, उसमें और इसमें कितना भेद है? 'छ्वाय' का 'छानि' बनाकर अर्थ करते हैं "घरका छप्पर!!"

ऐसेही मौक़ेके लिये शायद 'आज़ाद' ने यह कहा है—

"हैफ़ आता है कि खोई उम्र मज़मूं बांध बांध,
ऐसी बन्दिश से तो बेहतर था कि छप्पर बांधते॥"

उक्त दोहेकी हरिप्रकाशटीका—

"ह्वै कपूर इति। सखी नायिकाके रूपकी स्तुति नायकसों करति है। नायिकाके तनदुतिसों मिलिकैं मुक्तालि जो है मोतीकी माला सो कपूरमनिमय हो रही है। अर्थ <u>यह कपूरमनि ही होय रही</u> है भ्रान्ति बसतें, खरी विचच्छनौ—प्रतिप्रवीन जो है आली सखी सो भी तृनके छुआय कै लखति है—जानती है। <u>कपूरमनिको</u> हाथ पै घसै, तृन पै धरकै उठावै तो तृनको लिये ही उठि आवै। यहाँ तद्‌गुणालङ्कार और भ्रान्ति अलंकार है. मुक्तावलीने अपनो गुन स्वेतता ताको छोड़ि तनद्युतिको गुन लियो।" इत्यादि।

भाव यह है कि नायिकाके गलेकी मोतीमाला, शरीरके कुन्दन रंगमें मिलकर कर्पूर-मणिसी प्रतीत होने लगी। सुफ़ेद

रंगके मोती पीतवर्ण होकर 'कर्पूरमणि'का धोखा देने लगे। यहाँतक कि पास रहनेवाली अतिचतुर सखी जिसने माला-के मोतियोंको गलेमें पहननेसे पहले, उनके असली रंगमें देखा था, वह भी बार बार धोखा खाने लगी कि माला तो श्वेत मोतियोंकी थी, यह 'कर्पूरमणि' कहाँसे आ गयी! अपने सन्देह-की निवृत्तिके लिए वह परीक्षा करने लगी कि यदि यह कर्पूरमणि होगी तो तिनकेको खींच लेगी, तिनका उससे चिमट जायगा।

"कर्पूरमणि"का दूसरा नाम संस्कृतमें 'तृणमणि' भी है, जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) लोहेको खींच लेती है, इसी प्रकार 'कर्पूरमणि' या 'तृणमणि'का यह स्वभाव है कि वह तिनकेको खींच लेती है। संस्कृतमें 'शंकुक' कविका एक पुराना श्लोक है, जिसमें तृणमणिके इस गुणका उल्लेख है—

"ये गृह्णन्ति हठात्तृणानि मणयो ये वाप्ययःखण्डकं
ते दृष्टाः प्रतिधाम दग्धमनसो विच्छिन्नसंख्याश्चिरम्।
नो जाने किमभावतः किमथवा दैवादहो श्रूयते
नामाप्यत्र न तादृशस्य हि मणे रत्नानि गृह्णाति यः॥"

कवि कहता है कि जो हठपूर्वक तिनकेको या लोहेके टुकड़े-को पकड़ लेती हैं, ऐसी जीजलानेवाली मणि(तृणमणि, अयस्कान्तमणि) तो घर घर अत्यधिकतासे मिलती हैं, परन्तु न जाने अभावसे या अभाग्यसे किसी ऐसी मणिका पता नहीं लगता, नामतक नहीं सुना जाता, जो रत्नोंको खींच लाया करे!

तिनके और लोहेको खींचनेवाली मणियोंसे क्या फ़ायदा? रत्नको खींचनेवाली मणि मिले तो कुछ बात भी है! उससे कविजी रत्नोंका शिकार खेला करें!

फ़ारसीमें 'कर्पूरमणि'को कहरुबा कहते हैं। उर्दू कवियोंने

भी इसमें यह गुण माना है कि वह तिनकेको पकड़ती है, (जैसा कि उसके शब्दार्थसे भी प्रकट है)

"काह * कर देता था मेरा शौक़ इक इक + कोहको,
और तमाशा देखती थी मैं लगा कर कहरुबा ‡।
('यज़दानी—'पासखे-हिन्द')

"मुनकिरे यकरंगिये माशूक़ो आशिक़ थे जो लोग,
देखलें क्या रंगे-काहो कहरुबा मिलता नहीं ?"
(अमीर, लखनवी)

श्रीमान् विद्यावारिधिजीने "है कपूरमनिमय रही"का अर्थ किया "कपूरसी होकर मनमें रही" 'सुधादीधितिकला'-की तरह यहां भी पदच्छेद करके सत्यानाश किया है। "कपूर"-का अर्थ 'कपूरसी' (?) "मणिमयका अर्थ "मनमें (?)"। "खरी बिचच्छनौ (अत्यन्त चतुर) पदमेंसे ‡ आपने 'खरी'को पृथक् करके 'खड़ी हुई' (?) कर दिया !

'छाय=छुआकर-का 'छानि' बनाकर 'छप्पर' (?) छादिया ! जिस (छप्पर)मेंसे "खड़ी हुई सखी छिन छिनमें तिनका ले रही है' ! हाय री अक़िल ! तू विद्यावारिधिजीके हिस्सेमें क्यों न आई ? यह न सोचा कि मोतीकी माला पहननेवाली, छप्परोंमें नहीं रहा करतीं !!

"अर्थात् मोती माला देख महामोहित होती है, चतुर सखी यह देख तृण तोड़ती है।

यह 'महामोहित' कौन होती है ? और 'चतुर सखी यह देख तृण क्यों तोड़ती है'? कहीं यह बावली तो नहीं होगयी ?"

---

* काह=तिनका-घास। + कोह-पहाड़। + कहरुबा कर्पूर-मणि (तृणमणि) कहरुबाका रंग पीला होता है।

इस दोहेकी टीका प्रारम्भसे अन्त तक "उन्मत्तप्रलाप" है ! अलङ्कार इसका भी आप हड़प कर गये हैं !

× × ×

२६–ले चुभकी चालिजात तित, जित जलकेलि अधीर ।

कीजत केसर नीरसों, तित तित केसरनीर ॥५५१॥

"प्रिया जलमें गोता मारकर जिधर तिधर चली जाती है और जलकेलिमें अधी हो रही है । अपने शरीरमें लगे केशरके नीर सों जिधर तिधर केशरका नीर करती है। धर्म्म लुप्ता-लंकार" (पृ० १८०)

धर्मलुप्तालङ्कार (?) क्या; इसे तो 'सर्वलुप्तालङ्कार' (?) या सर्वनाशालङ्कार' (?) कहें तो ठीक है !

"........जिधर-तिधर चली जाती है और जलकेलिमें अधी (अंधी ?) हो रही है"........आपकी लेखनी भी अर्थ करनेमें अंधी हो रही है और अनर्थके कीचड़में लिपटी हुई जिधर तिधर चली जाती है, उधर उधर ही विहारीकी काव्य-वापीको गदला कर देती है ! उसमें कीचड़ घोलकर अपेय बना देती है ! रसमें विष घोलना इसे ही कहते हैं ! बनीको बिगाड़ना इसीका नाम है !

विद्यावारिधिजी ! "धर्मलुप्तालङ्कार" कैसा होता है ? यह आपने कौनसे साहित्यमें पढ़ा या देखा है ? मालूम होता है, 'मतबअ़-इलाही'—नामक लेथो प्रेसकी छपी अशुद्धप्राय 'लालचन्द्रिका'से ये अलंकार आपने उड़ाये हैं, उसमें जो शुद्ध अशुद्ध लिखा है, उसे आप आँख मीचकर नक़ल करते गये हैं, यह "धर्मलुप्तालङ्कार" भी उस पुस्तकके १४८ पृष्ठपर है, वहींसे ज्योंका त्यों उठाकर आपने रख दिया है, इस

नामका कोई अलङ्कार होता भी है या नहीं; यह जाननेकी आपने ज़रूरत नहीं समझी, न मालूम वे अन्य कई सतसई, जो आपने टीका करते समय सन्मुख (?) रक्खी थीं, क्या करती रहीं ! उन्हें आपने ज़रा भी तकलीफ़ नहीं दी। यदि सचमुच ही उन्हें आपने सामने रक्खा था तो चाहिए था कि कहीं तो उनसे काम लेते ! बुद्धिपर ज़ोर डालकर समझनेकी कोशिश करते, समझमें न आता, किसीसे पूछते, इतनेपर भी यदि बुद्धि काम न देती, कुछ न समझ पड़ता, तो जाने देते, कोई मजबूर तो नहीं करता था कि आप सतसईपर ज़रूर ही टीका लिखकर पांचों सवारोंमें नाम लिखावें ! पाठकवृन्द ! आठ प्रकारकी 'लुप्तोपमा' होती हैं, उन्हींमें एक "धर्मलुप्तोपमा" है, जैसा कि 'कुवलयानन्द'में लिखा है—

"वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा ॥"

इसीका अनुवाद यह "भाषाभूषण"में दिया है—

"वाचक धर्म रु वर्ननिय है चौथो उपमान ।
एक बिन द्वैबिन तीनि बिन 'लुप्तोपमा' प्रमान ॥"

इसी "धर्मलुप्तोपमा"को आपने "धर्मलुप्तालङ्कार" (?) लिखा है ! इस शार्ट-हैंड-राइटिंग या मुख्तसिर नवीसीका कुछ ठिकाना है ! अलंकारसे अधिक आपने अर्थकी-दुर्दशा की है। 'मतबअ़-इलाही'वाली लालचन्द्रिकासे आपने 'धर्म-लुप्तालंकार' तो उठा लिया, पर उसका अर्थ छोड़ दिया ! यदि उसे भी ले लेते तो "........जलकेलिमें अंधी हो रही है, अपने शरीरमें लगे केशरके नीरसों जिधर तिधर केशरका नीर करती है" यह महाविचित्रता तो न आती ! जलकेलिमें

अधी (अंधी ?) हो रही है, तभी तो 'जिधर तिधर' चली जाती है, बेचारीको सूझता नहीं कि किधर जाना है ! उसके (प्रियाके ?) शरीरमें 'केसरका नीर' वारिधिजीने अपनी ओरसे लगा दिया ! जिससे वह जिधर तिधर 'केशरका नीर' कर रही है !!! वहाँ (४६० दो०की टीकामें) तो श्रीमान्ने जमनाके नीले जलपर नीले आँचलका तम्बू ताना था, यहाँ प्रियाके केशर-कान्ति गौर शरीरपर, 'केशरका नीर' लपेटकर "जिधर तिधर केशरका नीर' करा दिया ! इतनेपर भी यदि 'रसीली' सतसई 'अति ललित मधुर मुग्ध' अलंकारोंसे "सर्वाङ्गभूषित" होकर घर घर न विराजे तो वारिधिजीका क्या अपराध !

उक्त दोहेकी लालचन्द्रिका—

"सखी का वचन सखी से। मारके गोता चली जाती है नायका तिधर, जिधर जलकेलि का अधीर नायक है। करती है कैसर का पानीसा तिधर तालावके पानीको। यमक और धर्मलुप्तोपमालङ्कार। केसर केसर, यमक। केसर-नीर, उपमान, सरनीर उपमेय, से वाचक। रंग धर्म नहीं, ।" (डा० ग्रियर्सन-सम्पादित लालचन्द्रिका)

हरिप्रकाश, विहारीविहार, तथा 'अनवरचन्द्रिका' इत्यादि पुस्तकोंमें उक्त दोहेका पाठ इस प्रकार है—

"लै चुभकी चलि जाति जित जित जलकेलि अधीर।
कीजत केसरनीरसे तित तितके सरनीर।"

इस दशामें यह अर्थ होगा—

जल-विहारमें चञ्चल नायिका, चुभकी=डुबकी (गोता) मारकर, जहाँ जहाँ चली जाती है, वहीं वहींके, सर=ताला-

बके जलको अपनी अङ्गकान्तिसे केशरके नीरके तुल्य बना देती है।

जलमग्न नायिकाके शरीरकी कान्तिसे सर-नीर, केशर-जलके तुल्य प्रतीत होने लगता है, कान्ति-छटाको जल छिपा नहीं सकता, वह उससे रँगा जाकर केशरके पानी सरीखा दीखने लगता है! जलकी स्वच्छता और उससे कहीं अधिक, शरीर-कान्ति प्रशंसनीय है!!

विहारीलालजीके मतमें तो नायिकाके शरीरकी कान्तिसे तालाबका पानी केसर रंगका प्रतीत होता है और श्रीमान् वारिधिजी उसे "शरीरमें लिपटी हुई केसर" छुड़ाकर रँग रहे हैं!! दोनोंमें कितना सादृश्य है! कैसी अच्छी टीका है! क्या विचित्र भाव है! सहृदय काव्यज्ञ विचारें कि विद्या-वारिधिजीके इस अर्थकी विद्यमानतामें भी क्या यह दोहा, विहारीका दोहा कहला सकता है? और इसे इस दशामें काव्य कह सकते हैं!!!

× × ×

२७–बैठि रही अति सघनवन, पैठि सदन मन माँहि।
निरखि दुपहरी जेठकी, छाँहौं चाहत छाँहि ॥ ५७० ॥

"अतिघने वनमें, अथवा मनरूपी घरमें बैठ रहीं जेठकी दुपहरी देखकर छांह भी छाँह चाहती है वृक्षके नीचे छाँह मानों दुपहरी देखकर आती है आशय यह कि, ज्येष्ठमें सघनवन या मनके भीतरही छाँह मिल सकती है "हेतूत्प्रेक्षा" (पृ० १८६)

श्रीमान् विद्यावारिधिजीके यहाँ तन और मनमें कोई भेद नहीं, वह इन दोनोंको एकही समझते हैं। मनका तन,

और तनका मन, कर देना, आपके बायें हाथका काम है। "'चितवन भोरे भायकी" इत्यादि, ३१२ दोहेकी टीकामें "यह बात नित्य मेरे शरीरमें आनकर खटकती है" लिखकर आपने 'चित्त'का अर्थ 'शरीर' बतलाया है, और यहाँ "बैठि सदन मनमाहि"को "........मन माहिँ" बनाकर मनरूपी घरमें बैठ रहीं" फ़र्मा दिया! न जाने ये कौन हैं, जो मनरूपी घरमें बैठ रहीं? इन्हें क्या कहीं और बैठनेको जगह नहीं मिली? और आशय तो आप ऐसा खोलते हैं कि 'बावन तोले पाव रत्ती'! देखिये न क्या अच्छा आशय है—"आशय यह कि, ज्येष्ठमें सघन बन या मनके भीतर ही छाँह मिल सकती है"—

क्यों महाराज! ज्येष्ठमें और कहीं छाँह नहीं मिल सकती! तहख़ानों, पटे हुए मकानों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें भी नहीं मिल सकती! और तो ख़ैर जो है सो है ही, पर यह "मनके भीतर ही छाँह मिल सकती है" किस सायंस या फ़िलासफ़ीमें लिखा है! छाँहने भी चलते चलते क्या जगह ढूंढी है! सब स्थानोंको छोड़कर छाँह भी मनमें ही रहने लगी!

हर्ष, शोक, चिन्ता, इत्यादि तो मनमें रहते ही थे, अब छाँह भी वहीं पहुँच गयी! अच्छा ही हुआ, श्रीमान् वारिधिजीके आशयानुसार, अब ज्येष्ठके महीनेमें किसीके भी मनमें सन्ताप न रहना चाहिए! छायाके नीचे सन्तापका क्या काम? यदि आपकी टीकाके प्रसादसे वर्षभरमें एक महीना भी,शोक, चिन्तादिके सन्तापसे लोगोंके मन बचे रहें तो इसे परमलाभ ही समझना चाहिए! उक्त दोहेका भाव यह है कि—

ज्येष्ठ मासकी जलती हुई दुपहरी(मध्याह्न)से घबराकर छाँह भी मानो छाँह चाहती है! इसीलिए वह अत्यन्त सघन

बनमें छिपती है, और मकानोंके अन्दर घुसती है, शरीरके तले आश्रय ढूँढती है। मध्याह्नके समय शरीरकी छाया पैरोंपर आ जाती है। जब घबराकर स्वयं छाया भी छायाको ढूंढने लगे तो उस गरमीका क्या ठिकाना है! कैसा अद्भुत वर्णन है! उत्प्रेक्षामें क्या ही अच्छी अत्युक्ति है!!

"सदन-तन माहिं"का अर्थ श्रीलल्लूलालजीने "शरीर-रूपी घरमें" किया है, और हरिकविने "सदन = घरमें और तन = शरीरमें" इस प्रकार पृथक् किया है।

अनवरचन्द्रिका, हरिप्रकाश, विहारीविहार, कृष्णकवि-की टीका, शृङ्गारसप्तशती, और लालचन्द्रिका, इन सब पुस्तकोंमें "सदन-तनमाहि" यही पाठ है, केवल "रसचन्द्रिका"-में "सदन मन माह" ऐसा पाठ है, पर वहाँ भी मनका अर्थ (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक) "मानो" करके "हेतूत्प्रेक्षालङ्कार" माना है। "मन रूपी घरमें" यह महाविचित्र अर्थ तथा "·········ज्येष्ठमें·········मनके भीतरही छाँह मिल सकती है—" ऐसा अलौकिक आशय 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' विद्या-वारिधीजीके सिवा और कौन बतला सकता है! पाठकोंको याद होगा "मनु ससिसेखरकी अकस" दोहेकी टीकामें भी विद्यावारिधिजीने "मनु"का अर्थ शिवजीका "मन" किया है, इस "मनु" शब्दने तो मानों विद्यावारिधिजीको धोखा देनेका ठेका ले लिया है!

विद्यावारिधिजी! आपने तो भूमिकामें घोषणा की है कि "आज़मशाही संग्रहके अनुरूप लल्लूलालजी संगृहीत दोहों-का अनुसरण करके इस टीकेको निर्माण किया है"—

फिरआपके टीकास्थ मूलपाठमें यह कमबख़्त मन 'छलावा' बनकर आपको छलनेके लिए कहाँसे आ कूदा? "लालचन्द्रि-

का"में तो "सदन तन माहिं" यही पाठ है न? क्यों महाराज !

× × ×

२८–हट न हठीली कर सकै, इहि पावस ऋतु पाय ।
आन गाँठि छुटि-जाय त्यों, मान गाँठि छुटि जाय ॥५७४॥

"इस पावस ऋतुको प्राप्त करके, हठीली हठ नहीं कर सकती। पावस(वर्षा)को पाकर जैसे और गाँठ छुट जाती है इसी प्रकार मान गाँठ भी छुट जाती है "विभावनालङ्कार" (पृ० १८७)

विद्यावारिधिजीके हक़में यह अच्छा होता कि वह अलङ्कार-निर्देशकी नक़ल न करते। उस दशामें उनकी बहुतसी पोल छिपी रहती, अब उन्हें दो फ़रियादियोंसे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो रहा है, एक चुप रहता है, तो दूसरा बोल उठता है, और दूसरा ख़ामोश रहता है तो पहला चुग़ली कर देता है ! "जो चुप रहेगी ज़बाने-ख़न्जर तो ख़ूं पुकारेगा आस्तीं का''— फ़ारसीमें एक कहावत है जिसका आशय यह है—"गवैया कुछ और गाता है और सारंगी कुछ और बोलती है" इसी प्रकार हमारे वारिधिजी महाराज अर्थ कुछ करते हैं और अलङ्कार कुछ लिख देते हैं ! जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य, किसीके अलङ्कार(आभूषण) बलात् छीन ले, या मालिककी अनुपस्थितिमें चुरा ले, तो वह उन भूषणोंका मूल्य या प्राप्ति-स्थान नहीं बतला सकता, और यदि वह अपहर्त्ता नितान्त अनभिज्ञ हो तो किस अलङ्कारको कहाँ धारण करना चाहिए, अमुक अलङ्कारका क्या नाम है, यह भी नहीं जान सकता। इसीप्रकार बिना सोचे समझे नक़ल करनेवाले, लेभगू टीकाकार या ग्रन्थकार लोगोंकी भी दशा है। कहा तो करते

हैं कि "नक़ल करनेमें अक़िलकी ज़रूरत नहीं," पर वारिधि-जीने अपने दृष्टान्तसे सिद्ध कर दिया है कि नक़ल करनेके लिए बड़ी अक़िल चाहिए, अन्यथा बिना सोचे समझे अन्धाधुंध नक़ल करनेवालोंकी यही दशा होती है जो हमारे 'अति ललित मधुर मुग्ध' टीकाकारकी यत्र तत्र हो रही है! पाठ बदल गया, अर्थका अनर्थ हो गया, जिसके गलेमें वह अलङ्कार पड़ा था, वह (कविता) जल भुनकर राख हो गयी, पर अलङ्कार ज्योंका त्यों बना हुआ है! उसे ज़रा भी आँच नहीं आयी! न वह टूटा न फूटा, न गला न पिघला! लड़का मर गया, पर बावाजीका गंडा नहीं टूटा!! इस अच्छेद्य, अभेद्य, अविकार्य, अलौकिक अलङ्कारको शतवार धन्य है! और इसे कविताकी चितासे निकालकर पबलिकमें पेश करनेवाले टीकाकार साहबकी हिम्मतको हज़ार बार आफ़रीं (धन्य) है!!

हा ! वज्रमयि विभावने ! टीकाचितायामनर्थाग्निना भस्मीभूय नामशेषतामुपगतायां स्वाधारभूतायां कविता-कामिन्यां, कथं त्वमपि तया सह तत्रैव त्रपुविलायं न विलीना ! तादृश-प्रियजनविरहिता त्वं मुखमुपदर्शयन्ती किं न जिह्रेषि ! एवं गतेपि जीवन्तीं त्वां करुणा लज्जा वा न विरुणद्धि ! जडहृदये ! क्वनु तादृशं कान्तिकमनीयं स्वाधारभूतं कण्ठमपरत्र प्राप्स्यसि ! धिक्ते प्रियवियुक्ताया जिजीविषाम् !

अयि विद्यावारिधिमहाशय ! तिष्ठत्वचेतना वराकी विभा-वना, भवान् हि 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि'रपि भूत्वा कथं नाम नाशङ्कते विलज्जते वाऽसदृशं समाचरन् ! एष हि क्षते क्षारनिक्षेपो

यत्परलोकमुपगतंस्य *प्रियजनस्यालंकारादिकं प्रदर्श्य शोकोद्दी-पनं नाम* !!

सहृदय पाठकगण ! उस स्वर्गीय दोहेका पाठ और अर्थ इस प्रकार था—

"हठ न हठीली करिसकैं, इहिं पावस ऋतु पाय।
आन गाँठि घुटि जाय त्यौं, मान गाँठि छुटि जाय ॥"

"सखीका बचन मानवती नायकासे, कै कविकी उक्ति। हे हठीली स्त्री, हठ नहीं कर सकती, कै हठीली नायका हठ नहीं कर सकती, यह पावसकी ऋतु पाकर। ज्यों और गाँठ घुट जाय है, त्यौं मान गाँठ छुट जाती है पावसमें। विभावना-लङ्कार। विरुद्धसे काज। घुटनेके कारणसे गाँठ छुटना काज हुआ ॥"   (लालचन्द्रिका)

"हठ न इति। मानिनो सौं सखी वचन—

हठीली जे है नायिका सो हठ नहीं कर सकती है, नायक सौं, यह नवजोबन है और पावस वर्षा ऋतु है ता कौं पाय कैं, वर्षामें ज्यों = जैसे आन गाँठि = सनकी मूँजकी, सो घुटि जाति है = घुर जाति है, गाढ़ी होय जाती है, मानकी जो गाँठि है दृढ़ता सो छूटि जात है। हठीली हठ नहीं करती है, ता कौ पुष्ट कियौ, पावस ऋतु उद्दीपन सौं। काव्यलिङ्ग।"
                                  (हरिप्रकाश)

अभिप्राय यह है कि कामोद्दीपन वर्षाऋतुमें मानिनी नायिकाकी मान-ग्रन्थि कायम नहीं रह सकती, वर्षामें सन या मूँजकी रस्सीकी गाँठ जैसे कड़ी पड़ जाती है, वैसे ही हठीलीकी मान गाँठ ढीली पड़ जाती है, खुल जाती है। गाँठको

कड़ा करनेवाले वर्षारूपी कारणसे गाँठका ढीला-पड़ना-रूप-विरुद्ध कार्य्य हुआ, इसलिए—

"विरुद्धात्कार्य्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना।
शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त सन्तापयन्ति ताम् ॥"
"काहू कारन तें जबैं, कारज होहि विरुद्ध।
करत मोहि सन्ताप यह सखी! शीतकर शुद्ध ॥"

इस 'कुवलयानन्द" और "भाषाभूषण'के लक्ष्य लक्षणानुसार यहाँ पाँचवीं 'विभावना' है।

विद्यावारिधिजीका न जानें कौनसा निराला अलङ्कार-शास्त्र है, जो "...........जैसे और गाँठ छुट जाती है इसी प्रकार मान-गाँठ भी छुट जाती है" इस दशामें भी "विभावना" बतला रहे हैं!

अस्यां पुनर्दशायां नापि विभावना,
न चेदं काव्य, उन्मत्तप्रलापोयम् !!!

× × ×

२९—कियौ सबै जग कामवश, जीते सबै अजेय।
कुसुमशराहिं शर धनुषकर, अघहन गहन न देय ॥५८१

"जिसने सब जगत्को कामके आधीन किया सब अजेयोंको जीत लिया अगहनका महीना उसी कामदेवको धनुष बाण हाथमें धारण करने नहीं देता अर्थात् जाड़ेसे उसके हाथ पैर भी सुकड़ते हैं "अभिप्राय विशेष" (पृ० १८६)

न जाने किस मुहूर्त्त और किस अवस्थामें बैठे हुए श्रीमान् 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' यह अपूर्व टीका लिख रहे हैं! टीका लिख रहे हैं या बेगार टाल रहे हैं! कोई भी स्वस्थ = प्रकृतिस्थ और समझदार आदमी, जिसमें ज़रा भी सहृदयता होगी,

ऐसी असम्बद्ध और बेसिर-पैरकी बातें लिखकर उपहास-पात्र बननेकी चेष्टा न करेगा! फिर पद पदपर ऐसी ऐसी भारी भूलें करनेवाला मनुष्य "विद्यावारिधि" और 'विद्वद्वृन्द-शिरोमणि" किधरसे और कैसे हो सकता है, यह रहस्य बार बार सोचनेपर भी हमारी समझमें नहीं आता! कोई सज्जन समझा दें तो बड़ी ही कृपा हो!

"जिसने सब जगत्को कामके आधीन किया,.........
..."अगहनका महीना उसी कामदेवको"........यह क्या गोरखधन्धा है! 'जिसने' किसने? क्या कामदेवने? बहुत अच्छा, "सब जगत्को कामके आधीन किया" जो किया खूब किया। हाँ, तो क्या यह 'अगहनका महीना' 'उसी कामदेवको' 'जिसने सब जगत्को कामके आधीन किया था' धनुषबाण धारण नहीं करने देता! क्यों नहीं धारण करने देता! आपने मालूम भी किया? यदि यह काम (जिसके आधीन सब जगत्को किया है) कामदेवसे भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति है, तब तो अगहन अच्छा नहीं करता कि ऐसे स्वार्थ-निरपेक्ष, परोपकारी, विजयी, योद्धाके कार्यमें विघ्न डालता है, उसके हथियार छीनता है, जिसने सब जगत्को जीत-कर भी दूसरे व्यक्ति—कामके अधीन कर दिया है, अपने पास कुछ नहीं रक्खा! और यदि 'काम' और 'कामदेव' दोनों एक ही व्यक्तिके नाम हैं, और वह नेपोलियनकी तरह जातीय साम्राज्य स्थापित करनेकी आड़में सब कुछ अपने ही अधीन करके स्वार्थसिद्धि करना चाहता है तो अगहन-रूपी नैलसनने अच्छा ही किया कि ऐसे स्वार्थपरायण शान्तिभङ्गकारक उपद्रवीको कुण्ठितशक्ति करके, हाथ पैर सुकोड़कर एक कोनेमें बिठला दिया!

टीकाके अन्तमें अलंकारके स्थानपर वारिधिजी लिखते हैं "अभिप्रायविशेष" (?) यह "अभिप्रायविशेष' क्या है? इसे आपने अलंकारके स्थानपर लिखा है, पर साहित्यग्रन्थोंमें बहुत ढूँढनेपर भी इस नामका कोई अलङ्कार नहीं मिलता, किसी ग्रन्थमें हो तो वारिधिजी पता दें! क्या इस दोहेका जो अभिप्राय आपने टीकामें लिखा है, उससे भी कोई और विशेष गूढ़ अभिप्राय है! जिसे आप 'सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट (?) करना" नहीं चाहते? कोई ऐसीही ख़ास बात मालूम होती है, तभी तो आपने "अभिप्रायविशेष" लिखा है? यदि कोई विशेष रहस्य और गोपनीय बात न हो तो बतला दीजिये, क्योंकि किसी अवश्यज्ञातव्य विषयको अपने पाठकोंसे छिपाना, टीकाकारके धर्मके विरुद्ध है, और फिर आपने तो ख़ासतौरपर 'कविवरका आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट कराने'की इच्छासे इस "अति ललित मधुर मुग्ध" टीकाको लिखा है! ऐसी दशामें आपको यह "अभिप्रायविशेष" कदापि नहीं छिपाना चाहिए! अस्तु, आपने तो इस "अभिप्राय विशेष"को सर्वसाधारणसे, बड़ी हिकमतके साथ छिपाया ही है, पर 'ताड़ जाते हैं ताड़नेवाले' हमने भी इस रहस्यको खोज ही निकाला, इसकी तहतक पहुंच ही गये! लीजिये, सुनिये और सच बतलाइये कि हम इस "अभिप्राय विशेष"के खोलनेमें समर्थ हो सके हैं या नहीं! विद्यावारिधि जी! आप तो 'अपने बछड़ेके दाँत' पहचानते ही हैं! पाठकवृन्द! लल्लूलालजीने अपनी टीकामें, सुरतिमिश्रकी "अमरचन्द्रिका"से प्रश्नोत्तरके और अलङ्कारके दोहे यत्र तत्र उद्धृत किये हैं, विद्यावारिधिजीने अलङ्कारोंके नाम तो वहाँसे नक़ल किये ही हैं (यद्यपि आपने इस बातको कहीं स्वीकार

नहीं किया) पर कहीं कहीं अपनी टीकामें उन प्रश्नोत्तर और अलङ्कारोंके दोहोंका भाव लानेकी भी आपने कोशिश की है, और जहाँ जहाँ ऐसा साहस किया है वहीं वहीं अजीब अजीब गुल खिलाये हैं! जिससे आपकी टीका "केसरकी क्यारी" बन गयी है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए हम उक्त दोहेकी लालचन्द्रिकाका अवतरण देते हैं—

"कियौ सबै जग काम बस जीते जिते अजेइ।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर अगहन गहन न देइ॥"

"सखीका वचन मानवतीसे। किया सब जगतको कामके बस औ जीते जितने अजीत थे तिन्हें, कामदेवको तीर कमान अगहनका जाड़ा पकड़ने नहीं देता।"

प्रश्न—दोहा—

"कही सीतकी प्रबलता गहि न सकै धनु काम।
तौ हेमन्तमें चाहिये, कामहीन जग धाम॥
यहाँ तो काम अधिक हि बढ़त, इक यह प्रश्न सुजान।
कियो जगत जो कामबस, तो अगहन प्रभुता न॥"

उत्तर—दोहा—

"जग करि दीनौ स्वामि बस, जीत अजित निज बास।
धनुषग्रहन श्रम देतु नहि, कामहि अगहन दास॥"

परिकराङ्कुरालङ्कार। दोहा—

"साभिप्राय विशेष जहँ परिकर-अंकुर गाय।
धनुष गहन वृत्तान्तमें अगहन साभिप्राय॥"

सुरतिमिश्रके इन दोहोंका भाव यह है—

प्रश्न—"यदि इस दोहे—(कियो सबै०)का यह अभिप्राय है कि शीतकी प्रबलतासे कामदेव, धनुष-बाण ग्रहण नहीं कर सकता, तब तो हेमन्तमें (जब शीतकी अत्यधिकता होती है)

संसार सर्वथा कामहीन होजाना चाहिए, क़ारण कि उस समय तो जाड़ेसे ठिठरकर कामदेव शस्त्र ग्रहण करनेमें बिलकुलही अशक्त होजायगा, पर होता इसके उलटा है, क्योंकि हेमन्तमें काम और भी बढ़ जाता है।"

द्वितीय प्रश्न—"और यह कि यदि 'जगत्को कामने वशमें कर लिया' यह कहें तो अगहनकी प्रभुता न रही, कामकी प्रभुता होगयी, और यहाँ वर्णन अगहनकी प्रभुताका है।"

उत्तर—सम्पूर्ण अजितोंको जीतकर, जगको अपने स्वामी कामके अधीन कर दिया, अगहनरूपी दासने (अपने स्वामी) कामको धनुषबाण ग्रहण करनेका कष्ट नहीं दिया!

तात्पर्य्य यह कि शीताधिक्यसे ठिठरकर कुण्ठितशक्ति हो काम धनुषबाण छोड़नेको विवश नहीं हुआ, किन्तु उसके सद्भृत्य (कामोद्दीपन होनेसे) अगहनने स्वयंही सब संसारको जीतकर कामके अधीन कर दिया! शूर सद्भृत्यकी उपस्थितिमें स्वामीको स्वयं रणमें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता नहीं होती, भृत्यही सब कुछ कर देता है, यह भाव। इस प्रकार दूसरे प्रश्नका भी उत्तर हो गया, अर्थात् जगको जीतनेसे अगहनहीकी प्रभुता रही।

विद्यावारिधिजीने जो........."अर्थात् जाड़ेसे उसके हाथ पैर भी सुकड़ते हैं" कहकर कामदेवके हाथ पैर सुकोड़े हैं, यह सुरतिमिश्रके अभिप्रायसे नितान्त प्रतिकूल और प्रकृतिविरुद्ध है, क्योंकि अगहनमें हाथ पैर सुकोड़नेवाला (प्रबल) जाड़ा नहीं पड़ता, शीतकी प्रधानताके लिए हेमन्त प्रसिद्ध है, परन्तु कामके हाथ पैर उसमें भी नहीं सुकड़ते, प्रत्युत उस समय उनमें और सक्षमता और कर्मण्यता आ

जाती है, और वे इन दिनों अधिक बलसे अपना काम करने लगते हैं, जैसा कि सुरतिमिश्र ऊपर कहते हैं।

अब रह गया, वारिधिजीका 'अभिप्राय-विशेष' उसके लिए सुरतिमिश्रका 'परिकराङ्कुरालङ्कार'के लक्षणवाला दोहा, ऊपर देखिये, जिसका भाव यह है कि जहाँ विशेष्य साभिप्राय हो वहाँ "परिकराङ्कुर" * होता है। जैसे यहाँ धनुष ग्रहण न करने देनेके वृत्तान्तमें अगहन=(विशेष्यशब्द) साभिप्राय है, अर्थात् अगहन शब्द "ग्रहण न करने देनेकी शक्ति रखनेवाला" यह अभिप्राय लिये हुए है।

बस इसी 'परिकराङ्कुरालङ्कार'के लक्षणवाले दोहेके पूर्वार्द्धके प्रथम पाद—"साभिप्राय विशेष [ष्य] जहँ"को 'विद्वद्-वृन्दशिरोमणि' 'विद्यवारिधि'जीने अलङ्कारका नाम समझकर, अलङ्कारके स्थानपर "अभिप्राय विशेष" लिख दिया है!!!

यदि इसके अतिरिक्त अपने उपर्युक्त वाक्यका कोई और अर्थ वारिधिजी बतला दें, तो उनसे पूछ देखिये, हमारा दावा है कि इसके विरुद्ध वारिधिजी कुछ भी नहीं बतला सकेंगे, यदि वह बतला दें तो हम अपनी समालोचना वापस लेनेको तयार हैं!

---

* "साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥"
(कुवलयानन्द)

"साभिप्राय विशेष्य जब परिकर-अङ्कुर नाम।
सूधे हू पियके कहे नेक न मानति वाम"
(भाषाभूषण)

हम नहीं समझते कि जो आदमी जिस बातको बिलकुल ही नहीं जानता, वह उसमें टाँग क्यों अड़ाता है! इतना तो वारिधिजी जानते ही होंगे कि वह अलङ्कारके विषयमें सर्वथा वैदेशिक और अपरिचित हैं, फिर इस गहनवनमें भटकनेकी क्या ज़रूरत थी!

"अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः"

× × ×

३०—आवत जात न जानियत तेजहि तजि सियरान ।

घरहि जमाइ लौं घस्यो, खस्यो पूष दिनमान ॥५८२॥

"आते और जाते जाना नहीं जाता तेजको त्याग कर शीतल हो गया है घरमें जमाईकी सम घुसा हुआ पूषका दिन खसकता है आशय यह ससुरालमें जमाई भी सकुचवश शीतल हुआ रहता है। 'पूर्णोपमा' ॥" (पृ० १६०)

वाह महाराज! 'घस्यो खस्यो'की जुगल जोड़ी बनी रहे! खूब मिली है! यह आपने कहाँसे मँगायी है? आपकी आदर्श 'लालचन्द्रिका'में तो यह है नहीं, और न, हरिप्रकाश, विहारी-विहार, अनवरचन्द्रिका, रसचन्द्रिका, शृङ्गारसप्तशती, और कृष्णदत्तकी टीकामें इस जोड़ीका कहीं पता है! न मालूम आपके हाथ कहाँसे लग गयी! 'पूषके दिनमान'को खूब 'जमाईके सम (?) घरमें घुसाकर' खसकाया है! क्या पूषका दिनमान, और जमाई, ये दोनों घरमें ही घुसे रहते हैं! बाहर नहीं निकलते? सम्भव है कोई घरघुसना, मिहिला (स्त्रैण) जमाई घरमें ही घुसा रहता हो, पर पूषका दिनमान तो खुले मैदान सबके सामने रहता है? इस वर्ष पौषके दिनोंमें किसीको साथ लेकर (यह इसलिए कि कदाचित् वह आप-

की आँखोंसे ही ओझल रहता हो !) आप इसकी अच्छी तरह परीक्षा कर देखिये 'पूषका दिनमान' आपको बाज़ारों और जङ्गलोंमें भी स्वच्छन्दतासे विचरता हुआ दिखलायी देगा, चाहे आप रामगङ्गाके पार पूर्वकी ओर चले जाइये, या नार्मल स्कूलसे उधर पश्चिमकी ओर, सूर्योदयसे सूर्यास्त-तक, जिस समय देखियेगा, 'पौषके दिनमान'को अवश्य उपस्थित पाइयेगा ! जितनी देर भी वह रहेगा, सबके सामने, बराबर अपनी ड्यूटीपर रहेगा, कभी मुँह छिपाकर घरमें न लुकेगा !

हाँ, ज़रा आशय तो सुनाइए, "आशय यह ससुरालमें जमाई भी सकुचवश शीतल हुआ रहता है"— तो क्या यह दोहा ससुरालमें गये हुए जमाईकी 'सकुचवश शीतलता' (?)-का वर्णन करनेके आशयसे ही विहारीने लिखा है ! अन्य टीकाकारोंने और स्वयं आपने भी इसे 'हेमन्तवर्णन'के प्रकरणमें लिखा है, और इसमेंसे आशय आपने सिर्फ "घरमें घुसा हुआ 'जमाई' निकाला ! क्या 'घरमें घुसे हुए जमाई'-में यह 'सकुचवश-शीतलता ! केवल हेमन्तमें ही आती है ? अन्य ऋतुओंमें वह खूब धृष्ट बना हुआ, सबके सामने इधर उधर घूमता है ?

और 'सकुचवश शीतलता'की भी आपने एक ही कही ! एक कवि तो कहता है—

"सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते ।
कन्या-राशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः ॥"

सहृदयगण ! दोहेका शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

आवत जात न जानिये तजि तेजहिं सियरान ।
घर हि जमाई लौं घट्यौ खरौ पूस दिन मान ॥"

इसका भावार्थ—

घरजमाई कहते हैं ख़ानादामादको अर्थात् 'पुत्रिका'का पति। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार घरजमाईका मान (प्रतिष्ठा) ससुरालमें निरन्तर रहनेसे—

"अतिपरिचयादवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति"

घट जाता है, उसका तेज—रोबदाब, मन्द पड़ जाता है, मामूली बात होनेके कारण उसका आना जाना किसीको मालूम नहीं पड़ता, वह कब आया और कब गया, इसपर कोई विशेष ध्यान नहीं देता, इसी प्रकार पौषका दिनमान घट जाता है, पौष (हेमन्त)में दिन बहुत छोटा हो जाता है, उसमें तेज (उष्णता) नहीं रह जाती, ठंडा हो जाता है।

तथा मानिनी जनोंका मान—रूठना भी उन दिनों चिरस्थायी नहीं रहता। यहाँ मान शब्द श्लिष्ट है, अतएव "पूर्णोपमा"के अतिरिक्त "श्लेषालङ्कार" भी है। हेमन्तवर्णनमें एक संस्कृत कविका यह श्लोक है, उसमें पौषके दिनमानकी क्षीणता कैसी विलक्षण उपमाओं द्वारा द्योतित की है—

"लज्जा प्रौढमृगीदृशामिव नवस्त्रीणां रतेच्छा इव
स्वैरिण्या नियमा इव स्मितरुचः कुल्याङ्गनानामिव।
दम्पत्योः कलहा इव प्रणयिता वाराङ्गनानामिव
प्रादुर्भूय तिरोभवन्ति सहसा हैमन्तिका वासराः॥"

× × ×

३१—नाह गरज नाहर गरज, बचन सुनायौ टेरि।
फँसी फौज बिच बन्दिमें, हँसी सबनि मुख हेरि॥६५१॥

'रुक्मिणी-हरणका समय, मत्तसिंहकी गरजसे गरजे और सबको पुकारकर यह वचन सुनाया, विरोधियोंकी सेनाकी बंदिमें फँसी, और सब राक्षसोंका मुख देख हँसी' (पृ० २१४)

"रुक्मिणीहरणका समय" यह तो ठीक, इससे आगे मत्तसिंहकी गरजसे लेकर "........मुख देख हँसी"तककी इबारतका क्या मतलब है ? "और सबको पुकारकर यह वचन सुनाया" क्यों सुनाया ! कुछ प्रयोजन भी है ! सुनिये, वचन भी क्या अच्छा सुनाया, न सुना होगा किसीने ! "विरोधियोंकी सेनाकी बंदि (?) में फँसी, और सब राक्षसोंका मुख देख हँसी" न जाने यह किसने सुनाया, किसे सुनाया, क्या सुनाया और क्यों सुनाया ! यह कौन 'फँसी' और कौन हँसी, और क्यों हँसी ? विद्यावारिधिजीही जानते हों तो जानते हों ! 'नीलदेवी'के 'वसन्त'की बातें तो समझमें आ जाती हैं, पर यह 'अति ललित, मुग्ध, मधुर' अर्थ नहीं समझा जाता !

कोई वीरवधू नायिका, शत्रुओंकी फ़ौजमें क़ैद हुई बैठी है, कि इतनेमें उसके पतिने दूरसे सिंहध्वनिसे गरजकर, शब्द सुनाया, अपने आनेकी सूचना दी । सुनते ही नायिका सबकी ओर देखकर अवज्ञापूर्वक हँसी, अर्थात् अब तुम्हारी बहादुरी देखी जायगी, अपने कियेका फल पानेको तैयार हो जाओ, तुम सबको पछाड़कर मेरा स्वामी अब मुझे छुड़ाये लिये जाता है ।

यह इस दोहेका भाव है । जयद्रथद्वारा द्रौपदीहरण या श्रीकृष्णद्वारा रुक्मिणीहरणपर भी इसे समझ सकते हैं ।

श्रीसातवाहनकी 'गाथासप्तशती"में भी इस अर्थकी कई आर्या हैं, उनमेंसे एक इस दोहेके भावसे मिलती यह है—

वज्जपडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसम् ।
पुसिआइं करमरिएँ सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ॥१।५४

("वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम् ।
प्रोञ्छितानि बन्द्या सदृशबन्दीनामपि नयनानि ")

× × ×

३२–*यमकरि मुँह तरहर पर्‌यो, यह घर हर चितलाय ।*

विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरिके गुण गाय ॥६६७॥

"यमरूपी हाथी नीचा मुख किये तले पड़ा है; यह मनमें धारण कर हरिमें चित्त लगा विषय-रूपी तृष्णाको अब भी छोड़ कर नृसिंहजीके गुण गान कर "परिसंख्या "। (पृष्ठ २१६)

बस अब और क्या चाहिए ! "यमरूपी हाथी नीचा मुख किये तले पड़ा ही है" ! सवार हो लीजिये ! बेड़ा पार है ! इस खुशीमें नरसिंहजीका जितना गुणगान किया जाय, थोड़ा है ! यमरूपी हाथीपर चढ़कर भी यदि विषयरूपी तृष्णा शान्त न हो तो आश्चर्य है !

वाह विद्यावारिधिजी महाराज ! धन्य है आपकी अद्भुत शक्तिको ! आपकी अनर्थ-ज्वालासे जलकर यमरूपी हाथी भी नीचा मुख करके तले आ पड़ा ! आपके लेखनीरूपी अंकुशके एक ही वारने यमरूपी हाथीका काम तमाम कर दिया ! यम जैसे जगद्विजयी दुर्दम वीरको, जिसके प्रबल आतङ्कसे सारा संसार काँपता है, इस फुरतीसे औंधे मुँह पटक देना, सिर्फ़ आपहीका काम था ! आपकी इस मल्लविद्याने जापानी 'जुजुत्सु'को भी मात कर दिया ! क्यों न हो, आप आप ही हैं ! जिसप्रकार किसी प्रबलशत्रुको पछाड़कर विजय-विह्वल आदमीकी जुबानसे हर्षजड़ताके कारण कुछ बेजोड़ वाक्य निकल जाते हैं, वही दशा यमविजयी वारिधिजीकी हो गयी है, जो उनके इन असम्बद्ध वाक्योंसे प्रकट होती है—"यह मनमें धारणकर, हरिमें चित्त लगा, विषयरूपी तृष्णाको

अब भी छोड़कर नृसिंहजीके गुण गान कर ! "परिसंख्या"।

दोहेका अर्थ—

शान्तरस—निर्वेद स्थायी भावका वर्णन, विषयासक्त संसारीको चेतावनी। "यमरूपी हाथीके मुखके नीचे मैं पड़ा हूं, यह बात मनमें समझकर, हरिमें चित्त लगा, उसका ध्यान धर, अब भी विषयतृष्णाको छोड़कर नरहरिके (नृसिंहके) गुण गा। यमरूप प्रबल हाथीकी दाढ़से नरसिंहजी ही छुड़ा सकते हैं ! यम करी—रूपक। नरहरि—(साभिप्राय विशेष्य होनेसे) परिकरांकुर, और 'परिसंख्यालङ्कार'की संसृष्टि' है।

सतसईमें चिड़ियाघर !!!

पाठकवृन्द ! आपमेंसे बहुतसे सज्जनोंने जयपुर और लाहौर आदिके चिड़ियाघर तो देखे ही होंगे, पर हमारे अनुरोधसे ज़रा वारिधिजीका 'चिड़ियाख़ाना' भी देख लीजिये, उसमें भाँति भाँतिके जानवरोंकी बोली सुनकर आप बहुत प्रसन्न होंगे। आप देखेंगे कि वहाँ पशु-पक्षियोंके साथ तरुवर (वृक्ष) भी बोल रहे हैं !

"काकूक्ति"को 'काकोक्ति' (?) लिखकर तो विद्यावारिधिजीने जहाँ तहाँ विहारीकी कवितापर कव्वे बुलाये ही हैं, इसके लिए तो शायद उनकी ओरसे यह कहा जाय कि आदर्श पुस्तकसे नक़ल करते वक्त जैसा वहाँ देखा, लिख दिया, हमारी जाने बला, कि 'काकोक्ति' ठीक है या 'काकूक्ति' पुराने लेखकोंके सम्प्रदायका एक प्रसिद्ध श्लोक है, जो प्रायः पुरानी हस्तलिखित पोथियोंकी समाप्तिपर लिखा रहता है—

"यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मयि दोषो न विद्यते ॥"

यद्यपि ऐसा कहकर विद्यावारिधिजी, पीछा नहीं छुड़ा सकते, क्योंकि वह कोई साधारण समझके, मक्खीकी जगह मक्खी मारनेवाले, और ट्रू कापी करनेहारे पुस्तकलेखक नहीं हैं, किन्तु "अनेक सतसई सन्मुख रख कर, कविवर-का आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट (?) करानेके लिए अतिललित मधुर मुग्ध टीका बनानेवाले श्रीमान् 'विद्व-द्वृन्दशिरोमणि' साक्षात् 'विद्यावारिधि'" हैं। उनके लिए यह एक बड़ी ही लज्जाजनक बात है कि वह "काकूक्ति" और "काकोक्ति"में भेद न समझ सकें! परन्तु इससे भी अधिक चिड़ियाख़ाना खोलकर तो आपने अविवेक और अज्ञानकी 'हद्दपर गन्टू' रख दी है!

वाचकवृन्द! साहित्यमें एक अतिप्रसिद्ध "अन्योक्ति" अलङ्कार है, जिसका अभिप्राय है, किसीपर डालकर बात कहना। इसीका दूसरा नाम 'गूढ़ोक्ति" भी है—

"गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः" (कुवलयानन्द)

"गूढ़ौकति मिसि औरके कीजै परउपदेश।
कालिह सखी हौं जाऊँगी पूजन देव महेश॥"

(भाषाभूषण)

"विहारीसतसई"में भी इस अलङ्कारके उदाहरणस्वरूप कई दोहे हैं, जिन्हें लल्लूलालजीने (आज़मशाही क्रमके अनुसार) पृथक् "अन्योक्तिवर्णन"में लिखा है। यह प्रकरण (लाल-चन्द्रिकामें) ६१८ वें, दोहेसे प्रारम्भ होकर ६४६ वें दोहे पर समाप्त हुआ। उक्त प्रकरण बड़ाही मनोहर और नीति-मय तथा उपदेशपूर्ण है। उसेही वारिधिजीने 'चिड़ियाघर' बना दिया है!

इस स्थलमें कई जगहपर वारिधिजीने, न जाने किस तरङ्गमें आकर, अपने पाण्डित्यकी लीलाका वह विचित्र दृश्य दिखलाया है, जिसे देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है !

पाठकोंको याद होगा कि "छुटी न सिसुताकी झलक" इस दोहेमें "ताफता" जयपुरके बने एक वस्त्रविशेषका नाम आया है सो उक्त दोहेका अर्थ करते हुए वारिधिजीने लिखा है 'जयपुरी दृश्य" (?) यद्यपि उक्त दोहा बाला नायिकाकी वयःसन्धिवर्णनपरक है। यदि जयपुरके बने कपड़ेका नाम आ जानेसे ही वह दोहा 'जयपुरी दृश्य" बन गया, तो "मिलि बिहरत बिछुरत" इत्यादि (५८०) दोहेमें "जुराफा" आया है, जिसे आपने "ईरानका पक्षिविशेष", लिखा है, चाहिए था कि यहाँ भी आप "ईरानी दृश्य" (?) लिखते और सिर्फ एक यही क्यों 'सतसई'में जहाँ जहाँ, जिस जिस 'उपमान' पदार्थका नाम ('ताफता'की तरह) आया है वहाँ वहाँ वही दृश्य लिखना चाहिए। यथा—

"लाज लगाम न मान हीं नैना मो बस नाहिं।
यह मुँहजोर तुरङ्ग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं॥" (२७०)

इसे 'घुड़दौड़के मैदान'का दृश्य (?) लिखना चाहिए था !! जहाँ नेत्रोंको कमलसे उपमा दी है, वहाँ कमल खिले सरोवरका दृश्य, जहाँ मुखको चन्द्रमासे उपमा दी है, वहाँ चाँदनी रातका दृश्य' (?) विद्यावारिधिजीको, 'जयपुरी दृश्य' के समान लिखना चाहिए था ! अस्तु।

अब ज़रा 'चिड़ियाघर'की सैर कीजिये—

"दिन दस आदर पायकै करले आप बखान।
जौ लगि काग सराध पख तौ लगि तो सनमान॥"

इसपर टीका करते हुए श्रीमान् लिखते हैं—

"जो थोड़े दिनकी प्रभुतापर अभिमानमें फूल उठते हैं उनपर "काकोक्ति" (?) हे काक !.........................
इत्यादि, (पृ० २०६)

चूंकि इसमें काग शब्द आया था, इसलिये यह 'काकोक्ति' होगयी ! अब यह 'विहारीकी उक्ति' नहीं रही ! अर्थात् इस दोहेपर विहारीका अधिकार नहीं रहा। किन्तु काकका क़ब्ज़ा हो गया। यहाँ तो स्पष्ट ही 'काकस्य उक्ति—काकोक्ति' है। 'काकूक्ति'का अपभ्रंश नहीं ! क्योंकि इसीकी टीकामें आगे चलकर अन्तमें वारिधिजीने "अन्योक्ति" भी लिख दिया है।

इससे अगले दोहे—"स्वारथ सुकृत" में "बाज" शब्द आया है, पर वहाँ आपने "बाजोक्ति" नहीं लिखा, न जाने क्यों ! शायद प्रेसवालोंसे छूट गया। *

"मरत प्यास पिंजरा परयो, सुआ समयके फेर।
आदर दै दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥ ६३६ ॥"

इसका अर्थ करके अन्तमें लिखते हैं "शुकोक्ति" गुणीके सन्मुख निर्गुणी(?)के आदरमें !!!

और सुनिए—

"को छूट्यो इहिं जाल परि कत कुरङ्ग अकुलाय।
ज्यों ज्यों सुरझ भज्यो चहै, त्यों त्यों उरझयो जाय" ॥६३७॥

---

* "गोधन तू हरख्यो हिये घरि इक लेहु पुजाय"
दोहे (६२८) पर भी "पहाड़ोक्ति" (?) शायद प्रेसवालोंकी ही गल्तीसे छूट गया है, वारिधिजीने तो 'पहाड़ोक्ति' ज़रूर लिखा होगा !

इसका अर्थ लिखकर अन्तमें फ़रमाते हैं, "अपनी तृष्णा पूर्ण-कर विरक्त हो जायंगे उनसे "कुरङ्गोक्ति" है। इसमें जो रेखाङ्कित अलौकिक वाक्य है। उसका यहाँ क्या सम्बन्ध है कुछ समझमें नहीं आता!

इस सुप्रसिद्ध दोहेपर—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कलीहीतें बँध्यौ आगे कौन हवाल॥"

आपको "भ्रमरोक्ति" का भ्रम हुआ है!

अबतक खैर थी कि, आपने काक, शुक और भ्रमर इत्यादि चेतन जीवोंको ही बुलवाया था, अब ज़रा कान खोल-कर सुनिए, "वृक्ष" बोल रहा है—

"नहिं पावस ऋतुराज यह तज तरुवर मति भूल।
अपत भये बिन पाय है क्यों नव दल फल फूल॥"

"............अर्थात् राजसेवकके दुःखपर "तरुवरोक्ति"
(पृ० २०७)

वृक्षोंसे बातें कराना, आजतक किसीसे नहीं बन पड़ा था। विद्यावारिधिजीकी ही अलौकिक मायाका प्रताप है कि जड़ वृक्ष भी कविता कर रहे हैं! सुना है, हज़रत-मुहम्मद साहबने भी एकबार किसी वृक्षविशेषसे अपनी 'नबूवत'-पर गवाही दिलवायी थी। विद्यावारिधिजीने 'तरुवर'से कविता करा दी! उन्होंने 'शकुल्क़मर'का करश्मा दिखलाया था, वारिधिजीने 'सुधादीधिति'के टुकड़े किये हैं। वारि-धिजीको चाहिए कि इन दो मोज्जिज़ोंकी बिनापर वह भी 'नबूवत'का दावा कर दें!

× × ×

दोषज्ञ पाठकवृन्द ! विद्यावारिधिजीकी विद्याकी बानगीके नमूने दिखलाते दिखलाते, बहुत कुछ लिख गये, और अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, क्योंकि ये तो "वारिधि"के कुछ बिन्दु हैं, 'अजमेरकी बड़ी देग'के दो चार चावल हैं, सारा समुद्र और पूरी देग प्रायः ऐसेही बिन्दुओं और ऐसेही चावलोंसे लबालब भरे हुए हैं ! पर एक बिन्दुसे जलका स्वाद और एक तण्डुलसे देगकी दशा विदित हो जाती है, इसलिये इतना ही बहुत है।

"सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानां
ज्वालाप्रसाद-विवृताविह दूषणानाम् ।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
त्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि" ॥ *

विशेष वक्तव्य

प्रियपाठक वृन्द ! इस समालोचनाको प्रारम्भ करते समय, मुझे यह ध्यान नहीं था कि इतनी दूरतक इस काँटे-दार फुलवाड़ीमें उलझा रहना पड़ेगा ! मैं समझा था कि विहारीकी कविताके साथ जो अन्याय हुआ है. वारिधिजीने अपनी टीका द्वारा उसका जिस प्रकार 'संहार' किया है इसके दस बीस उदाहरण समझदार और सहृदय पब-लिकके सामने रखकर छुटकारा पा जाऊंगा, परन्तु ज्यों ज्यों मैं समालोचना शीघ्र समाप्त करके पीछा छुड़ानेकी

---

* "सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितान-
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम् ।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
त्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि" (पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः)

कोशिश करता गया, त्यों त्यों यह पुस्तक चिमटती गयी। जैसा कि प्रारम्भमें लिख चुका हूँ यह टीका सर्व-प्रकारके दोषोंसे "सर्वाङ्गभूषित है"। पुस्तकको जहाँसे देखिये, जो पृष्ठ लौटिये और जिस दोहेपर दृष्टि डालिये, वहीं वारिधिजीके जुल्मका सख्त शाकी है! ऐसी दशामें यह कठिन है कि कोई सचेता, दयार्द्रहृदय पुरुष, इस भयानक दुर्दशा और प्राण-संकटमें पड़ी हुई कविताके पाससे जल्दीसे निकल जाय, उसकी हालतपर आँसू बहाने और दुखड़ा रोनेके लिए कुछ समय चाहिए।

विद्यावारिधिजीकी इस टीकाको टीका न कहकर यदि विहारीकी कविताका "सूनागृह" (Slaughter-house) अथवा "सतसईकी श्मशानभूमि" कहा जाय तो ठीक है! कोई कड़ा जी करके देखे तो मालूम हो कि वारिधि-जीकी क़लमके करारे ज़ख्म खाकर कहीं विहारीकी कविता पड़ी सिसक रही है! कहीं दम तोड़ रही है! और कहीं अनर्थकी ज्वालासे जलकर बिलकुल भस्म हो गयी है!

मैं समझता हूँ, प्रत्येक सहृदय, कविताप्रेमी और हिन्दी-हितैषी सज्जनको, चाहे वह किसी विचार और मतका हो, एक 'अनधिकारी' पुरुष द्वारा सताई हुई कविताकी इस शोचनीय दशापर दुःख और शोक हुए बिना न रहेगा।

सर्वसाक्षी जगदन्तरात्मा इसका साक्षी है कि मैंने यह समालोचना किसी व्यक्तिगत द्वेष या मतभेदसे प्रेरित होकर नहीं लिखी, टीकाकारसे मेरा किसी प्रकारका वैर नहीं। दुःखिनी कविताकी दुर्दशापर मेरा हृदय पिघल गया, और बलात् यह सब कुछ लिखा गया—

"इस दिले बेताबकी साहब ख़ता थी मैं न था"

एक प्रार्थना वारिधिजीके क़दरदान और सतसईके प्रकाशक, श्रीमान् सकलगुणनिधान सेठ खेमराजजीसे है। यदि किसी व्यक्तिविशेषपर आपकी कृपादृष्टि है, आप उसे किसी प्रकारकी सहायता देना चाहते हैं, तो बड़ी अच्छी बात है, शौक़से ऐसा कीजिये, परन्तु 'सतसई' जैसी पुस्तककी दुर्दशा कराकर, ऐसे लोगोंसे इस प्रकारकी टीका लिखाकर उसके बंदलेमें जुर्मानेकी जगह इनाम और पुरस्कार देना, और भ्रष्ट पुस्तकोंका प्रचार करना, उपकारके रूपमें महापकार है! आप जैसे दानी और परोपकारी धर्मात्मासे पबलिक ऐसी आशा नहीं कर सकती।

यदि श्रीमान् सेठजी, सतसईकी बची हुई पुस्तकें "समुद्रसात्" कराकर अपने औचित्यपालनकी उदारता दिखला सकें तो विहारीलालकी आत्मापर, सतसईके प्रेमियों और हिन्दी-साहित्यपर आपका असीम उपकार हो, बड़ी दया हो।

इस भ्रष्ट पुस्तकको नष्ट करनेमें आपके अनुग्रहपात्र विद्यावारिधिजीकी तो किसी प्रकारकी हानि हो ही नहीं सकती; इसके लिए उन्हें जो कुछ मिलना था; मिल ही चुका; और आपको इस क्षुद्र पुस्तकके नाशसे हानि पहुँच ही क्या सकती है! जिस प्रकार समुद्रसे एक बिन्दु जल ले लेनेपर समुद्र सूख नहीं सकता; वैसे ही आपके सुबृहत् पुस्तक-भण्डारसे उठाकर इस दूषित पुस्तककी कुछ बची खुची प्रतियाँ समुद्रमें डाल देनेसे पुस्तकालय शून्य नहीं हो सकता! किन्तु आपके इस कृत्यसे अशुद्ध पुस्तकप्रकाशनरूप पापका प्रायश्चित्त और कविताप्रेमिमात्रका हृदय सन्तुष्ट हो सकता है।

ओम्—शमिति शान्तिः।

नामोंकी वर्णक्रम-सूची

जिनका उल्लेख इस ग्रन्थमें किसी प्रसङ्गमें हुआ है।

ग्रन्थोंकी वर्णक्रमसूची

नीचे उन ग्रन्थोंका पृष्ठांकसहित नामनिर्देश हुआ है जिनकी प्रसंगानुसार इस पुस्तकमें चर्चा हुई है, वा जिनसे कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं।